श्रीमती मेनका गांधी

बनाम

भारत संघ और एक अन्य

(Smt. Menka Gandhi

Vs.

The Union of India and Another)

(25 जनवरी, 1978)

(मुख्य न्यायाधिपति एम० एच० बेग, न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़, पी० एन० भगवती, वी० आर० कृष्ण अय्यर, एन० एल० ऊंटवालिया, एस० मुर्तजा फ़ज़ल अली और पी० एस० कैलाशम)

संविधान—अनुच्छेद 21—"दैहिक स्वाधीनता" पद का अर्थ—विदेश जाने का अधिकार—किसी भी व्यक्ति को विदेश जाने के अपने अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता जब तक कि राज्य द्वारा बनाई गई कोई ऐसी विधि न हो जिसमें उसे इस प्रकार वंचित करने के लिये प्रक्रिया विहित हो और उसे यथार्थतः ऐसी प्रक्रिया के अनुसार ही अपने अधिकार से वंचित किया गया हो।

संविधान—अनुच्छेद 21 और 32—विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया—नैसर्गिक न्याय—'दूसरे पक्ष को भी सुनो'—नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का भाग है—प्रशासनिक जांच में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत का लागू किया जाना—प्रशासनिक जांच में भी नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत लागू होता है।

पासपोर्ट ऐक्ट, 1967 (1967 का 15)—धारा 10(3)(ग)—पासपोर्ट जब्त करने के लिये प्रक्रिया—इस अधिनियम के अधीन पासपोर्ट जब्त करने के लिये 'स्थापित' प्रक्रिया अनुच्छेद 21 की अपेक्षाओं के अनुरूप है।

पासपोर्ट ऐक्ट, 1967 (1967 का 15)—धारा 10(3)(ग)—'जन साधारण के हित में' शब्दों का अर्थान्वयन—धारा 10(3)(ग) अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं करती।

संविधान—भाग 3—मूल अधिकार सुभिन्न और परस्पर अनन्य अधिकार नहीं है—अनुच्छेद 21 के अधीन 'दैहिक स्वाधीनता' को प्रभावित करने वाली विधि को भी अनुच्छेद 19 और 14 की अपेक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरना होगा।

पासपोर्ट अधिनियम, 1967 (1967 का 15)—धारा 10(3)(ग)—यह धारा संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) या (छ) का अतिक्रमण नहीं करती—वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य केवल भारत के राज्यक्षेत्र तक ही सीमित नहीं है और इसका उपयोग भारत के बाहर भी किया जा सकता है—विदेश जाने के अधिकार के बारे में यह नहीं समझा जा सकता कि वह संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क) या (छ) के अन्तर्गत आता है।

पासपोर्ट अधिनियम, 1967 (1967 का 15)—धारा 10(3)(ग)—पासपोर्ट के जब्त किये जाने का आदेश—ऐसा आदेश इस आधार पर पारित किया जाना कि ऐसा करना जन साधारण के हित में है—ऐसे आदेश से अनुच्छेद 19(1) (क) या (छ) का अतिक्रमण नहीं होता।

पासपोर्ट अधिनियम, 1967 (1967 का 15)—धारा 10(3)(ग)—जन साधारण के हित में पारित आदेश—ऐसा आदेश पासपोर्ट अधिकारी द्वारा केवल तभी पारित किया जा सकता है यदि लोकहित वर्तमान काल में न कि भविष्यकाल में विद्यमान हो।

तारीख 2 जुलाई, 1977 वाले आदेश द्वारा पिटीशनर का तारीख 1 जून, 1976 वाला पासपोर्ट 'लोक हित' में जब्त कर लिए जाने पर और भारत सरकार द्वारा अपने विनिश्चय के कारण 'जन साधारण के हित में' बताने से इनकार कर दिए जाने पर पिटीशनर ने सरकार के इस आदेश को चुनौती देने के लिए संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन पिटीशन फाइल किया। यह चुनौती इस आधार पर दी गई कि (1) जिस सीमा तक पासपोर्ट अधिनियम, 1967 की धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट अधिकारी को 'जन साधारण के हित में' पासपोर्ट जब्त करने के लिए प्राधिकृत किया गया है, वहां तक वह संविधान के

1978(1) eILR(PAT) SC 6

अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करती है क्योंकि इससे पासपोर्ट अधिकारी को अस्पष्ट और अनिश्चित शक्ति प्रदत्त की गई है, (2) धारा 10(3)(ग) मनमानी शक्ति प्रदत्त करने वाली होने के कारण शून्य है क्योंकि इसमें पासपोर्ट के धारक को पासपोर्ट के जब्त किए जाने के पूर्व सुने जाने के लिए उपबन्ध नहीं किया गया है, (3) धारा 10(3)(ग) संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करती है क्योंकि इसमें उस अनुच्छेद के अर्थान्तर्गत 'प्रक्रिया' विहित नहीं की गई है और जो प्रक्रिया इसमें विहित की गई है वह मनमानी और अयुक्तियुक्त है और (4) धारा 10(3)(ग) अनुच्छेद 19(1)(क) और 19(1) (छ) का अतिवर्तन करती है क्योंकि इसमें इन अनुच्छेदों द्वारा प्रत्याभूत आधारों पर निर्बन्धन अधिरोपित किया जाना अनुज्ञात है, चाहे ऐसे निर्बन्धन अनुच्छेद 19(2) या (6) के अधीन अधिरोपित न किए जा सकते हों।

अधिनियम की धार 10(3) के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए पासपोर्ट अधिकारी ने पिटीशनर को वे कारण बताने से इनकार कर दिया, जिनके लिए 'जन साधारण के हित में' उसका पासपोर्ट जब्त करना आवश्यक समझा गया था। किन्तु वाद में पिटीशनों के उत्तर में भारत सरकार की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में कारण बता दिया गया था कि पिटीशनर का पासपोर्ट इसलिए जब्त किया गया था कि क्योंकि सम्भवतः उसकी उपस्थिति जांच आयोग के समक्ष की कार्यवाहियों के सम्बन्ध में अपेक्षित थी।

उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह नहीं कहा जा सकता कि पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने के लिए यह दर्शित किया गया है कि काफी अच्छे कारण मौजूद थे। इसके अलावा पिटीशनर को यह दर्शित करने का अवसर नहीं दिया गया था कि पासपोर्ट को जब्त करने के लिए आधार या तो विद्यमान ही नहीं हैं या जिनका लोक हित में से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु उच्चतम न्यायालय के अनुसार पासपोर्ट अधिनियम की धारा 10(3)(ग) संविधान के अनुच्छेद 14, 19(1)(क) या (छ) अथवा अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण नहीं करती है। उच्चमत न्यायालय का दृष्टिकोण यह था कि इस मामले की परिस्थितियों के अनुसार, विदेश जाने का अधिकार मूल अधिकार नहीं है।

लेकिन, महान्यायवादी ने भारत सरकार की ओर से एक कथन फाइल किया कि पिटीशनर पासपोर्ट के जब्त किए जाने के सम्बन्ध में अभ्यावेदन कर सकता है और यह कि उस अभ्यावेदन पर शीघ्रता से कार्यवाही की जाएगी और यहां तक कि यदि पासपोर्ट के जब्त किए जाने की बात का पुष्टीकरण किया गया तो वह पिटीशनर के अभ्यावेदन पर किए जाने वाले विनिश्चय की तारीख से छह माह की कालावधि से अधिक नहीं होगा।

महान्यायवादी द्वारा किए गए कथन की दृष्टि से उच्चतम न्यायालय ने बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि आक्षेपित आदेश में औपचारिक हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन मुख्य न्यायाधिपति बेग ने यह मत अपनाया कि चूंकि पिटीशनर के विरुद्ध वस्तुतः पारित आदेश प्रक्रिया के अनुसार न तो ऋजु था और न ही उचित है, इस लिए उन्होंने उस आदेश को अभिखण्डित कर दिया और जब्त पासपोर्ट को पिटीशनर को लौटाने का आदेश दिया।

अभिनिर्धारित--(न्यायाधिपति ऊंटवालिया और मुर्तज़ा फ़ज़ल अली की ओर से न्यायाधिपति भगवती के अनुसार, शेष न्यायाधिपतियों ने सहमति प्रकट की)।

यह कहना कोई विधिमान्य तर्क नहीं है कि अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद का इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए जिससे कि उस अनुच्छेद और अनुच्छेद 19(1) के बीच अतिव्याप्ति से बचा जा सके। अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद का सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्र है और इसके अन्तर्गत ऐसे बहुत से अधिकार आते हैं जो व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता गठित करते हैं और उनमें से कुछ को विशिष्ट मूल अधिकारों की प्रास्थिति तक उठाया गया है और अनुच्छेद 19 के अधीन संरक्षण दिया गया है। (पैरा 54)

अनुच्छेद 21 की भाषा से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि यह एक सीमित संरक्षण देता है। यह उस कार्यपालक हस्तक्षेप के, जो विधि द्वारा समर्थित नहीं है, विरुद्ध विदेश जाने के अधिकार की रक्षा करता है और यहां विधि 'अधिनियमित विधि' अथवा 'राज्य कि विधि' अभिप्रेत है। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति को विदेश जाने के उसके

अधिकार से तब तक वंचित नहीं किया जा सकता है जब तक राज्य द्वारा ऐसी विधि न बनाई गई हो जो उसे इस प्रकार वंचित करने की प्रक्रिया विहित करती हो और जब तक ऐसा वंचन यथार्थ रूप से ऐसी प्रक्रिया के अनुसार प्रभावी नहीं किया जाता है। स्पष्टतया यह प्रक्रिया मनमानी, अनिष्पक्ष अथवा अयुक्तियुक्त नहीं हो सकती। (पैरा 54)

अनुच्छेद 21 अनुच्छेद 19 का अपवर्जन नहीं करता है और यह कि यदि किसी व्यक्ति को 'दैहिक स्वाधीनता' से वंचित करने की प्रक्रिया विहित करने वाली कोई विधि है और परिणामस्वरूप अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार का कोई अतिलंघन नहीं होता है तो ऐसी विधि को, जहां तक कि वह अनुच्छेद 19 के अधीन किसी मूल अधिकार को न्यून करती है अथवा छीनती है वहां तक उस अनुच्छेद की चुनौती का सामना करना होगा। यदि किसी व्यक्ति को 'दैहिक स्वाधीनता' से वंचित करने वाली और उस प्रयोजनार्थ अनुच्छेद 21 के अर्थ के भीतर प्रक्रिया विहित करने वाली विधि को अनुच्छेद 19 के अधीन प्रदत्त मूल अधिकारों में से एक या अधिक कसौटी पर खरा उतरना होता है जो किसी विशेष स्थिति में लागू हो तो सैद्धान्तिक रूप से इसकी अनुच्छेद 14 के प्रति निर्देश करते हुए भी परख की जानी चाहिए। (पैरा 55)

युक्तियुक्तता का सिद्धान्त ही विधिक रूप से और तात्विक रूप में समता अथवा अमनमानेपन का अनिवार्य तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान होने की भ्रान्ति अनुच्छेद 14 में व्याप्त है और अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया को अनुच्छेद 14 के अनुसार उसके लिए युक्तियुक्तता की कसौटी को पूरा करना होगा। यह 'ठीक और न्यायसंगत एवं निष्पक्ष होनी चाहिए' और मनमानी कल्पित अथवा दमनकारी नहीं होनी चाहिए अन्यथा यह सर्वथा कोई भी प्रक्रिया नहीं होगी और अनुच्छेद 21 की अपेक्षा की पूर्ति नहीं होगी। (पैरा 56)

यद्यपि कानून में ऐसे कोई निश्चत शब्द नहीं हैं जो यह अपेक्षा करते हों की पक्षकार की सुनवाई की जाएगी तथापि भी कॉमन लॉ का न्याय विधानमण्डल के लोप की पूर्ति करेगा। 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' का सिद्धान्त, जो यह आज्ञा देता है कि किसी को भी सुने बिना सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा, नैसर्गिक न्याय के नियमों का भाग है। (पैरा 57)

नैसर्गिक न्याय बहुत ही मानवतावादी सिद्धान्त है जिसका आशय विधि में निष्पक्षता निहित करना है और न्याय प्राप्त करना है और वर्षों के पश्चात् यह प्रशासनिक कार्यवाही के बड़े क्षेत्रों को प्रभावित करने वाले विस्तृत रूप से व्याप्त नियम के रूप में विकसित हुआ है । अतः जांच सदैव ही यह होनी चाहिए कि क्या कार्य में निष्पक्षता यह मांग करती है कि प्रभावित व्यक्ति को सुनवाई का अवसर दिया जाना चाहिए । (पैरा 58)

अब इस बारे में विधि सुस्थिर समझी जानी चाहिए कि ऐसी प्रशासनिक कार्यवाही में भी, जिसमें अदालती परिणाम अन्तर्वलित है, नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के बारे में यह माना जाना चाहिए कि वह लागू होता है । (पैरा 61)

पासपोर्ट अधिनियम की धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट अधिकारी पर प्रदत्त पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति न्यायिककल्प शक्ति है । पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति को संकुचित दृष्टिकोण के आधार पर भी नैसर्गिक न्याय के नियम लागू होंगे । यदि पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति को प्रशासनिक स्वरूप की शक्ति माना जाए तो भी वही परिणाम निकलेगा क्योंकि यह पासपोर्ट धारक के विदेश जाने के सांविधानिक अधिकार में गम्भीर रूप से हस्तक्षेप करती है और इसके प्रतिकूल अदालती परिणाम होते हैं । (पैरा 62)

यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि 'दूसरे को भी सुनो' वाला नियम केवल इसलिए अपवर्जित किया जाता है क्योंकि यदि सम्बद्ध व्यक्ति को, पासपोर्ट जब्त करने से पूर्व पूर्व-सूचना और सुनवाई का अवसर दिया जाए तो पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति विफल हो सकती है । पासपोर्ट प्राधिकारी सम्बद्ध व्यक्ति को सुनवाई का पूर्व अवसर दिए बिना पासपोर्ट जब्त करने के लिए अग्रसर हो सकता है किन्तु जैसे ही पासपोर्ट जब्त करने का आदेश दिया जाता है सुनवाई का अवसर, जिसका उद्देश्य उपचार, है उसे दिया जाना चाहिए जिससे कि वह अपना पक्षकथन प्रस्तुत कर सके और पासपोर्ट प्राधिकारी के पक्षकथन का खण्डन कर सके और यह संकेत कर सके कि उसका पासपोर्ट क्यों जब्त नहीं किया जाना चाहिए और उसे जब्त करने वाला आदेश वापस लिया जाना चाहिए । यह न केवल सम्भव है, बल्कि बहुत समुचित भी है

क्योंकि पासपोर्ट जब्त करने के कारणों के बारे में यह अपेक्षित है कि वह पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा आदेश किए जाने के पश्चात् दिए जाने चाहिएं और इसलिए प्रभावित व्यक्ति अपना पक्षकथन उपवर्णित करते हुए अभ्यावेदन देने की स्थिति में और अपने पासपोर्ट को जब्त करने की कार्यवाही को अपास्त कराने के लिए अभिवचन करने की स्थिति में होगा । पासपोर्ट जब्त करने का आदेश करने के तुरन्त पश्चात् सुनवाई का एक उचित अवसर नैसर्गिक न्याय की आज्ञा की पूर्ति करेगा और सम्बद्ध व्यक्ति को ऐसे अवसर के दिए जाने की अपेक्षा करने वाला उपबन्ध पासपोर्ट अधिनियम, 1967 में विवक्षित रूप से समझा जा सकता है और समझा जाना चाहिए । यदि ऐसे उपबन्ध के बारे में यह माना जाए कि वह आवश्यक विवक्षा द्वारा उसमें समाविष्ट है, जैसा कि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि यह होना चाहिए, तो पासपोर्ट जब्त करने के लिए अधिनियम द्वारा विहित प्रक्रिया सही, निष्पक्ष और न्यायसंगत है और इसमें मनमानेपन अथवा अयुक्तियुक्तता का दोष नहीं है । अतः यह अभिनिर्धारित किया जाता कि पासपोर्ट जब्त करने के लिए पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा स्थापित प्रक्रिया अनुच्छेद 21 की अपेक्षा के अनुरूप है और उस अनुच्छेद का अतिक्रमण नहीं करती है। (पैरा 63)

केन्द्रीय सरकार ने पिटीशनर का पासपोर्ट जब्त करने वाला आक्षेपित आदेश पारित करने के पश्चात् उसे न केवल सुनवाई का अवसर दिया बल्कि उसके द्वारा की गई प्रार्थना के बावजूद उसके पासपोर्ट को जब्त करने के कारण पिटीशनर को देने से इनकार कर दिया । केन्द्रीय सरकार के लिए पिटीशनर से पासपोर्ट जब्त करने के कारणों को प्रत्याहृत करना पूर्णतया अन्यायोचित था और उस ने न केवल कानूनी उपबन्धों को भंग ही किया बल्कि यह पिटीशनर को सुनवाई का अवसर देने से इनकार करने की कोटि में आता है अतः पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने वाला आदेश 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले नियम में समाविष्ट नैसर्गिक न्याय के नियम का स्पष्ट अतिक्रमण था और वह पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुरूप नहीं था । यह महसूस करते हुए कि यह ऐसी घातक त्रुटि है जो पासपोर्ट जब्त करने के आदेश को शून्य बना देगी, विद्वान् महान्यायवादी ने भारत सरकार की ओर से यह कथन किया कि सरकार ऐसे किसी अभ्यावेदन पर विचार करने के

लिए सहमत है जो पिटीशनर द्वारा अपने पासपोर्ट जब्त किए जाने की बाबत किया जाए और उसे इस विषय में सुनवाई का अवसर देने के लिए सहमत है। वह अवसर अभ्यावेदन की प्राप्ति से दो सप्ताह के भीतर दिया जाएगा। पिटीशनर के अभ्यावेदन पर विधि के अनुसार शीघ्रता से विचार किया जाएगा। उच्चतम न्यायालय के बहुमत द्वारा (मु० न्या० बेग ने विसम्मति प्रकट की) यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह कथन पासपोर्ट जब्त करने के आदेश से उस दोष को समाप्त कर देता है और इस पर अब इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि यह 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले नियम का अनुपालन नहीं करता है अथवा यह पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार नहीं है। (पैरा 64)

धारा 10(3) (ग) में प्रयुक्त 'जन साधारण के हित में' शब्दों द्वारा द्योतित आधार को किसी भी प्रकार के तर्क द्वारा अस्पष्ट अथवा अनिश्चित होने का स्वरूप नहीं दिया जा सकता। 'जन साधारण के हित में' शब्दों का स्पष्ट रूप से सुनिश्चित अर्थ है और प्रायः न्यायालयों से यह विनिश्चय करने की अपेक्षा की गई है कि क्या कोई विशेष कार्रवाई 'जन साधारण के हित में' की है अथवा 'लोक हित में' है और इसका प्रयोग करने में न्यायालय को कोई कठिनाई नहीं हुई है। वस्तुतः ये शब्द संविधान के अनुच्छेद 19(5) से शब्दतः लिए गए हैं और इसके द्वारा संविधान निर्माताओं पर अस्पष्ट अथवा अनिश्चित विचारधारा का आरोप नहीं लगाया जा सकता। 'जन साधारण के हित में' शब्दों द्वारा पर्याप्त मार्गदर्शन हो जाता है और पासपोर्ट जब्त करने के लिए पासपोर्ट प्राधिकारी को प्रदत्त शक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह मार्गदर्शन रहित अथवा अनियन्त्रित है। इसके अलावा यह भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि इस शक्ति के प्रयोग को जहां तक कि धारा में कथित है या अधिक आधारों के आधार पर इसके प्रयोग की आवश्यकता का सम्बन्ध है, इस शक्ति को पासपोर्ट प्राधिकारी की आत्मपरक राय पर निर्भर नहीं बनाया गया है किन्तु पासपोर्ट प्राधिकारी से यह अपेक्षित है कि वह पासपोर्ट जब्त करने के लिए कारणों का एक संक्षिप्त कथन अभिलिखित करे और कतिपय असाधारण परिस्थितियों के सिवाए, ऐसे कथन की एक प्रति प्रभावित व्यक्ति को दे जिससे कि सम्बद्ध व्यक्ति पासपोर्ट

प्राधिकारी के विनिश्चय को अपील में चुनौती दे सके और अपील प्राधिकारी यह परीक्षा कर सके कि क्या पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा दिए गए कारण सही हैं और यदि हां तो क्या वे पासपोर्ट जब्त करने के आदेश के किए जाने को न्यायोचित ठहराते हैं । यह सत्य है कि जब पासपोर्ट जब्त करने का आदेश केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है तो उसके विरुद्ध कोई अपील नहीं होती है, किन्तु यह अवश्य स्मरण रखा जाना चाहिए कि ऐसे मामले में शक्ति का प्रयोग स्वयं केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है और यह बात निरापद रूप से समझी जा सकती है कि केन्द्रीय सरकार उस शक्ति का प्रयोग युक्तियुक्त और उत्तरदायी रीति में करेगी । जब शक्ति केन्द्रीय सरकार जैसे उच्च प्राधिकरण में निहित की जाती है तो हल्के तौर पर यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि शक्ति का दुरुपयोग किया जाएगा । और यदि किसी मामले में शक्ति का दुरुपयोग किया जाता है तो न्यायालय के हाथ उस तक पहुंचने और उसे अविधिमान्य घोषित करने के लिए पर्याप्त लम्बे हैं । अतः धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट जब्त करने के लिए पासपोर्ट प्राधिकारी को प्रदत्त शक्ति के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि वह विभेदकारी है और वह अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं करती है। किन्तु ऐसी शक्ति के हर प्रयोग को यह अवधारित करने की दृष्टि से परखना होगा कि क्या वह मनमाना है अथवा धारा 10(3)(ग) में उपबन्धित मार्ग दर्शन के भीतर है। (पैरा 65)

यह अवधारित करने के लिए कि क्या कानून किसी विशेष मूल अधिकार का अतिलंघन करता है, लागू किए जानेवाली कसौटी अथवा मानदण्ड क्या है। इस मुद्दे पर विधि में **ए० के० गोपालन वाले मामले** के समय से आमूल परिवर्तन हुआ है । **आर० सी० कपूर वाले मामले** में यह सिद्धान्त कि राज्य की कार्रवाई का उद्देश्य और प्ररूप ही उस संरक्षण के विस्तार का अवधारण करता है जिसका किसी व्यक्ति द्वारा दावा किया जाए और यह कि व्यक्ति के मूल अधिकार पर राज्य की कार्यवाही का प्रभाव असंगत है, अन्तिम रूप से अस्वीकार कर दिया गया था । यह सिद्धान्तः, सारतः और वस्तुतः सारतत्व की कसौटी के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो परिसंघीय और राज्य विधानमण्डलों को विधायी सूची के प्रति निर्देश से प्रदत्त विधायी शक्तियों में परस्पर विरोध होने की दशा में विधान की सांविधानिकता का अवधारण करने के लिए लागू की जाती है । सार का सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में अस्वीकृत कर दिया

गया और जो कसौटी लागू की गई, वह इस सम्बन्ध में थी कि पिटीशनर के मूल अधिकार पर राज्य की आक्षेपित कार्यवाही का प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम या प्रभाव क्या होता है। यह सम्भव है कि किसी विशिष्ट मामले में राज्य की कार्यवाही के सार में किसी विशिष्ट मूल अधिकार के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया हो, किन्तु उसका प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रभाव एक अन्य मूल अधिकार पर हो और उस दशा में राज्य की कार्यवाही को पश्चात् कथित मूल अधिकार की चुनौती स्वीकार करनी होगी सार के सिद्धान्त में राज्य की कार्यवाही का उद्देश्य और विषयवस्तु की बाबत ध्यान दिया गया है किन्तु मूल अधिकारों के प्रति निर्देश करते हुए राज्य कार्यवाही की विधिमान्यता को कसौटी पर कसते हुए न्यायालय को जिस बात पर विचार करना चाहिए वह यह है कि राज्य की कार्यवाही का प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम क्या है। अन्यथा, मूल अधिकारों की संरक्षा का सूक्ष्म रूप से किन्तु निश्चित रूप से ह्रास हो जाएगा। (पैरा 66 और 68)

प्रथमदृष्टया जिस अधिकार को धारा 10(3)(ग) और आक्षेपित आदेश द्वारा निर्बन्धित करने का प्रयास किया गया है वह विदेश जाने का अधिकार है और उसका नाम मूल अधिकार के रूप में अनुच्छेद 19(1)(क) में स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया गया है या शामिल नहीं किया गया है। (पैरा 70)

अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य पर कोई भी भौगोलिक परिसीमाएं अधिरोपित नहीं की गई हैं और यह स्वातंत्र्य न केवल भारत में बल्कि भारत के बाहर भी प्रत्येक प्रयोज्य है और यदि राज्य की कार्यवाही से संसार के किसी भी देश में नागरिकों के अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में बाधा उत्पन्न होती है तो उससे अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण उसी प्रकार से होगा मानो कि देश के भीतर ही ऐसी अभिव्यक्ति निषिद्ध की गई हो। उसी तर्क के आधार पर यह निष्कर्ष अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन गारण्टीकृत किसी वृत्ति या उपजीविका या व्यापार या कारोबार करने के मूल अधिकार के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होगा। (पैरा 75)

यदि अनुच्छेद 19 (1) में इस अधिकार का विनिर्दिष्ट रूप से नाम नहीं लिया गया है तो भी ऐसा मूल अधिकार उस दशा में हो सकता है जो कि उस अनुच्छेद के किसी खण्ड के अन्तर्गत आता है, यदि

वह उल्लिखित मूल अधिकार का महत्वपूर्ण भाग है या उसकी आधारिक प्रकृति और स्वरूप वही है जो कि मूल अधिकार का होता है। यह पर्याप्त नहीं है कि पिटीशनर द्वारा जिस अधिकार का दावा किया गया है वह नामित मूल अधिकार से उत्पन्न होता हो अथवा यह कि उसका अस्तित्व नामित मूल अधिकार के प्रयोग को पूर्ण और प्रभावी बनाने की दृष्टि से आवश्यक है। ऐसा प्रत्येक क्रियाकलाप जो कि नामित मूल अधिकार के प्रयोग को सुविधाजनक बनाता है, आवश्यक रूप से उस मूल अधिकार में परिकल्पित नहीं है और न ही उसे उस रूप में मात्र इसलिए माना जा सकता है, क्योंकि अन्यथा उस मूल अधिकार का प्रभावी रूप से प्रयोग करना सम्भव नहीं हो सकता। जो बात देखनी आवश्यक है, यह वह है और वही कसौटी है जिसे लागू किया जाना चाहिए, चाहिए पिटीशनर द्वारा दावा किया गया अधिकार नामित मूल अधिकार का महत्वपूर्ण भाग है या कि उसकी आधारिक प्रकृति और स्वरूप वही है जो कि नामित मूल अधिकार का है जिससे कि ऐसे अधिकार का प्रयोग वस्तुतः और सारतः नामित मूल अधिकार के प्रयोग का उदाहरण होने के अलावा कुछ भी नहीं है। यदि वही ठीक कसौटी है, जैसा कि हम समझते हैं कि वह है तो विदेश जाने के अधिकार को, सभी परिस्थितियों में, यह नहीं माना जा सकता है कि वह वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में सम्मिलित है। (पैरा 78).

विदेश जाने के अधिकार को इस प्रकार नहीं माना जा सकता है कि वह परिमीथ या सहवर्ती अधिकार के सिद्धान्त पर अनुच्छेद 19 (1) (क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के अन्तर्गत है। इसी प्रकार अन्य कारणों से, विदेश जाने के अधिकार को अनुच्छेद 19 (1) (क) के अधीन गारण्टीकृत व्यापार, कारोबार वृत्ति या उप-जीविका चलाने के अधिकार के भाग के रूप में नहीं माना जा सकता। विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 19(1) के किसी भी खण्ड के अधीन गारण्टीकृत अधिकार स्पष्ट रूप से नहीं है और धारा 10(3) (ग) के, जिसके अधीन पासपोर्ट जब्त करके विदेश जाने के अधिकार पर निर्बन्धन अधिरोपित करने के लिए प्राधिकृत किया गया है, बारे में यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि वह इसलिए शून्य है क्योंकि उससे अनुच्छेद 19-(1) (क) या (छ) का अतिक्रमण होता है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रभाव विदेश जाने के अधिकार पर पड़ता है न कि वाक् और

अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अधिकार पर या व्यापार, कारोबार, वृत्ति या उपजीविका चलाने के अधिकार पर पड़ता है। (पैरा 83)

किन्तु इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि धारा 19 (3) (ग) के अधीन किया गया आदेश अनुच्छेद 19 (1) (क) या (छ) का अतिक्रमण नहीं कर सकता । जहां कार्यवाही करने के लिए किसी प्राधिकारी को सशक्त करने वाला कानूनी उपबन्ध सांविधानिक रूप से विधिमान्य है वहां भी उसके अधीन की गई कार्यवाही मूल अधिकार के विरुद्ध हो सकती है और उस स्थिति में यद्यपि कानूनी उपबन्ध विधिमान्य है तथापि वह कार्यवाही शून्य हो सकती है। अतः यद्यपि धारा 10 (3) (ग) विधिमान्य है तथापि यह प्रश्न सदैव शेष रहेगा कि क्या उसके अधीन किया गया आदेश इस प्रकार से अविधिमान्य है जो कि मूल अधिकार का उल्लंघन करता है। किसी पासपोर्ट को जब्त करने वाले आदेश का प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रभाव, किसी विशिष्ट मामले में, यह हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप वह वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को या वृत्ति के करने के अधिकार को न्यून करता है या छीनता है। और जहां ऐसा मामला है वह यह आदेश तब तक अविधिमान्य होगा जब तक कि उसे अनुच्छेद 19 (2) या अनुच्छेद 19 (6) का संरक्षण प्राप्त न हो। (पैरा 84)

यद्यपि आक्षेपित आदेश धारा 10 (3) (ग) के पदों के भीतर हो सकता है तथापि उसे किसी भी मूल अधिकारों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए और यदि वह ऐसा करता है तो वह शून्य होगा यदि पासपोर्ट को जब्त करने वाला आदेश सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में किया जाता है तो उसके द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन उतना विस्तृत अधिकपूर्ण या उस रिष्टि या बुराई का अननुपातिक हो सकता है जिससे दूर करने की कोशिश की गई है, यह कि उसे अयुक्तियुक्त माना जा सकता है और उस स्थिति में यदि उस आदेश का प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को न्यून करना या छीनना है तो उससे अनुच्छेद 19 (1) (क) का अतिक्रमण होगा और उसे अनुच्छेद 19 (2) का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा और वही स्थिति वहां भी होगी जहां वह आदेश जन साधारण के हित में है किन्तु वह किसी वृत्ति के चलाने संबंधी स्वातंत्र्य का प्रत्यक्षतः और आवश्यक रूप से अतिलंघन करता हैं। दूसरी दशा में वह अनुच्छेद 19 (1) (छ) का उल्लंघन करेगा और उसे अनुच्छेद 19 (6) में अधिनियमित उपबन्धों को संरक्षण नहीं प्राप्त होगा। (पैरा 85)

प्रस्तुत मामले में आक्षेपित आदेश न तो अनुच्छेद 19 (1) (क) और न ही अनुच्छेद 19 (1) (छ) का अतिक्रमण करते हैं। आक्षेपित आदेश जो बात करता है वह पिटीशनर के पासपोर्ट का जब्त करना है और उसके द्वारा वह उसे विदेश जाने से निवारित करता है और उस तारीख को जबकि आक्षेपित आदेश किया गया था, ऐसा दर्शित करने के लिए कोई बात मौजूद नहीं है कि पिटीशनर का, वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार का या पक्षकार के रूप में अपनी वृत्ति चलाने के अधिकार का प्रयोग करने के प्रयोजन के लिए विदेश जाने का आशय था। आक्षेपित आदेश का प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम विदेश जाने के उसके अधिकार के प्रयोग में बाधा उत्पन्न करना था न कि वाक् और अभिव्यक्ति के उसके स्वातन्त्र्य में या अपनी वृत्ति चलाने के उसके अधिकार में हस्तक्षेप करना। (पैरा 86)

पासपोर्ट को जब्त करने वाला आदेश पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा केवल तभी किया जा सकता है यदि वास्तव में ऐसा करना जनसाधारण के हित में हो और यह पर्याप्त नहीं है कि आदेश के करने से भविष्य में जन साधारण का हितसाधन होना संभाव्य है। किन्तु प्रस्तुत मामले में मात्र इस आधार पर कि जन साधारण का भविष्य में हित साधन संभाव्य है, वह आदेश केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं किया गया था। आक्षेपित आदेश इसलिए किया गया था क्योंकि केन्द्रीय सरकार की राय में पिटीशनर की उपस्थिति आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए आवश्यक थी और केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त रिपोर्ट के अनुसार उसका भारत से बाहर जाना संभाव्य था और यह कि उससे किसी सीमा तक उन जांचों के प्रयोजन समाप्त हो सकते थे या उसमें बाधा उत्पन्न हो सकती थी जो कि जांच आयोग द्वारा की जा रही थी। (पैरा 91)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1976]	(1976) सप्लीमेण्ट एस० सी० आर० 172 =[1976]3 उम० नि० प० 1 : **अपर जिला मजिस्ट्रेट, जबलपुर बनाम शिवकान्त शुक्ल** (The Additional District Magistrate, Jabalpur *Vs.* Shivkant Shukla) ;	5,11,15, 19,21,199

[1975]	(1975) 2 एस० सी० आर० 832=[1975] 2 उम० नि० प० 337 : खुदीराम दास बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य (Khudiram Das *Vs.* The State of West Bengal and Others) ;	55, 198,199
[1975]	(1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306 : हराधन साहा बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य (Haradhan Saha *Vs.* The State of West Bengal and Others) ;	9,40,54 55,175, 197,198, 199
[1974]	(1974) 2 एस० सी० आर० 348=[1974] 1 उम० नि० प० 577 : ई० पी० रायप्पा बनाम तमिलनाडु राज्य और एक अन्य (E.P. Rayappa *Vs.* The State of Tamil Nadu and Another) ;	56
[1974]	76 बी० एल० आर० (1974) 788 : मीनू मानेकशा बनाम भारत संघ (Minoo Maneckshaw *Vs.* The Union of India) ;	222
[1973]	(1973) 3 एस० सी० सी० 864 : खण्ड वन अधिकारी, दक्षिण खेरी बनाम राम सनेही सिंह (D.F.O. South Kheri *Vs.* Ram Sanehi Singh) ;	61
[1973]	(1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527 : बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य (Bannett Coleman and Co. Ltd. and Others *Vs.* The Union of India and Others) ;	41,68,78, 134,179, 187,188, 198,200, 202,203, 206

[1973] (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411:
शम्भू नाथ सरकार बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य
(Shambhu Nath Sarkar *Vs.* The State of West Bengal and Others); 9,40,54, 55,121, 134,198, 199

[1972] (1972) ए० सी० 60:
डी० ए० पी० बनाम भगवान
(D. A. P. *Vs.* Bhagwan); 102

[1971] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1713:
मोहम्मद साबिर बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य
(Mohd. Sabir *Vs.* The State of Jammu and Kashmir); 55

[1971] (1971) 1 एस० सी० आर० 871=[1971] 1 उम० नि० प० 413:
चिन्ता लिंगम् और अन्य बनाम भारत सरकार और अन्य
(Chinta Lingam and Others *Vs.* The Government of India and Others); 226

[1971] (1971) 1 एस० सी० आर० 791=[1975] 4 उम० नि० प० 406:]
भारत संघ बनाम कर्नल जे० एन० सिन्हा और एक अन्य
(The Union of India *Vs.* Col. J. N. Sinha and Another); 221

[1971] (1971) ए० सी० 297:
वाइज़मैन बनाम बोर्नमैन
(Wiseman *Vs.* Borneman); 58,63

[1971] (1971) 1 डब्ल्यू० एल० आर० 728:
पर्ल-बर्ग बनाम वैर्टी
(Pearl-Berg *Vs.* Varty); 63

[1970]	(1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974]3 उम० नि० म० 1045 : रुस्तम कावसजी कूपर बनाम भारत संघ (Rustom Kawasjee Cooper *Vs.* The Union of India) ;	9,40,41, 54,55,68, 69,121, 134,179, 187,188, 191,192, 194,195, 196,197, 198,199, 200,201, 205
[1970]	(1970) 1 एस० सी० आर० 457 =[1970]2 उम० नि० प० 389 : ए० के० केराइपक और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य (A. K. Karaipak and Others *Vs.* The Union of India and Others) ;	59,60,61, 62
[1970]	(1970) 2 क्यू० बी० 417 : सम्राज्ञी बनाम गेमिंग बोर्ड एक्स पार्टि बोनायम (R. *Vs.* Gaming Bord Ex. P. Benaim) ;	223
[1970]	(1970) 1 क्यू० बी० 693 : घनी बनाम जोन्स (Ghani *Vs.* Jones) ;	90,102
[1969]	(1969) 3 एस० सी० आर० 865=[1970]1 उम० नि० प० 595 : वेस्टर्न यू० पी० इलैक्ट्रिक पावर एण्ड सप्लाई कंपनी लिमिटेड बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य (Western U.P. Electric Power and Supply Co. Ltd. *Vs.* The State of Uttar Pradesh and Another) ;	225

[1969] (1969) 3 एस० सी० आर० 108=[1969]3 उम० नि० प० 462:
रोहतास इण्डस्ट्रीज लिमिटेड बनाम **एस० डी० अग्रवाल और एक अन्य**
(Rohtas Industries Ltd. *Vs.* S. D. Agarwal and Another); 89, 225

[1969] (1969) 2 एस० सी० आर० 807=[1969]2 उम० नि० प० 842:
परताबपुर कम्पनी लिमिटेड बनाम **गन्ना आयुक्त, बिहार और अन्य**
(Purtabpore Co. Ltd. *Vs.* Cane Commissioner of Bihar and Others); 221

[1969] (1969) 2 ऑल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 274:
जॉन बनाम **रीस**
(John *Vs.* Rees); 126

[1969] (1969) 2 चांसरी डिवीजन 149:
स्मिदत् बनाम **सेक्रेट्री ऑफ स्टेट फार होम अफेयर्स**
(Schmidt *Vs.* Secretary of State for Home Affairs); 58, 60, 126, 221

[1968] (1968) 3 एस० सी० आर० 489=[1962]2 उम० नि० प० 154:
मध्य प्रदेश राज्य बनाम **रानोजीराव शिण्दे**
(The State of Madhya Pradesh *Vs.* Ranojirao Shinde); 192

[1968] (1968) 112 सॉलिसिटर जनरल 690:
फोनटेन बनाम **चैस्टरटन**
(Fontaine *Vs.* Chastarton); 58

[1967] (1967) 3 एस० सी० आर० 525 :
सतवन्त सिंह साहनी बनाम डी० रामरत्नम्, सहायक पासपोर्ट अधिकारी, भारत सरकार, नई दिल्ली और अन्य
(Satwant Singh Sawhney *Vs.* D. Ramarathnam, Assistant Passport Officer, Govt. of India, New Delhi and Others) ; 3,10,40, 52,54,74, 102,210, 214

[1967] (1967) 2 एस० सी० आर० 949 :
श्रीमती सीताबती देवी और एक अन्य बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य
(Smt. Sitabati Debi and Another *Vs.* The State of West Bengal) ; 192

[1967] (1967) 2 एस० सी० आर० 762 :
आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य
(I. C. Golaknath *Vs.* The State of Punjab) ; 19

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1269; (1967) 2 एस० सी० आर० 625 :
उड़ीसा राज्य बनाम डॉक्टर (कुमारी) बीणापानी देई और अन्य
[The State of Orissa *Vs.* Dr. (Miss) Binapani Dei and Others] ; 32,59

[1967] ए० आई० आर० 1967 मुम्बई 235 :
ए० जी० काजी और अन्य बनाम सी० वी० जेठवानी, मुम्बई
(A.G. Kazi and Others *Vs.* C.V. Jethwani, Bombay) ; 102

[1967] (1967) 2 ए० सी० 337 :
दुरयप्पाह बनाम फर्नेण्डो
(Durayappah *Vs.* Fernando) ; 221

[1967] (1967) 2 क्यू० बी० 617 :
एच० के० (एक शिशु)का मामला
[*In re.* H. K. (An infant)] ; 60, 223

[1966] (1966) सप्लीमेण्ट एस० सी० आर० 311 :
बेरियम कैमिकल्स लिमिटेड बनाम **कम्पनी लॉ बोर्ड**
(Barium Chemicals Ltd. *Vs.* Company Law Board) ; 225

[1966] (1966) 3 एस० सी० आर० 744 :
नरेश श्रीधर मिराजकर और अन्य बनाम **महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य**
(Naresh Shridhar Mirajker and Others *Vs.* The State of Maharshtra and Another) ; 41,66

[1966] 381 यू० एस० 1 ; (1966) 14 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179 :
जेमल बनाम **रस्क**
(Zemel *Vs.* Rusk) ; 47,81,113, 139,144, 210

[1965] (1965) 2 एस० सी० आर० 366 :
एसोसिएटेड सीमेण्ट कम्पनीज लिमिटेड बनाम **पी० एन० शर्मा और एक अन्य**
(Associated Cement Companies Ltd. *Vs.* P. N. Sharma and Another) ; 59,60

[1965] (1965) मैसूर लॉ जर्नल 605 :
डॉक्टर एस० एस० सदाशिव राव बनाम **भारत संघ**
(Dr. S.S. Sadashiva Rao *Vs.* The Union of India) ; 75

[1964] (1964) 1 एस० सी० आर० 332 :
खड़क सिंह बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**
(Kharak Singh *Vs.* The State of Uttar Pradesh and Others) ; 3,10,54, 187,199, 212

[1964] (1964) 3 ऑल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 148 :
सी० ई० बी० ड्रेपर एण्ड सन लिमिटेड बनाम **एडवर्ड टर्नर एण्ड सन लिमिटेड**
(C. E. B. Draper and Son Ltd. *Vs.* Edward Turner and Son Ltd.) ; 160,163

[1964]	(1964) ए० सी० 40 : रिज बनाम बाल्डविन (Ridge *Vs.* Baldwin) ;	59,60, 223
[1964]	378 यू० एस० 500; (1964) 12 लॉयर्स एडिशन सैकेण्ड 992 : अपथेकर बनाम सैक्रेटरी ऑफ स्टेट (Aptheker *Vs.* Secretary of State) ;	47,80,81 102,113, 211
[1962]	(1962) 3 एस० सी० आर० 842 : सकाल पेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और अन्य बनाम भारत संघ [Sakal Papers (P) Ltd. and Others *Vs.* The Union of India]	41,66,78 134,185, 202,205
[1962]	(1962) 2 एस० सी० आर० 269 : ऑल इण्डिया बैंक एम्पलाईज एसोसिएशन बनाम नैशनल इण्डस्ट्रियल ट्राइब्युनल (All India Bank Employee's Association *Vs.* National Industrial Tribunal) ;	47,82,83, 134
[1961]	(1961) 1 एस० सी० आर० 128 : देबु बड्क्या ठाकुर बनाम मुम्बई राज्य (Dabu Badkya Thakur *Vs.* The State of Bombay) ;	192
[1960]	(1960) 3 एस० सी० आर० 887 : के० के० कोचुनी बनाम मद्रास राज्य (K. K. Kochuni *Vs.* The State of Madras) ;	123,184, 192,194
[1960]	(1960) 2 एस० सी० आर० 671 : हमदर्द दवाखाना (वक्फ) लाल कुआं, दिल्ली, बनाम भारत संघ [Hamdard Dawakhana (Wakf) Lal Kuan, Delhi *Vs.* The Union of India] ;	183,205

1978(1) eILR(PAT) SC 6

[1960] (1960) 2 एस० सी० आर० 375 :
नरेन्द्र कुमार और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य
(Narendra Kumar and Others *Vs.* The Union of India and Others) ; 85

[1959] (1959) एस० सी० आर० 12 :
एक्सप्रैस न्यूज पेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और एक अन्य बनाम भारत संघ और अन्य
[Express News Papers (P) Ltd. and Another *Vs.* The Union of India and Others] ; 41,67,69, 78,182, 202,205

[1958] (1958) एस० सी० आर० 308 :
वीरेन्द्र बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य
(Virendra *Vs.* The State of Punjab and Another) ; 167

[1958] 357 यू० एस० 116 ; (1958) 2 लॉयर्स एडिसन सैकेण्ड 1204 :
कैण्ट बनाम डल्लस
(Kent *Vs.* Dulles) ; 47,77,78, 79,81, 112,113, 210

[1958] (1958) 59 एन० एल० आर० 457 :
सुगाथदास बनाम जयसिंह
(Sugathadasa *Vs.* Jayasinghe) ; 221

[1955] (1955) 1 एस० सी० आर० 777 :
बम्बई राज्य बनाम भांजी मुंजी
(The State of Bombay *Vs.* Bhanji Munji) ; 192

[1954] (1954) एस० सी० आर० 674 :
द्वारकादास श्रीनिवास बनाम शोलापुर एण्ड वीविंग कम्पनी लिमिटेड
(Dwarkadas Shrinivas *Vs.* The Sholapur and Weaving Co. Ltd.) ; 67

[1954] (1954) एस० सी० आर० 587 :
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल
(The State of West Bengal *Vs.* Subodh Gopal) ; 192

[1953] (1953)ए० सी० 420 :
अटर्नी जनरल फार एलबर्ट बनाम ह्यूगार्ड एसेट्स लिमिटेड
(Attorney General for Alberta *Vs.* Huggard Assets Ltd.) ; 160,163

[1952] (1952) एस० सी० आर० 889 :
बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह
(The State of Bihar *Vs.* Kameshwar Singh) ; 181

[1952] (1952) एस० सी० आर० 597 :
मद्रास राज्य बनाम वी० जी० राव
(The State of Madras *Vs.* V.G. Row) ; 136

[1952] (1952) एस० सी० आर० 435 :
कथी रानिंग रावत बनाम सौराष्ट्र राज्य
(Kathi Raning Rawat *Vs.* The State of Saurashtra) ; 55

[1952] (1952) एस० सी० आर० 284 :
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार
(The State of West Bengal *Vs.* Anwar Ali Sarkar) ; 55

[1951] (1951) एस० सी० आर० 451 :
राम सिंह और अन्य बनाम दिल्ली राज्य
(Ram Singh and Others *Vs.* The Delhi State); 41,66,67, 180,183, 184,187

[1950] (1950) एस० सी० आर० 869 :
चरणजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ और अन्य
(Charanjit Lal Chowdhari *Vs.* The Union of India and Others) ; 181,192

[1950] (1950) एस० सी० आर० 594 :
रमेश थापर बनाम **मद्रास राज्य**
(Ramesh Thappar *Vs.* The State of Madras) ; 78

[1950] (1950) एस० सी० आर० 88 :
ए० के० गोपालन बनाम **मद्रास राज्य**
(A. K. Gopalan *Vs.* The State of Madras) ; 5,9,10, 11,12, 16,40,41, 54,55,66, 67,102, 117,121, 123,124, 134,167, 175,177, 180,181, 184,187, 190,191, 192,194, 197,198, 199,212

[1950] (1950) ए० सी० 235 :
कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया बनाम **बैंक ऑफ न्यू साउथ वेल्स**
(Commonwealth of Australia. *Vs.* Bank of New South Wales) ; 204

[1949] (1949) 1 ऑल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 109 :
रसल बनाम **ड्यूक ऑफ नार्फोक**
(Russel *Vs.* Duke of Norfolk) ; 63,223

[1946] (1946) एफ० सी० आर० 94 :
मोहम्मद मोहियुद्दीन बनाम **किंग एम्परर**
(Mohammad Mohy-ud-Din *Vs.* The King Empror) ; 164

[1945] ए० आई० आर० 1945 पी० सी० 48 :
किंग एम्परर बनाम **बनवारी लाल शर्मा**
(The King Empror *Vs.* Benwari Lal Sharma) ; 124

[1945] (1945) एफ० सी० आर० 65 :
वाल्लेस ब्रदस एण्ड कम्पनी लिमिटेड बनाम आयकर आयुक्त, मुम्बई, सिंध और बलूचिस्तान
(Wellace Brothers and Co. Ltd. *Vs.* The Commissioner of Income Tax, Bombay, Sindh and Baluchistan) ; 164

[1944] ए० आई० आर० 1944 एफ० सी० 51 :
गवर्नर जनरल-इन–काउन्सिल बनाम रेलेह इन्वैस्टमेंट कम्पनी लिमिटेड
(Governor General-in-Council *Vs.* Releigh Investment Co. Ltd.) ; 164

[1940] (1940) एफ० सी० आर० 188 :
सुब्रमणियम् चैट्टियार का मामला
(Subramaniam Chattiar's case) ; 207

[1937] (1937) ए० सी० 863 :
गेल्लाघेर बनाम लिन्न
(Gallagher *Vs.* Lynn) ; 207

[1928] (1928) 1 के० बी० 411 :
सम्राट बनाम लैजिस्लेटिव कमेटी ऑफ दि चर्च असेम्बली
(Rex *Vs.* Legislative Committee of the Church Assembly) ; 59

[1924] (1924) 1 के० बी० 171 :
सम्राट बनाम इलैक्ट्रिसिटी कमिश्नर्स
(Rex. *Vs.* Electricity Commissioners) ; 59

[1918] (1918) ए० सी० 557 :
डी वरटियूइल बनाम नेग्गज
(De Verteuil *Vs.* Knaggs) ; 222

[1909] (1909) 2 के० बी० 61 :
टोमलिन बनाम एस० पियरसन एण्ड सन्स लिमिटेड
(Tomalin *Vs.* S. Pearson and Sons Ltd,). 163

[1901] (1901) ए० सी० 102 :
कुक बनाम चार्ल्स ए० वोगलर कम्पनी
(Cooke *Vs*. Charles A. Vogeler Co.) ; 163

[1896] (1896) 2 क्यू० बी० 425 :
क्वीन बनाम जेमसन और अन्य
(The Queen *Vs*. Jameson and Others) ; 163

[1878] 48 एल० जे० पी० 1 :
निबॉयट बनाम निबॉयट
(Niboyet *Vs*. Niboyet) ; 163

[1863] (1863) 14 सी० बी० (एन० एस०) 180 :
कूपर बनाम वैण्ड्सवर्थ बोर्ड ऑफ वर्क्स
(Cooper *Vs*. Wandsworth Board of Works) ; 33,57, 221

[1723] 1 स्ट्र 557 : बोड० रिप० 148 :
डॉक्टर बेण्टले का मामला
(Dr. Bentley's Case). 221

आरम्भिक अधिकारिता : 1977 का रिट पिटीशन संख्या 231).

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किया गया रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से — सर्वश्री मदन भाटिया और डी० गोबर्धन

प्रत्यर्थियों की ओर से — श्री एस० वी० गुप्ते, महान्यायवादी श्री सोली जे० सोराबजी, अपर महासालिसिटर, सर्वश्री आर० एन० सचदे और के० एन० भट्ट

मध्यक्षेपी की ओर से — सर्वश्री राम पंजवानी, विजय पंजवानी, राज पंजवानी, (एस० के० बग्गा और) श्रीमती एस० बग्गा

अभिलेख अधिवक्ता

पिटीशनर की ओर से — श्री मदन भाटिया

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री आर० एन० सचदे

मध्यक्षेपी की ओर से मैसर्स बग्गा एडवोकेट्स

मुख्य न्यायाधिपति एम० एच० बेग के मतानुसार।

मुख्य न्यायाधिपति बेग—

हमारे समक्ष प्रस्तुत इस मामले में आधारभूत मानवीय अधिकारों से सम्बन्धित प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हैं। मेरा विश्वास है कि इन प्रश्नों के सम्बन्ध में इस न्यायालय के प्रत्येक सदस्य का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए अनेक मत व्यक्त करना उस दशा में लाभकारी नहीं है, यदि वह हमारे उन दृष्टिकोणों को स्पष्ट करता है जो कि प्रायः भिन्न होते हैं। उससे सभी हितबद्ध व्यक्ति हमारे संविधान के महत्व को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे।

2. चूंकि मैं अपने विद्वान् बन्धु भगवती और कृष्ण अय्यर से साधारणतः सहमत हूं, इसलिए मैं, अपने विचारों को हमारे समक्ष इस समय विचारार्थ प्रस्तुत किन्हीं विषयों के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण विषयक संकेत तक ही सीमित रखने की कोशिश करूंगा। यह बात मुझे विशिष्ट रूप से आवश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि मेरे विद्वान् बन्धु कैलाशम् का, जिन्होंने हमें अपनी अलग राय जानने का फायदा दिया है, कुछ भिन्न मत है। मुझे अपने तीनों विद्वान् बन्धुओं में से प्रत्येक के विचारों को पढ़ने का लाभ मिला है।

3. मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में कोई भी संदेह नहीं है कि यात्रा करने और देश के बाहर जाने का अधिकार जो पासपोर्टों का विनियमन, जारी करने, निलम्बन या जब्ती और रद्दकरण करने वाले आदेशों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है, इस न्यायालय के उन विनिश्चयों के आधार पर, जिनमें, दैहिक स्वाधीनता' के अधिकार की बहुत ही विस्तृत परिधि बतायी गई है, 'दैहिक स्वाधीनता' के अधिकारों में शामिल होना चाहिए देखिए—**सतवन्त सिंह साहनी बनाम डी, रामरत्नम, सहायक पासपोर्ट अधिकारी भारत सरकार, नई दिल्ली और अन्य**[1] और **खड़क सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[2]।

---

1 (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

2 (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

4. संविधान का अनुछेद 21 निम्नलिखित रूप में है——

"प्राण् और दैहिक स्वाधीनता का संरक्षण :—किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार वंचित न किया जाएगा।"

5. यह स्पष्ट है कि यद्यपि अनुच्छेद 21 इस प्रकार से विरचित किया गया है जिससे कि वह ऐसी ढाल के नीचे आने वाली किसी भी वस्तु पर कार्यपालक अनुचिताधिकार के विरुद्ध नकारात्मक रूप से प्रवृत्त होने वाली ढाल के रूप में प्रतीत होता है, तथापि वह संरक्षण या ढाल दोनों को तथा उस वस्तु को भी जिसकी वह सरक्षा करता है जो कि उस ढाल के नीचे रहती है विधिक मान्य देता है। इस प्रकार, उसका निर्वचन **ए० के० गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में ही पहले किया जा चुका है, जिसमें, जैसा कि मैंने **अपर जिला मजिस्ट्रेट, जबलपुर** बनाम **शिवकान्त शुक्ल और अन्य**[2] वाले मामले में बताया है, न्यायाधिपति पातन्जलिक शास्त्री (पृष्ठ 195 से 196) न्यायाधिपति महाजन (पृष्ठ 229-230) और न्यायाधिपति दास (पृष्ठ 295 और 306-307) के निर्णयों में से लिये गये उद्धरणों की सहायता से उसका निर्वचन किया गया था। मैं उन अवतरणों में जो कि मैंने वहां पर प्रोद्धृत किये थे, मुख्य न्यायाधिपति कानिया के निर्णय में से कुछ जोड़ना चाहूंगा, जिन्होंने भी, अनुच्छेद 21 और 19 के उद्देश्यों और प्रकृति के सम्बन्ध में प्रभेद करते हुए, अनुच्छेद 21 की पर्याप्त रूप से विस्तृत प्रविष्य के सम्बन्ध में बताया था।

6. मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने (पृष्ठ 106-107) पर यह मत व्यक्त किया था——

"दैहिक स्वाधीनता से वंचित किया जाना या उसका पूरी तरह से चला जाना) जिसके अन्तर्गत, अन्य बातों के साथ, उस समय भोजन करने या सोने का, जब कि कोई चाहे, या उस समय काम करने का या काम न करने का जैसे और जब कि कोई पसन्द करे, अधिकार और ऐसे अनेक अधिकार आते हैं जो कि अनुच्छेद 21 में, 'दैहिक स्वाधीनता' अभिव्यक्ति द्वारा संरक्षित

---

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

2 (1976) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 172=[1976] 3 उम० नि० प० 1.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

होने के लिए ईप्सित है, अनुच्छेद 19(1) (घ) द्वारा यथा-सुरक्षित अबाध संचरण के अधिकार के (जो कि नागरिक का सापेक्षतः एक छोटा अधिकार है) निर्बन्धन से (जो कि मात्र भागिक नियन्त्रण है) बिलकुल भिन्न है। दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने का अर्थ वही नहीं है जो कि भारत राज्य क्षेत्र में अबाध संचरण पर निर्बन्धन का होता है। जबकि दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 8 के जो कि शान्ति, सुरक्षा या लोक व्यवस्था के बनाए रखने से सम्बन्धित है, उपबन्धों को पढ़ा जाता है, तो यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है। अतः अनुच्छेद 19(5) ऐसी मुख्य विधि को लागू नहीं हो सकता है जो कि किसी नागरिक को उसकी दैहिक स्वाधीनता से वंचित करती है। मैं यह दलील स्वीकार करने में असमर्थ हूं कि जब अनुच्छेद 21 का निर्वचन किया जा रहा हो 'तो वंचित किया जाना' शब्दों की परिधि के अन्तर्गत 'निर्बन्धन' आता है। अनुच्छेद 22 में निवारक निरोध की विधि के सम्बन्ध में अनुध्यात है। उसी प्रकार से सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 9, और सूची 3 की प्रविष्टि 3 के साथ पठित अनुच्छेद 246 में भी वही बात अनुध्यात है। अतः जबकि निवारक निरोध का विषय मूल-अधिकारों से सम्बन्धित अध्याय में विनिर्दिष्ट रूप से उपबन्धित है, तो मैं निवारक निरोध की अनुज्ञा देने वाले विधान की बाबत यह मानना उचित नहीं समझता कि वह अनुच्छेद (1) में उल्लिखित अधिकारों का अतिलंघन करता है। अनुच्छेद 19 (1) से स्वाधीनता या दैहिक स्वाधीनता के सभी पहलुओं को अपनी परिधि के भीतर लेना तात्पर्यित नहीं है। उस अनुच्छेद में स्वाधीनिता की कतिपय अवस्थाओं के सम्बन्ध में ही उपबन्ध किया गया है। 'दैहिक स्वाधीनता' से मुख्यतः शारीरिक स्वतन्त्रता अभिप्रेत है। अनुच्छेद 19(1) के अधीन दिये गये अधिकार उस वर्णन के अधीन प्रत्यक्षतः नहीं आते हैं। वे ऐसे अधिकार हैं जो कि किसी व्यक्ति के स्वातंत्र्य या स्वाधीनता के साथ-साथ चलते हैं। अपनी प्रकृति के कारण ही, वे ऐसे व्यक्ति के स्वातंत्र्य हैं जिसके पूरे कब्जे में अपनी दैहिक स्वाधीनता रहती है। यदि अनुच्छेद 19

की बाबत यह समझा जाता है कि मात्र वह ऐसा अनुच्छेद है जो कि दैहिक स्वाधीनता की रक्षा करता है, तो भली-भान्ति मान्य अनेक अधिकार, उदाहरणार्थ, भोजन करने या पीने का अधिकार काम करने, खेलने, तैरने का अधिकार और अनेक अन्य अधिकार और क्रियाकलाप तथा प्राण रक्षा का अधिकार भी, संविधान के अधीन संरक्षित नहीं समझे जाएंगे। मैं यह नहीं समझता हूं कि वह आशय है। मुझे अनुच्छेद 19 का ऐसा अर्थान्वयन करना अनुचित प्रतीत होता है कि उसमें उसी विषय के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है जो कि अनुच्छेद 21 में किया गया है। अनुच्छेद 19 भारत के नागरिकों को ही उसमें विनिर्दिष्ट अधिकार देता है जबकि अनुच्छेद 21 सभी व्यक्तियों को लागू होता है। 'नागरिक' शब्द की परिभाषा भारत के संविधान में अभिव्यक्त रूप से की गई है, जिससे कि भारत के निवासियों के कतिपय वर्ग उपदर्शित हैं। इस के अलावा अनुच्छेद 21 द्वारा दिया संरक्षण बहुत ही साधारण है। यह 'विधि' की बाबत है—चाहे जो भी उस अभिव्यक्ति का अर्थ किया जाए। विधि बनाने की विधान-मंडल की शक्ति पर विधायी निर्बन्धन विस्तार से इसमें विहित नहीं किए गए हैं जैसा कि अनुच्छेद 19 में विनिर्दिष्ट अधिकारों की दशा में किया गया है। अतः मेरी राय में, अनुच्छेद 19 का अर्थान्वयन पृथक और पूर्ण अनुच्छेद के रूप में किया जाना चाहिए"।

7. उस मामले में, न्यायाधिपति मुखर्जी ने यह स्वीकार करने के बाद कि अनुच्छेद 19(1)(घ) द्वारा दिए गए अधिकारों का, प्रसंगवश निवारक निरोध के आदेश के कारण उल्लंघन हो जाएगा (पृष्ठ 261 पर देखिए) और यह राय व्यक्त करते हुए कि ब्लैकस्टन ने 'दैहिक स्वाधीनता' पद को अधिक विस्तृत महत्व दिया था, जिसके अन्तर्गत, जैसा कि ए० के० गोपालन के विद्वान् काउन्सेल श्री नामबीर इस न्यायालय से निष्कर्ष निकलवाना चाहते थे, संचलन का अधिकार आ सकता है, 'दैहिक स्वाधीनता' की, 'शारीरिक मजबूरी या प्रपीड़न से स्वतंत्रता मात्र के रूप में' अधिक संकुचित अर्थव्याप्ति बताई थी। न्यायाधिपति मुखर्जी ने अपने इस अधिक निर्बन्धित दृष्टिकोण के लिए डायसी के इस मत को प्रोद्धृत किया, कि 'दैहिक स्वाधीनता' से ऐसा "दैहिक अधिकार अभिप्रेत

है जो कि कारावास, गिरफ्तारी या अन्य शारीरिक प्रपीड़न के अध्यधीन किसी ऐसी रीति से न हो, जिसका विधिक न्यायौचित्य न हो ।' उसके बाद उसने कहा :—

"मेरी राय में, यह किसी भी प्रकार की शारीरिक मजबूरी या प्रपीड़न के अध्यधीन न रहने का नकारात्मक अधिकार है जो कि दैहिक स्वाधीनता का सार है, न कि भारतीय राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में अबाध संचरण का स्वातंत्र्य मात्र ।"

अपने संविधान की प्रारूपण समिति के विचारों के प्रति निर्देश करने के बाद न्यायाधिपति मुखर्जी ने यह मत व्यक्त किया कि—(पृष्ठ 263)

"इस प्रक्रम में यह कहना पर्याप्त है कि यदि प्रारूपण समिति की रिपोर्ट ऐसी समुचित सामग्री है जिस पर संविधान के शब्दों का निर्वचन आधारित हो सकता था, तो वह निश्चित रूप से आवेदक की दलील के विरुद्ध है और उससे ये दर्शित होता है कि संविधान के अनुच्छेद 19(1)(घ) में प्रयुक्त शब्दों से वही बात अभिप्रेत नहीं है जो कि अनुच्छेद 21 में आयी हुई 'दैहिक स्वाधीनता' अभिव्यक्ति से अभिप्रेत है । यह भली-भांति ज्ञात है कि 'स्वाधीनता' अभिव्यक्ति का जैसी कि वह है, युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका की सुप्रीम कोर्ट ने बहुत ही विस्तृत अर्थ किया है । उसके अन्तर्गत न केवल शारीरिक मजबूरी से दैहिक स्वाधीनता आती है, बल्कि किसी की अपनी सम्पत्ति के अबाध उपयोग का तथा अबाध संविदात्मक सम्बन्ध बनाने का अधिकार भी आता है । दूसरी ओर, भारत के संविधान में 'दैहिक स्वाधीनता' का जानबूझकर उपयोग इस प्रकार किया गया है जिससे कि वह बन्दीकरण द्वारा या अन्यथा व्यक्ति की शारीरिक मजबूरी से स्वतन्त्रता ही सीमित रहे ।"

8. लेकिन न्यायाधिपति फ़ज़ल अली ने (पृष्ठ 148 पर) यह मत व्यक्त किया था—

"मेरे विचार से, उस अध्याय की युक्ति में, जिसमें मूल अधिकारों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, वह बात अनुध्यात नहीं है जिसके होने की बात कही गई अर्थात् यह कि प्रत्येक

अनुच्छेद स्वयं संहिता है और वह अन्य अनुच्छेदों पर निर्भर नहीं है । मेरी राय में, यह नहीं कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 19, 20, 21 और 22, उस सीमा तक एक दूसरे का अतिव्यापन करते हैं । ऐसे व्यक्ति का जो कि किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है, अनुच्छेद 20 और 21 के अधीन तथा अनुच्छेद 22 के अधीन भी, मामला वहां तक आता है जहां तक कि उसकी गिरफ्तारी और विचारण के पूर्ण अभिरक्षा में निरोध का सम्बन्ध है । निवारक निरोध, जिसकी बाबत अनुच्छेद 22 में उपबन्ध किया गया है, ऐसी दैहिक स्वाधीनता से वंचित किए जाने की कोटि में भी आता है जो कि अनुच्छेद 21 में निर्दिष्ट है और उससे अनुच्छेद 19(1)(घ) में उपबन्धित संचरण के स्वातंत्र्य के अधिकार का अतिक्रमण होता है । इस बात की व्याख्या कि संविधान में अनुच्छेदों के अतिव्यापन करने के अन्य उदाहरण हैं, अनुच्छेद 19(1)(च) तथा अनुच्छद 31 के प्रति निर्देश करके कर सकते हैं जिनमें से दोनों में सम्पत्ति के अधिकार और की बाबत उपबन्ध किया गया है और जो कि उस सीमा तक एक दूसरे का अतिव्यापन करते हैं ।"

9. जैसा कि मेरे विद्वान् बन्धु भगवती ने इन मामलों के, जैसे कि **हराधन साहा** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[1] और **शम्भू नाथ सरकार** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[2] वाले मामलों के प्रति विस्तृत रूप से निर्देश करके, बताया है, यह मत को कि अनुच्छेद 19 और 21 एक दूसरे से इस प्रकार पूर्णतः पृथक हैं कि दैहिक स्वाधीनता के सभी पहलुओं को संविधान के अनुच्छेद 19 से अपवर्जित किया जा सकता है, इस बात के परिणामस्वरूप छोड़ना पड़ा था जिसे **रुस्तम कावसजी कूपर** बनाम **भारत संघ**[3] वाले मामले में इस न्यायालय की अधिक बड़ी न्यायपीठ ने अधिक अच्छा मत माना था । अतः हम न तो उस उलटे गए सिद्धान्त का पुर्नविलोकन कर सकते थे और न ही हम अब यह अभिनिर्धारित कर सकते थे कि पासपोर्ट की जब्ती या रद्दकरण संविधान द्वारा गारन्टीवृत मूल अधिकारों का अतिलंघन नहीं करता है या उन पर प्रभाव नहीं डालता

[1] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

[2] (1973) ए1 एस० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411.

[3] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

है । मैं यह भी व्यक्त कर सकता हूं कि यह सिद्धान्त कि अनुच्छेद 19 और 21 भिन्न-भिन्न रीतियों से संरक्षा करते हैं या विनियमित करते हैं जो इस न्यायालय द्वारा ए० के० गोपालन वाले मामले[1] में निश्चित रूप से स्वीकार किया गया प्रतीत होता है, उस संदर्भ में अधिकथित किया गया था, जो कि उससे बहुत ही भिन्न था जिसमें वह दृष्टिकोण अधिक ठीक मत को समाप्त कर दिया गया था कि संविधान का अर्थान्वयन, उस विषयवस्तु के सम्भावित अतिव्यापनों सहित, सम्पूर्ण रूप से किया जाना चाहिए, जिसका उसके विभिन्न उपबन्धों द्वारा, विशिष्ट रूप से मूल अधिकारों से सम्बन्धित अनुच्छेदों द्वारा, संरक्षित किया जाना ईप्सित है।

10. ए० के० गोपालन वाले मामले[1] में, जो बात विवाद्य थी, वह यह थी कि क्या निवारक निरोध द्वारा दैहिक स्वाधीनता से वंचित किए जाने के लिए विधिमान्य प्रक्रिया अनन्य रूप से संविधान के अनुच्छेद 22 में मिलेगी या कि हमें 'विधि की किसी सम्यक् प्रक्रिया' के तत्त्व उसके बाहर से भी प्राप्त हो सकते हैं और उनका उपयोग उस विधि की जिसमें निवारक निरोध के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया हो विधिमान्यता को कसौटी पर कसने के लिए कर सकते हैं । जबकि हमारे संविधान-निर्माता मामूली मानकों से विचलन की बात स्वीकार कर रहे थे, तब उन्होंने आपवादिक परिस्थितियों में विशिष्ट कारणों से विचारण किए बिना निवारक निरोध के लिए विधियां बनाने की अनुज्ञा देकर, संविधान के अनुच्छेद 22 में ही बहुत ही विस्तार के साथ यह बात उपबन्ध कर दी थी कि निवारक निरोध से सम्बन्धित ऐसी विधि की किन अपेक्षाओं की पूर्ति अवश्य ही की जानी चाहिए । ऐसी विधियों की प्रक्रिया सम्बन्धित अपेक्षाएं प्रत्याभूत मूल-अधिकारी का अलग से भाग थी । अतः जब कि इस न्यायालय से यह प्रार्थना की गई कि निवारक निरोध से सम्बन्धित उपबन्धों की विधिमान्यता के सम्बन्ध में निर्णय दिया जाए, तो उसने ए० के० गोपालन वाले मामले[1] में यह अधिकथित किया कि ऐसी विधियों के सम्बन्ध में 'सम्यक् प्रक्रिया' की कसौटियां अनन्य रूप से संविधान के अनुच्छेद 22 में इसलिए प्राप्त हो सकती हैं, क्योंकि यह अनुच्छेद इस वर्णन की विधियों

---

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

के लिए स्वयं पूर्ण संहिता है । मेरी राय में, गोपालन वाले (उपर्युक्त) मामले का वास्तविक विनिश्चयाधार वही था । मुझे, अत्यधिक सम्मान के साथ, ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 21 और 19 की विषय-वस्तुओं की पृथक्करणीयता से सम्बन्धित अन्य मत मात्र इतरोक्ति थे । गोपालन वाले मामले में जो विद्वान् न्यायाधीश थे, उनमें से अधिकांश को यह प्रतीत हुआ होगा कि वह उसी तर्क के विस्तार मात्र थे, जो कि उन्होंने संविधान के अनुच्छेद 21 और 22 के बीच वाले सम्बन्ध की बाबत अपनाया था । किन्तु उसमें वास्तविक विवाद यह था कि क्या, संविधान के अनुच्छेद 22 को देखते हुए जिसमें निवारक निरोध से सम्बन्धित विधि की प्रक्रियात्मक विधिमान्यता की सभी कसौटियां उपबन्धित हैं, अन्य कसौटियों को संविधान के अनुच्छेद 19 से या अनयत्र से 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की परिधि के भीतर लाया जा सकता है। बहुमत का जो मत था, वह यह था कि ऐसा नहीं हो सकता था । मैं समझता हूं यदि उसे यह कल्पना करने का साहस हो कि इस न्यायालय के विद्वान् न्यायधीशों की राय उस दशा में क्या हुई होती, यदि अन्य प्रकार की विधि या दैहिक स्वाधीनता के ऐसे अन्य पहलू, जो कि इस न्यायालय के समक्ष **सतवन्त सिंह वाले मामले**[1] में या **खड़क सिंह वाले मामले**[2] थे, उनके समक्ष पेश हुए होते, तो वही दृष्टिकोण या वही भाषा उनके द्वारा न अपनाई गई होती । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि **ए० के० गोपालन वाले मामले**[3] के इस पहलू को उस दशा में याद रखना महत्व-पूर्ण है, यदि हमें ठीक-ठीक यह समझना है कि उस मामले में क्या अधिकथित किया गया था ।

11. मैंने **अपर जिला मजिस्ट्रेट, जबलपुर वाले मामले**[4] में प्रोद्धृत अवतरण के प्रति यह दर्शित करने के लिए पहले ही निर्देश कर दिया है कि **ए० के० गोपालन वाले मामले**[3] में भी इस न्यायालय के न्यायाधीशों के बहुमत का यह विचार था कि अनुच्छेद 21 द्वारा संरक्षित दैहिक स्वाधीनता की परिधि विस्तृत और व्यापक है । उसके अन्तर्गत दैहिक स्वाधीनता के मुख्य अधिकार और उनको वंचित

---

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

[2] (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

[3] (1950) एस० सी० आर० 88.

[4] (1976) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 172=[1976] 3 उम० नि० प० 1.

किए जाने के लिए उपबन्धित प्रक्रिया दोनों ही बातें आ जाती हैं किन्तु यह बात कही जा सकती है कि 'विधि की सम्यक् प्रक्रिया' का प्रश्न अनुच्छेद 22 द्वारा अधिकथित निवारक निरोध की प्रक्रिया सम्बन्धी अपेक्षाओं के इलावा, ऐसे मामले में जिस पर **गोपालन वाले (उपर्युक्त)**[1] मामले में इस न्यायालय ने विचार किया था, वास्तव में उत्पन्न नहीं हो सकता है । अनुच्छेद 22 का स्पष्ट अर्थ यह है कि निवारक निरोध के मामले में 'विधि की सम्यक् प्रक्रिया' की अपेक्षाओं की पूर्ति इस बात से हो जाती है, जोकि स्वयं संविधान के अनुच्छेद 22 द्वारा उपबन्धित है । इस अनुच्छेद में निवारक निरोध के मामलों के लिए 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का नमूना उपदर्शित है।

12. किन्तु अनुच्छेद 22 की परिधि में न आने वाली विधियों से सम्बन्धित दैहिक स्वाधीनता से वंचित किए जाने या निर्बन्धनों से सम्बन्धित प्रश्नों का **गोपालन वाले मामले**[1] से वस्तुतः कोई उत्तर नहीं मिलता । यदि इस बात को इस प्रकार से पेश किया जाये, तो निवारक निरोध के मामलों के लिये 'सम्यक् प्रक्रिया' का क्षेत्र पूरी तरह से अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत आता है, किन्तु उस क्षेत्र के अन्य भाग जो अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत नहीं आते हैं, उसके विनिर्दिष्ट उपबन्धों के भीतर नहीं आते हैं । मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दैहिक स्वाधीनता के विस्तृत क्षेत्र के ऐसे प्रभाग जो कि उसके अन्तर्गत नहीं आते हैं, मुख्यतया प्रक्रिया सम्बन्धी ऐसी विधियों को, जिनके अन्तर्गत उन्हें लाया गया हो, संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 दोनों की ही अपेक्षाओं की पूर्ति अवश्य ही करनी होगी ।

13. ऐसे अनुच्छेद जिनमें संविधान के भाग-III में अन्तर्विष्ट भिन्न-भिन्न मूल अधिकारों के सम्बन्ध में उपबन्ध किए गए हैं, ऐसे अधिकारों की पूर्णतः पृथक धाराएं नहीं होते हैं जोकि मुद्दों पर उससे मेल नहीं खाता है । वे सभी संविधान में सुसम्बद्ध युक्ति के भाग हैं । (सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक) अबाधित और निष्पक्ष न्याय न केवल विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की, बल्कि संगम, संचरण, व्यवसाय या उपजीविका की तथा युक्तियुक्त सम्पत्ति के अजन और कब्जे की भी स्वतन्त्रता, (प्रतिष्ठा की और विश्वास की जिससे व्यष्टियों,

---

[1] (1950) एस० सी० आर 88.

समूहों और वर्गों के बीच अयक्तियुक्त या अनुचित विभेद का न होना विवक्षित है) समता और (व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली) बन्धुता की उस विस्तृत धारा को सृष्ट करने की दृष्टि से उन उपबन्धों में अवश्य ही समन्वय होना चाहिए, जो कि हमारे संविधान में परिकल्पित हैं । मानव स्वतन्त्रता के विभिन्न पहलुओं के प्रयोजनों के लिये, उनका पृथक्करण भी तो वास्तविक है और न ही लाभदायक, बल्कि उससे ऐसी संरक्षा के उद्देश्य ही समाप्त हो जाएंगे।

14. हमें यह स्मरण रखना है कि संविधान के भाग-III द्वारा संरक्षित ऐसे मूल अधिकार, जिनमें से अनुच्छेदों 14, 19 और 21 को सबसे अधिक लागू किया जाता है, ऐसे कार्यपालक तथा विधायी कार्यों की विधिमान्यता की कसौटी हैं जब कि वे कार्य न्यायिक संवीक्षा के अध्यधीन होते हैं। हम अनुच्छेद 14 या 19 को इस प्रकार से कार्य करने से शक्तिहीन नहीं बना सकते और उन कार्यपालक और विधायी कार्यों को, जिनको कि वे लागू हो सकते थे, तब भी जब भारत में आपात्-कालीन स्थिति नहीं है, संदिग्ध वैधता के कार्यों का समर्थन करने के लिए अप्रश्नगत नहीं मान सकते हैं । मेरी राय में ये कसौटियां हमें अब अधिनियम की धारा 10(3)(ग) की तथा 7 जुलाई, 1977 वाले आक्षेपित आदेश की सांविधानिक विधिमान्यता को अवधारित करने के लिए उपलभ्य है जो कि 'जन-साधारण के हित में' पिटीशनर का पासपोर्ट जब्त करते हुए और यह कथन करते हुए कि सरकार ने कारण बताने वाले पत्र की प्रति प्रस्तुत न करने का विनिश्चय किया है, और अधिनियम की धारा 10(5) के अधीन ऐसे प्रकटीकरण से उनमुक्ति प्राप्त करने का दावा करते हुए, पिटीशनर के विरुद्ध पारित किया गया है ।

15. जबकि मैं संविधान के अनुच्छेद 21 के प्रविषय का विवेचन कर रहा था, उस समय सह अभिनिर्धारित करने के लिए कि उसकी परिधि बहुत ही विस्तृत है । मैंने उन नजीरों में से कुछ का उल्लेख पहले ही कर दिया, जिनका अवलम्ब मैंने **अपर जिला मजिस्ट्रेट, जबलपुर** बनाम **शिवकान्त शुक्ल**[1] वाले मामले में लिया था । अब मैं यह दर्शित करूंगा कि पिटीशनर ने जिन विशिष्ट अधिकारों का दावा किया है,

[1] (1976) सप्लीमेन्ट एस० सी० आर० 172.=[1976] 3 उम०नि० प० 1.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

वे अनुच्छेद 19 और 21 की परिधि के भीतर क्यों आते हैं और ऐसे अधिकारों की प्रकृति और मूल क्या है ।

16. **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में न्यायाधिपति मुखर्जी ने इंगलैंड की विधियों के संबंध में ब्लैक्सटन की प्रख्यात टीका के प्रति निर्देश किया । उसमें से कुछ अवतरणों को उद्धृत करना शिक्षाप्रद होगा, भले ही न्यायशास्त्रीय तर्कणा में उस समय से जबकि ब्लैक्सटन ने ग्रन्थ लिखा था, बहुत परिवर्तन हो चुका है । जसा कि उसमें बताया गया है, ऐसे विषयों के संबंध में हमारी आधारिक संकल्पनाओं में ऐसे आधार बताये गये हैं जिन पर बाद की उच्च संकल्पनाएं आधारित थीं । सौभाग्य-वश इन आधारों में से कुछ यथावत हैं । ब्लैक्सटन ने यह मत व्यक्त किया था --

> "नैसर्गिक न्याय की यह विधि, जोकि मानव जाति की समकालीन है और जिसे स्वयं भगवान ने बनाया था, निश्चित रूप से किसी अन्य विधि से, बाध्यता की दृष्टि से, श्रेष्ट है । यह सभी देशों में, सभी समयों पर समस्त संसार में आबद्धकर है, यदि मानव विधियां इसके प्रतिकूल हैं, तो उनकी कोई भी विधि-मान्यता नहीं है; और उनमें से ऐसी विधियां जोकि विधिमान्य हैं, अपना सभी बल और अपने सभी प्राधिकार, व्योहित या अव्योहित रूप से, इस मूल से ही प्राप्त करती है ।"

17. परमात्मा की इच्छा या परमात्मा के आदेश के साथ नैसर्गिक विधि की अनन्यता जोकि बहुत ही समझने वाली बात है, उस समय समाप्त हो जाती है जबकि लोग भगवान को, स्वयं मनुष्य की प्रकृति में अन्तर्निहित सर्वोच्च गुणों में देखते हैं यदि वे उसे कहीं देखें तो किन्तु नैसर्गिक विधि का विचार, न्याय संगत किस्म के नैतिकतः तथा अनिवार्य सिद्धांत के रूप में, सभी व्यक्तियों (जिस पद के अन्तर्गत स्त्री भी आती है) के अनन्य संक्राम्य और अन्तर्निहित अधिकारों को, विधि के समक्ष सामान रूप में मान्यता देते हुए, आज भी विद्यमान है। मैं समझता हूं कि वह हमारे अपने संविधान में समाविष्ट हैं । मैं नहीं समझता हूं कि हम नैसर्गिक अधिकार संबंधी ब्लैक्सटन के सिद्धांत

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

को यह कह कर कि वह हमारे लिये आज पूरी तरह से असंगत है, अस्वीकृत कर सकते हैं ।

18. ब्लैक्सटन ने नैसर्गिक या आत्यन्तिक अधिकारों का अपना दर्शन निम्नलिखित पदों में प्रस्तुत किया था—

> यदि मनुष्य को ऐसे स्वतन्त्र अभिकर्ता के रूप में समझा जाये जोकि बुराई के मुकाबले अच्छाई को जानने के लिए विवेक से और उन अध्युपायों का जोकि उसे सर्वाधिक वांछनीय प्रतीत हों, चुनाव करने की शक्ति से युक्त है, उसके आत्यंतिक अधिकार एक साधारण अभिधान के अधीन संक्षेप में व्यक्त किये जाते हैं और वे मानव जाति की नैसर्गिक स्वाधीनता के रूप में अविहित किए जाते हैं । यह नैसर्गिक स्वाधीनता, प्राकृतिक विधि द्वारा अवरोध या नियंत्रण करने के सिवाय, किसी अवरोध या नियंत्रण के बिना, उस प्रकार कार्य करने की जैसे कि कोई ठीक समझता है, शक्ति है । हममें यह अधिकार जन्म से अन्तर्निहित है और भगवान का मनुष्य को मुक्त इच्छा के गुण से युक्त करना, मनुष्य की सृष्टि के समय परमात्मा द्वारा उसे दिये गये उपहारों में से एक है । किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उसे समय जबकि वह समाज में प्रवेश करता है, ऐसे अमूल्य क्रय की कीमत के रूप में, अपनी नैसर्गिक स्वाधीनता का एक भाग त्याग देता है, और परस्पर लेन-देन का लाभ प्राप्त करने के प्रतिफलस्वरूप वह उन विधियों के अनुरूप अपने को बनाने के लिये बाध्य करता है, जिन्हें समुदाय ने स्थापित करना उचित समझा । और विधि का इस प्रकार पालन करना और उसके अनुरूप चलना ऐसी जंगली और बर्बर स्वाधीनता की अपेक्षा अनन्तरूप से अधिक वान्छनीय है, जिसका बलिदान उसे अभिप्राप्त करने के लिये किया जाता है । क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो कि थोड़ा भी सोचता है जो कुछ भी वह चाहे, उसे करने की आत्यंतिक और अनियन्त्रित शक्ति बनाये रखना न चाहेगा, जिसका परिणाम यह है कि प्रत्येक अन्य व्यक्ति को भी वही शक्ति प्राप्त होगी और तब जीवन के सुखों में से किसी का भी उपभोग करने के लिये व्यक्तियों

को कोई भी सुरक्षा प्राप्त नहीं होगी। इसलिये राजनीतिक या नागरिक स्वाधीनता जोकि समाज के सदस्य की स्वाधीनता होती है, उस नैसर्गिक स्वाधीनता से भिन्न कुछ भी नहीं होती है जोकि मानव की विधियों द्वारा उस सीमा तक अवरुद्ध थी जसी कि जनता के साधारण लाभ के लिए आवश्यक और समीचीन है।

प्रत्येक अंग्रेज के आत्यन्तिक अधिकार (जोकि राजनीतिक और व्यापक अर्थों में समझे जाने पर) प्राय: उनकी स्वतन्त्रतायें कहलाते हैं क्योंकि वे प्रकृति और तर्क पर आधारित होने के कारण उस सरकार के जैसी कि हमारी सरकार है, समसामयिक है; यद्यपि कभी-कभी वे घटते-बढ़ते रहते हैं और उनमें तबदीली भी होती है, क्योंकि उनकी स्थापना (जैसी कि वह है बहुत अच्छी है) अब भी माननीय है।

****और इन्हें तीन मुख्य और प्रधान अनुच्छेदों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, दैहिक सुरक्षा का अधिकार, दैहिक स्वाधीनता का अधिकार, और निजी सम्पत्ति का अधिकार, क्योंकि विवशता का या मनुष्य की नैसर्गिक स्वतन्त्र इच्छा को न्यून करने का कोई अन्य ज्ञात ढंग नहीं है, किन्तु इन महत्वपूर्ण अधिकारों में से इसी या अन्य का अतिलंघन या ह्रास करके इन अनतिक्रमणीय अधिकारों के परिरक्षण की बाबत न्यायसंगत रूप से यह कहा जा सकता है कि उसके अन्तर्गत व्यापकतम और सर्वाधिक विस्तृत अर्थ में हमारी नागरिक उन्मुक्तियों का परिरक्षण आता है :

I. दैहिक सुरक्षा का अधिकार किसी व्यक्ति के जीवन, उसके शरीर, उसके अंगों, उसके स्वास्थ्य और उसकी ख्याति के विधिक और अबाधित उपभोग में समाविष्ट हैं।

II. दैहिक सुरक्षा के बाद, इंग्लैंड की विधि व्यक्तियों की दैहिक स्वाधीनता का सम्मान करती है, उस पर बल देती है और उसकी परिरक्षा करती है, यह दैहिक स्वाधीनता, विधि के सम्यक अनुक्रम में किये जाने के सिवाय, कारावास या अवरोध के बिना, संचालन की या स्थान बदलने की या किसी के शरीर को वहां ले जाने की, जहां कहीं भी उसकी इच्छा हो, शक्ति

में समाविष्ट है । इसके संबंध में हम वैसे ही विचार व्यक्त कर सकते हैं जैसे कि पूर्ववर्ती अनुच्छेद के संबंध में व्यक्त किये गये थे और अर्थात् यह अधिकार यथार्थ रूप में नैसर्गिक है; यह कि इंग्लैंड की विधियों ने पर्याप्त कारण के बिना, उसका न्यूनन नहीं किया है, और यह कि इस राज्य में, विधियों की प्रत्यक्ष अनुज्ञा के बिना मात्र मजिस्ट्रेट के विवेक के अनुसार, उसका न्यूनन कभी भी नहीं किया जा सकता है ।

III. तीसरा आत्यन्तिक अधिकार जो कि प्रत्येक अंग्रेज में अन्तर्निहित है, सम्पत्ति का अधिकार है, जोकि देश की विधियों द्वारा किये जाने के सिवाय, किसी नियन्त्रण या ह्रास के बिना, अपने सभी अर्जनों का अबाध उपयोग, उपभोग और व्ययन में समाविष्ट है निजी सम्पत्ति का मूल कदाचित, प्रकृति में मिलता है, जैसा कि आने वाली टीकाओं के दूसरे द्वितीय ग्रन्थ में उसकी बाबत पूरी तरह से अधिक स्पष्ट किया जायेगा । किन्तु निश्चित रूप से, वे उपान्तरण जिनके अधीन हमें वह इस समय उपलब्ध है, प्रस्तुत स्वामी में उसको परिरक्षित करने के और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को उसे हस्तान्तरित करने के ढंग पूर्णतः, समाज से प्राप्त हैं और वे उन नागरिकों को मिलने वाले लाभों में से कुछ हैं, जिनके बदले में प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी नैसर्गिक स्वाधीनता के एक भाग का त्याग किया है ।"

19. मैंने ब्लैक्सटन के ग्रन्थ से उद्धृत किया है जिसके विचार अनादर के इस युग में, कुछ अजीब प्रतीत हो सकते हैं, क्योंकि, यद्यपि मैं जानता हूं कि आधुनिक न्यायशास्त्र में सभी अधिकारों को विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं की अन्योन्याश्रित वस्तु के रूप में या परिणामों के रूप में माना गया है, फिर भी यह विचार कि मनुष्य को, मनुष्य के रूप में, कतिपय अन्तर्निहित नैसर्गिक और अनन्यसंक्राम्य मानव अधिकार प्राप्त हैं, उतना ही पुराने हैं जितना कि मानव न्यायशास्त्र का उद्भव है । यह ग्रीक दर्शनशास्त्र में पाया जाता है । यदि आज हमने इस ओर प्रगति कर ली है, जिसकी बाबत हमारा विश्वास है कि वह उच्च सभ्यता का और अधिक प्रबुद्ध युग है, तो हम उस अर्थ को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं, जो ब्लैक्सटन ने

बहुत समय पहले 'दैहिक स्वाधीनता' का अर्थान्वयन करते हुए लगाया था। जैसा कि ऊपर उपदर्शित किया गया है, उसके अन्तर्गत 'विधि के समयक् अनुक्रम में करने के सिवाय, कारावास या अवरोध के बिना, संचालन की या स्थान बदलने की या किसी के शरीर को वहां ले जाने की जहां की उसकी इच्छा हो, शक्ति' आती है । मैं समझता हूं कि 'दैहिक सुरक्षा' के और 'दैहिक स्वाधीनता' के वे दोनों अधिकार जिन्हें ब्लैक्सटन ने 'नैसर्गिक विधि' के रूप में मान्यता दी थी, संविधान के अनुच्छेद 21 में समाविष्ट हैं । इस प्रतिपादन के लिये, मैंने **अपर जिला मजिस्ट्रेट, जबलपुर** बनाम **शिवकान्त शुक्ल**[1] वाले मामले का अवलम्ब लिया था तथा वहां पर पुनः, मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव के निर्णय में से जोकि उन्होंने **आई० सी० गोलकनाथ** बनाम **पंजाब राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की ओर से निर्णय सुनाते हुए दिया था, एक अवतरण का अवलम्ब ले रहा है । उसमें इन्होंने यह मत व्यक्त किया था (पृष्ठ 789 पर) ।

> "तो मूल अधिकार क्या हैं? वे संविधान के भाग 3 में समाविष्ट हैं और उन्हें इस प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है:—(i) समता-अधिकार, (ii) स्वातंत्र्य का अधिकार, (iii) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (iv) धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, (v) सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, (vi) सम्पत्ति का अधिकार तथा (vii) संवैधानिक उपचारों का अधिकार। वे लोगों के ऐसे अधिकार हैं जिनकी हमारे संविधान ने परिरक्षा की है । 'मूल अधिकार' उस पद का आधुनिक नाम है जो कि प्रारम्भिक रूप से 'नैसर्गिक अधिकार' के रूप में ज्ञात हैं । जैसा कि एक ग्रन्थकार ने मत व्यक्त किया है: 'वे ऐसे नैतिक अधिकार हैं जो कि प्रत्येक मनुष्य को मात्र इस तथ्य के कारण हर समय और हर स्थान पर प्राप्त होने चाहिएं कि अन्य प्राणियों से भिन्न, वह विवेकशील और नैतिक हैं'। वे आदिकाल से चले आ रहे ऐसे अधिकार हैं जो कि मनुष्य के व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक हैं। वे ऐसे अधिकार हैं जो कि मनुष्य को उस रीति से जिसे वह सर्वाधिक

---

1 (1976) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 172=[1976] 3 उम० नि० प० 1.

2 (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

पसन्द करता है, अपने जीवन को चलाने में समर्थ बनाते हैं। सुपरिचित मूल अधिकारों के अलावा, हमारे संविधान में, ऐसे अधिकारों में अल्पसंख्यक वर्गों, अस्पृश्य व्यक्तियों और अन्य पिछड़े समुदायों के अधिकार भी सम्मिलित हैं।"

20. उसी मामले में न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने (पृष्ठ 877 पर) यह मत व्यक्त किया था :—

"जो बात मैंने कही है, उससे यह अभिप्रेत नहीं है कि मूल अधिकारों में तबदीली नहीं हो सकती है या उनका उपान्तरण नहीं हो सकता है । ऐसे अधिकारों में से सर्वाधिक अनन्यसंक्राम्य अधिकारों में, अधिकार के रखने और उसके प्रयोग करने के बीच अवश्य ही प्रभेद किया जाना चाहिए । पहला स्थिर है और पश्चात्कथित न्याय और आवश्यकता द्वारा नियन्त्रित होता है । उदाहरण के लिए अनुच्छेद 21 को लीजिए :

'किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार वंचित न किया जाएगा'।

इन सभी अधिकारों में से, किसी के प्राण के संरक्षण का अधिकार सर्वाधिक मूल्यवान है। अतः संविधान का यह अनुच्छेद मूल अधिकार की सृष्टि करता है । किन्तु इस अनन्यसंक्राम्य अधिकार का ह्रास किसी हत्यारे के आचरण द्वारा, जैसा कि विधि के अधीन समझा जाता है, कर दिया जाता है । जबकि (मूल अधिकार का) वंचन किया जाता है, तो वह ऐसे अधिकार का वंचन नहीं होता है जो कि स्थिर था, किन्तु अधिकार के अविच्छिन्न प्रयोग का वंचन होता है।"

21. अतः यह स्पष्ट है कि गोलकनाथ वाले (उपर्युक्त) 11 न्यायाधीशों में से छह न्यायाधीशों ने यह घोषित किया था कि मूल अधिकार ऐसे नैसर्गिक अधिकार हैं जो कि स्वयं संविधान में समाविष्ट हैं। इस न्यायालय के अधिकांश न्यायाधीशों ने **शुक्ल वाले मामले**[1] में भी इस विचार की अभिपुष्टि की थी। उसमें मैंने कुछ विस्तार के साथ इस मत को

[1] (1976) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 172=[1976] 3 उम० नि० प० 1.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

स्पष्ट किया था। न्यायाधिपति खन्ना ने कुछ भिन्न मत अपनाया था। मैंने शुक्ल वाले (उपर्युक्त) मामले में यह दष्टिकोण अपनाने के लिए विस्तृत कारण बताए थे जिनके सम्बन्ध में मेरा यह निष्कर्ष था और इस समय भी मेरा यह मत है कि कदाचित् मैं वही दृष्टिकोण अपना सकता था यदि मैं उस मत की उपेक्षा न करता, जैसा कि मैं उचित रूप से नहीं कर सकता था, जो बड़ न्यायपीठों ने अभिनिर्धारित किया था और जिसे मैं स्वयं सही दृष्टिकोण समझता हूं : यह कि नैसर्गिक विधि से सम्बन्धित अधिकार कम से कम वहां तक जहां तक कि वे अभिव्यक्त रूप से उल्लिखित हैं, संवैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त हमारे अधिकारों के रूप में संपरिर्वातित किए जाने थे, जिससे कि वे उसके भीतर, न कि उसके बाहर पाए जाएं। यदि इसके विपरीत मत अपनाया जाता है, तो उसके परिणामस्वरूप नैसर्गिक विधि के बीच टकराव होगा। मैं बहुत ही जोर देकर, मैं यह राय व्यक्त करता हूं कि नैसर्गिक विधी और हमारी संवैधानिक विधि के बीच विच्छेद खतरनाक होगा। उससे हमारे संविधान के आधारिक प्रयोजनों में से एक समाप्त हो जाएगा।

22. जो कि मैंने उपदर्शित किया है, उसकी विवक्षा यह है कि अनुच्छेद 21 में उन अधिकारों को मान्यता दी गई है तथा उनकी घोषणा की गई है जो कि प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित हैं। उनका अस्तित्व किसी व्यक्ति से अवस्थिति पर निर्भर नहीं है। वास्तव में यह दलील दी जा सकती थी कि जो बात इस प्रकार से अन्तर्निहित है, वह अनन्यसंक्राम्य है और उसे बिल्कुल ही छीना नहीं जा सकता। सैद्धान्तिक रूप से यह सही और तर्कसंगत हो सकता है परन्तु वास्तव में हमें प्राय: उस बात से वंचित रहना पड़ता है जो कि सिद्धान्तिक रूप से अनन्यसंक्राम्य या निर्विवाद है। अत: हम 'वंचनों' या 'निर्बन्धनों' की बाबत बात करते हैं, जो कि वास्तव में अनन्यसंक्राम्य अधिकारों के प्रयोग में बाधाएं हैं। अधिकारों के ऐसे वंचन या निर्बन्धन या विनियमन, विहित सीमाओं के भीतर, या तो कानूनी विधि के या उस विधि के अधीन की गई तात्पर्यित कार्यवाही के जरिए किये जा सकते हैं। सैद्धान्तिक रूप से मान्य या अमूर्त अधिकार को किसी सीमा तक मूर्त रूप दिया जा सकता है, उसे उन सिद्धान्तों का संतुलन करके इस प्रकार अवधारित किया जाता है, जिन पर अन्तर्निहित अधिकार उन अधिकारों के विरुद्ध आधारित होता है जिन पर निर्बन्धनात्मक विधि

या उसके अधीन किये गये आदेश उसके प्रयोग पर अधिरोपित किये जा सकते हैं। जैसा कि वह हमारे समक्ष उत्पन्न हुआ है, हमें प्रत्येक विनिर्दिष्ट मामले में इस सम्बन्ध में विनिश्चित करना होगा कि ऐसे सन्तुलन करने का परिणाम क्या होता है।

23. व्यष्टियों के, चाहे वे नागरिक हों या गैर-नागरिक, मूल अधिकारों में से किसी से टकराव होने के कारण राज्य की विधायी या कार्यपालक कार्यवाही की विधिमान्यता के सम्बन्ध में निर्णय करने में, यह प्रश्न कि ऐसे अधिकारों का उपयोग कहां किया जाना है, सदैव तात्विक या सुसंगत भी नहीं होता। यदि ऐसे संबंधित व्यक्ति, जिन पर विधि या उसके अधीन तात्पर्यित कार्यवाही प्रवर्तित की जानी है, हमारे देश की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के बाहर हैं, तो की गई कार्यवाही अप्रभावी हो सकती है। किन्तु विधि की विधिमान्यता का अवधारण इससे भिन्न बातों के आधार पर किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 19(1) के अन्तर्गत आने वाले अधिकारों पर अधिरोपित निर्बन्धनों की विधिमान्यता की कसौटी अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से लेकर (6) में मिलेगी। उसमें इस बात को ध्वनित करने के लिए कोई भी बात मौजूद नहीं है कि ऐसे अधिकारों पर जिनके प्रयोग में देश के बाहर जाने या विदेश में कुछ क्रियाकलाप करने की बात अन्तर्ग्रस्त हो सकती है, लगाए गए निर्बन्धन अनुच्छेद 19(2) से लेकर (6) तक में अनुध्यात कसौटियों की परिधि से अपवर्जित हैं। मैं अपने विद्वान् बन्धु भगवती से इन कारणों से जो कि उन्होंने बताए हैं, सहमत हूं, कि सम्पूर्ण प्रभाव न कि निर्बन्धन का मात्र प्ररूप, यह अवधारित करेगा कि कौनसा मूल अधिकार किस विशेष मामले में वास्तव में अन्तर्ग्रस्त है और यह कि क्या उसके प्रयोग पर लगाया गया निर्बन्धन उस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर युक्तियुक्त रूप से अनुज्ञेय है।

24. यदि अनुच्छेद 19 के अधीन अधिकार ऐसे अधिकार हैं जो कि भारतीय नागरिकों में अन्तर्निहित हैं, तो संबंधित व्यक्ति, जहां तक कि हमारी विधि उनको लागू होती है, इन अन्तर्निहित सांविधानिक मूल अधिकारों को अपने साथ-साथ वहां ले जाते हैं जहां कि वे जाते हैं, क्योंकि वे भारतीय राष्ट्र के उसी प्रकार से भाग हैं जैसे कि किसी ऐसे भारतीय पोत की बाबत, जिस पर भारतीय पताका फहरा रही हो, अन्तर्राष्ट्रीय विधि में यह समझा जाता है कि वह भारतीय राज्यक्षेत्र का तैरता

हुआ भाग है। किन्तु इस सादृश्य को और अधिक दूर तक नहीं खींचा जा सकता है, क्योंकि विदेशी राज्यक्षेत्र में, भारतीय नागरिक, अपनी भारतीय राष्ट्रीयता और पासपोर्टों के बल पर, भारतीय गणतंत्र की संरक्षा तथा उसके विदेशी दूतावासों की सहायता प्राप्त करने मात्र के हकदार होते हैं। वे इस बात का दावा नहीं कर सकते हैं कि वे अपनी सांविधानिक या स्वीय विधियों द्वारा ही, जो कि भारत के बाहर प्रवर्तित नहीं होती हैं, विदेश में शासित होंगे। किन्तु इस मामले में जो कि हमारे समक्ष पेश किया गया है, ऐसी स्थिति नहीं है। जहां तक कि हमारे समक्ष प्रस्तुत मामले में अपेक्षित कार्यवाही का सम्बन्ध है, वह भारत में की गई थी और भारत में निवास करने वाले भारतीय नागरिक के विरुद्ध की गई थी।

25. किसी भी स्थिति में भारत में, हम अपने संविधान द्वारा निश्चित रूप से शासित होते हैं। यह तथ्य कि प्रभावित पिटीशन आदेश के परिणामस्वरूप ऐसी बात करने में समर्थ नहीं हो सकेगी जो कि उसके द्वारा विदेश में किया जाना आशयित है, भारत में किसी सरकारी कार्यवाही को अप्रभावी नहीं बना सकता या न्यायिक संवीक्षा से या मूल अधिकार के जो कि भारतीय नागरिक में अन्तर्निहित है, उस अतिक्रमण के आधार पर किए गए आक्रमण से कदाचित उन्मुक्ति प्रदान कर सकता है। पिटीशनरों की अन्य देशों में सम्भावित कार्यवाहियों पर भावी कार्यकलापों पर के प्रभाव या उनके परिणाम ऐसा बात हो सकते हैं जिन पर, जहां सुसंगत हों, अधिरोपित निर्बन्धन के गुणागुण के सम्बन्ध में निर्णय करने में विशिष्ट मामले में अन्य सुसंगत बातों के साथ-साथ विचार किया जा सकता है। जहां तक कि यह दर्शित किया जा सकता है कि उसका सम्बन्ध लोक या राष्ट्रीय हितों से है, वहां तक वह उस समय सुसंगत होगा जब कि पारित आदेश के गुणागुण को अवधारित किया जा रहा हो। उससे यह दर्शित हो सकता है कि ऐसे किसी विशिष्ट आदेश द्वारा जिसने कि उसकी दैहिक स्वतंत्रता को अन्तर्ग्रस्त किया है, वह किस प्रकार से उस वाद-हेतुक के साथ ही 'व्यथित व्यक्ति' हो गई है। किन्तु ऐसी बातें नागरिकों के मूल अधिकारों की परिधि या प्रवर्तन को इस आधार पर न्यून या प्रभावित नहीं कर सकती हैं कि वे अपनी ही सरकार की अन्यायोचित कार्यवाहियों के विरुद्ध संरक्षण हैं। और न ही वे, अपने ही बल पर, अपने ही न्यायालयों में किए गए आक्षेपों के विरुद्ध अपने ही देश की सरकार की अन्यायोचित कार्यवाहियों को वैध रूप से संरक्षा प्रदान कर सकती हैं।

26. संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 में अन्तर्निहित कसौटियों को लागू करने के लिए हमें उन उद्देश्यों पर जिन के लिए संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा मान्य, अन्तर्निहित अधिकारों के प्रयोगों को निर्बन्धित किया जाता है तथा ऐसी प्रक्रिया पर जिसके द्वारा इन निर्बन्धनों को अधिरोपित किया जाना ईप्सित है, विचार करना है। मुख्य और प्रक्रिया सम्बन्धी विधियों तथा उनके अधीन की गई कार्यवाहियों, दोनों को ही ऐसी कसौटियों पर जो कि अनुच्छेद 1 और 19 द्वारा अधिरोपित की गई हैं, तब कसना होगा जब कभी भी इन अनुच्छेदों में से किसी के भी लागू होने की बात को न्यायोचित ठहराने वाले तथ्य प्रकट हों। उदाहरण के लिए, एक अन्तर्राष्ट्रीय गायक या नर्तक पासपोर्ट से वंचित किये जाने के कारण वृत्तिक कार्यकलाप पर अन्यायोचित निर्बन्धन लगाए जाने की शिकायत कर सकेगा। ऐसे मामले में अनुच्छेद 21 और अनुच्छेद 19(1)(छ) दोनों के ही अतिक्रमण की बात इस आधार पर पेश की जा सकती है कि सम्बन्धित प्राधिकारियों के लिए यह आवश्यक है कि वे इन दोनों अनुच्छेदों में से प्रत्येक द्वारा अनुध्यात विधिमान्यता की कसौटियों पर खरे उतर कर अधिरोपित निर्बन्धन को न्यायोचित ठहराए।

27. कारण और न्याय की कसौटियां अमूर्त नहीं हो सकती हैं। उन्हें राष्ट्र की आवश्यकताओं से अलग नहीं रखा जा सकता है। उन कसौटियों को व्यावहारिक होना चाहिए अन्यथा वे युक्तियुक्त नहीं रह जाएंगे। इस प्रकार से मैं समझता हूं कि लोकहित में पासपोर्ट ज़ब्त करने के लिए प्राधिकारियों को जो विवेकाधिकार दिया जाता है, वह स्वयं विधि को अविधिमान्य नहीं ठहरा सकता है। मात्र इस भय से कि ऐसी शक्ति का दुरुपयोग किया जाएगा, हम संसद को इस बात की अनुज्ञा देने से इन्कार नहीं कर सकते हैं कि वह कार्यपालक प्राधिकारियों को ऐसी शक्ति सौंप सकती है जैसी कि विधिमान्य रूप से प्रयोज्य शक्ति के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए आत्यन्तिक रूप से आवश्यक हो। मैं समझता हूँ यह विनिश्चित करने के लिए कि क्या, विशिष्ट मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर लोकहित का साधन, न्यायिक पर्यवेक्षण के अध्यधीन रहते हुए, जैसा कि वह सदैव होता है, किसी विधिमान्य विधि के अधीन पारित किए जाने वाले विशिष्ट आदेश होगा, कार्यपालिका के विवेकाधिकार के लिए निश्चित रूप से छोड़ना पड़ेगा। ऐसे मामलों में,

1978(1) eILR(PAT) SC 6

जैसा कि पासपोर्टों का अनुदान निलम्बन, जब्त करना या रद्दकरण हैं, अन्य राष्ट्रों के राष्ट्रिकों और प्राधिकारों के साथ, किसी व्यक्ति के सम्भावित व्यवहारों पर विचार करना होता है। विदेश में किसी व्यक्ति के अनुध्यात या सम्भावित कार्यकलापों को गिनती में लिया जा सकता है। राष्ट्रीय अभिरक्षा और कल्याण के ऐसे प्रश्न भी हो सकते हैं जो कि किसी व्यक्ति के इस अन्तर्निहित अधिकार के कि वह जहां चाहे जा सकता है या सकती है, महत्व से ऊपर है। अतः, यद्यपि हम कार्यकलाप प्राधिकारियों को व्यापक वैवेकिक शक्ति यह कहकर अनुदत्त करने से वंचित नहीं कर सकते कि वह ऐसे मामलों में अयुक्तियुक्त है, फिर भी मैं समझता हूं कि हमें यह सुनिश्चित करने के लिए प्रक्रिया सम्बन्धी रक्षोपायों की खोज करनी चाहिए और उन्हें प्राप्त करना चाहिए कि शक्ति का उपयोग, प्रदत्त शक्ति की विधिमान्यता को हमारे कायम करने के पूर्व, शक्ति के अनुदान से असम्बद्ध प्रयोजनों के लिए नहीं किया जाएगा। हमें प्रक्रिया सम्बन्धी औचित्यों पर ज़ोर देना पड़ेगा, जिनके अनुपालन से यह दर्शित हो सकता था कि ऐसी शक्ति का उपयोग केवल उस हित के साधन मात्र के लिए किया जा रहा है, जिसे युक्तियुक्त और न्यायसंगत रूप से ऐसे लोक या राष्ट्रीय हित के रूप में माना जा सकता है, जो कि किसी व्यक्ति के संचलन या यात्रा सम्बन्धी इस अन्तर्निहित अधिकार को कि वह संसार के राष्ट्रों के और संकुचित देशकाल सीमाओं के बीच प्रत्येक स्थान पर अधिक निकट के एकीकरण के आधुनिक संसार में, जहां चाहे जा सकता है या जा सकती है, अध्यारोहित करने में समर्थ है।

28. जो मत हमने अपनाया है, वह इस आधार पर अपनाया गया है कि व्यष्टि के ऐसे अन्तर्निहित या नैसर्गिक मानवीय अधिकार हैं, जो हमारे संविधान में मान्य और समाविष्ट हैं। किन्तु उनका वास्तविक प्रयोग मुख्यतः कानूनी विधि द्वारा विनियमित और शर्तबद्ध किया जाता है। ऐसे व्यक्ति जिन पर वे आधारिक अधिकार प्रदत्त किये जाते हैं, उनका प्रयोग तब तक कर सकते हैं जब तक कि विधि के अधीन ऐसे अधिकारों से वंचित करने या निर्बन्धन अधिरोपित करने में, समर्थ बनाने वाला कोई न्यायोचित कारण न हो। किन्तु यदि उसमें विधिमान्य कारण मिल जाता है और वंचन या निर्बन्धन प्रक्रियात्मक रूप से विधिमान्य रीति से उस विधिमान्य कारण से होता या अधिरोपित किया जाता है, तो वह

कार्यवाही जिसके परिणामस्वरूप वंचन या निर्बन्धन होता है, अनापत्तिजनक होती है। यदि विधि द्वारा स्वीकृत कारण मौजूद न हों, या यह निष्कर्ष निकालने में कि ऐसा कारण विद्यमान है, अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया अयुक्तियुक्त है, तो ऐसे आदेश को जिसका प्रभाव वंचित करना या निर्बन्धन अधिरोपित करना होता है, अवश्य ही अभिखण्डित कर दिया जाना चाहिए।

29. अधिनियम की धारा 10 की उपधारा (3) के उपबन्धों को देखने मात्र से यह पता चलेगा कि ऐसे आदेशों में से प्रत्येक की बाबत जो कि धारा 10 की उपधारा (3)(क) से लेकर (ज) तक के अधीन पारित किये जा सकते थे, कतिपय ऐसी वस्तुपरक शर्तों के आधार पर जो पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा पासपोर्ट या यात्रा सम्बन्धी दस्तावेज़ को जब्त करने सम्बन्धी आदेश पारित किए जाने के पूर्व, उस मामले में अवश्य ही विद्यमान होनी चाहिए, पासपोर्ट प्राधिकारी का 'समाधान' होने की आवश्यकता है। उस उपबन्ध में ज़ब्ती या प्रतिसंहरण एक ही आधार पर साथ-साथ रखे गये हैं। अधिनियम की धारा 11 में ऐसे प्रत्येक आदेश के विरुद्ध जो कि उस अधिनियम की धारा 10 की उपधारा (3) के अधीन पारित किया गया है, केन्द्रीय सरकार को अपील करने के लिए उपबन्ध किया गया है। अतः धारा 10 की उपधारा (5) पासपोर्ट प्राधिकारी को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वह ऐसे आदेश करने के लिए कारणों का संक्षिप्त कथन लिखित रूप में अभिलिखित करे और मांगे जाने पर पासपोर्ट या यात्रा सम्बन्धी दस्तावेज के धारक को उसकी प्रति दे, जब तक किसी मामले में पासपोर्ट प्राधिकारी की यह राय न हो कि ऐसी प्रति का देना भारत की प्रभुसत्ता और अखंडता के, भारत की सुरक्षा के, किसी विदेशी राष्ट्र के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हितों में या जन-साधारण के हित में नहीं होगा।

30. अन्य उपबन्धों के साथ पठित अधिनियम की धारा 5, 7 और 8 के उपबन्धों से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पासपोर्ट के धारक के विहित शर्तों की पूर्ति करने पर, यह कानूनी अधिकार अर्जित किया जाता है कि उसे विनिर्दिष्ट कालावधि के लिए उस समय तक बना रहना चाहिए जब तक कि उसके प्रतिसंहरण के लिए या उसकी जब्ती के लिए कोई आधार विद्यमान न हो, जो कि तत्समय उसे निलम्बित करने की कोटि

में आता है। यह सच है कि संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन की गई कार्यवाही में, हमारा सम्बन्ध मात्र संवैधानिक मूल अधिकारों के प्रवर्तन से है, न कि, मूल अधिकार के अलावा, किन्हीं कानूनी अधिकारों के प्रवर्तन से। किन्तु अनुच्छेद 21 इस बात को स्पष्ट करता है कि विधि का अतिक्रमण, चाहे कानूनी हो या किसी अन्य प्रकार का हो, प्रत्याभूत मूल अधिकार का स्वयं ही अतिलंघन है। उसकी विधि की विभिन्नता का ध्यान न करते हुए भी, आधारिक अधिकार को, विधि के संरक्षण से वंचित नहीं किया जाना है। उसे 'विधि द्वारा स्थापित' अधिकार होने की आवश्यकता नहीं है।

31. किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता है कि धारा 10(3) के अधीन किये गये आदेशों को किसी सामग्री पर आधारित होना चाहिये भले ही वह सामग्री में, किन्हीं मामलों में विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा किये गये कतिपय विश्वसनीय प्राख्यान से उत्पन्न होने वाले युक्तियुक्त सन्देह क्यों न समाविष्ट हों। यह हो सकता है कि, किसी आपातकाली स्थिति में, पासपोर्ट की जब्ती ऐसे कदम के विरुद्ध सुनवाई का अवसर दिये बिना भी आवश्यक हो सकता है, जिसे पासपोर्ट धारक को यह अवसर दिये जाने के बाद, उल्टा भी जा सकता था, कि वह यह कारण बताए कि ऐसा कदम अनावश्यक क्यों है, किन्तु मामूली तौर पर, कोई भी पासपोर्ट प्रस्थापित कार्यवाही के विरुद्ध उसके धारक को कारण बताने के पूर्व अवसर दिए बिना, युक्तियुक्त रूप से न तो जब्त किया जा सकता था और न ही प्रतिसंहृत किया जा सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पासपोर्ट की जब्ती तथा उसका प्रतिसंहरण ऐसे दण्ड की प्रकृति में कार्यवाही होता है, जिसकी आवश्यकता अधिनियम में, विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी भी आधार पर हुई हो। अतः मामूली तौर से, कारण दर्शित करने की सूचना देने के बाद पासपोर्ट के धारक को प्रतिरक्षा में सुनवाई का अवसर पासपोर्ट के जब्त किए जाने के पूर्व ही दिया जाना चाहिये।

32. यह सुस्थापित है कि जहां कि किसी क़ानून में या उसके अधीन बनाए गए नियमों में किसी व्यक्ति के विरुद्ध की जाने के लिये प्रस्थापित कार्यवाही के विरुद्ध कारण बताने विषयक ऐसा कोई विनिर्दिष्ट उपबन्ध नहीं है, जिसका प्रभाव व्यक्ति के अधिकारों पर पड़ता है, तो सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर देने का कर्तव्य उस कृत्य

की प्रकृति में ही विवक्षित होगा जिसे ऐसे प्राधिकारी को करना है जिसको दण्डात्मक या हानि पहुंचाने वाले कार्यवाही करने की शक्ति प्राप्त है। इस न्यायालय ने **उड़ीसा राज्य** बनाम **डाक्टर (कुमारी) बीनापानी देई और अन्य**[1] वाले मामले में निम्नलिखित शब्दों में यह सिद्धान्त अधिकथित किया है :—

"यह नियम कि ऐसा पक्षकार जिसके विरुद्ध कोई आदेश पारित किया जाना आशयित है, सुनवाई का हकदार है, न्यायिक अधिकरणों और व्यक्तियों के ऐसे निकायों को समान रूप से लागू होता है जिन में सिविल परिणामों के अन्तर्ग्रस्त करने वाले विषयों को न्यायनिर्णीत करने का प्राधिकार विनिहित है। हमारी संवैधानिक व्यवस्था के मूल नियमों में से एक यह है कि प्रत्येक नागरिक को राज्य या उसके अधिकारियों द्वारा मनमाने प्राधिकार का प्रयोग करने के विरुद्ध संरक्षा प्राप्त है अतः न्यायिक रूप से कार्य करने का कर्तव्य उस कृत्य की प्रकृति से ही उत्पन्न होता है जो किया जाना आशयित होता है; यह दर्शित करने की आवश्यकता नहीं है कि उस पर ऊपर से कुछ लादा गया है। यदि किसी व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए विनिश्चित या अवधारित करने की शक्ति है तो न्यायिक रूप से इस कार्य करने का कर्तव्य ऐसी शक्ति के प्रयोग में विवक्षित है। यदि न्याय की आवश्यक बातों की उपेक्षा कर दी जाएगी, और किसी व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला आदेश किया जाता है, तो वह आदेश अकृत है। वह विधि के शासन की आधारित संकल्पना है और उसका महत्व किसी विशिष्ट मामले में किसी विनिश्चय के महत्व से अधिक होता है।

33. इंग्लैण्ड में, न्यायाधिपति बाईलस ने, **कूपर** बनाम **वैंड्सवर्थ बोर्ड ऑफ वर्क्स**[2] वाले मामले में इस नियम को इस प्रकार व्यक्त किया था—

"ईश्वर की विधियां और मनुष्य की विधियां, दोनों ही, किसी पक्ष को अपनी प्रतिरक्षा करने का अवसर उस दशा में

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1269; (1967) 2 एस० सी० आर० 625.

[2] (1863) 14 सी० बी० (एन० एस०) 180.

देती हैं, यदि उसके पास ऐसा करने का कोई अवसर हो। मुझे इस बात का स्मरण है कि मैंने ऐसे ही एक अवसर पर एक बहुत ही विद्वान व्यक्ति को यह मत व्यक्त करते हुए सुना था कि स्वयं ईश्वर ने आदम पर अपनी प्रतिरक्षा करने से पूर्व दण्डादेश पारित नहीं किया था (ईश्वर कहता है) : 'आदम तू कहां है ? क्या तूने उस वृक्ष का फल नहीं खाया है जिसके सम्बन्ध में मैंने तुझसे कहा था कि तुझे नहीं खाना चाहिए' और हव्वा से भी यही प्रश्न पूछा गया था।"

34. मुझे इस सुपरिचित सिद्धांत के आधार पर यह अभिनिर्धारित करने में किसी भी कठिनाई का अनुभव नहीं हो रहा है कि ऐसे आदेश को जो पासपोर्टों को जब्त करता है, न्यायिकवत् किया जाना चाहिये जो मामला हमारे समक्ष पेश किया गया है, उसमें ऐसा नहीं किया गया है।

35. मेरे जायजे के अनुसार, मेरे विद्वान बन्धु ने हमारे समक्ष प्रस्तुत तथ्यों की परीक्षा करने के बाद जो निष्कर्ष निकाले हैं और जिनसे मैं सहमत हूं वे यह उपदर्शित करते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि तारीख 7 जुलाई, 1977 वाले आदेश द्वारा पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने के लिये पर्याप्त कारण मौजूद होना बताया गया है इसके अलावा पिटीशनर को यह दर्शित करने के लिये कोई अवसर नहीं मिला था कि इस न्यायालय में अन्तिम रूप से बताए गए पासपोर्ट जब्त करने विषयक आधार न तो विद्यमान हैं और न ही सम्बन्धित लोकहित से हैं या यह कि लोकहित का साधन किसी अन्य रीति से अधिक अच्छी तरह नहीं किया जा सकता। इसलिए, मैं अपनी ओर से निर्णय सुनाते हुए, इस आदेश को अभिखण्डित करता हूं और विरोधी पक्षकारों को यह निदेश देता हूं कि वे पिटीशनर को ऐसे आधारों पर, जो कि उपलभ्य हो, किसी भी प्रस्थापित कार्रवाई के विरुद्ध कारण दर्शित करने का अवसर दे।

36. मेरा समाधान नहीं हुआ है कि हमारे समक्ष पिटीशनर के सम्बन्ध में ऐसे विवश करने वाले कोई आधार मौजूद हैं जिनसे कि उसके पासपोर्ट को जब्त करने की तुरन्त कार्यवाही आवश्यक थी। इसके अलावा जिस रूखे ढंग से उसका पासपोर्ट जब्त करने के लिये भी कोई

1978(1) eILR(PAT) SC 6

कारण प्रकट करने से उसे इन्कार किया गया है, वे इस तथ्य के बावजूद भी कि एकमात्र वह कारण जिसके बारे में यह कहा गया है कि वे मौजूद हैं, जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिये उसे बुलाए जाने की सम्भावना मौजूद है और यह कि वह, न्यायालय में फाईल किए गए प्रतिशपथपत्र में कथन किया गया है, ऐसा नहीं है जिसके बारे में युक्ति-युक्त रूप से यह समझा जाए कि लोकहित में उसे छिपाने की आवश्यकता है, उससे पिटीशनर के विरुद्ध कोई असम्यक पूर्वधारणा के विद्यमान होने की बात उपदर्शित हो सकती थी उससे ऐसी पूर्वधारणा या पूर्वविचार के विद्यमान होने के विरूद्ध भी संरक्षा देनी है।

37. मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब कार्यपालक प्राधिकारी भी ऐसी प्रशासनिक कार्यवाही कर रहे हों, जिसमें नागरिकों के अन्तर्निहित मूल अधिकारों का कोई वंचन या उन पर निर्बन्धन अन्तर्ग्रस्त है तब उसे यह देखने की सावधानी बरतनी चाहिये कि न्याय न केवल किया गया है, बल्कि स्पष्ट रूप से किया गया प्रतीत होता है इस रीति से कार्यवाही करना भी उनका कर्तव्य है जो मनमाने या अयुक्तियुक्त या अनुचित होने से भी मुक्त है। उन्हें ऐसी रीति से कार्य करना पड़ता है जो कि स्पष्ट रूप से निष्पक्ष है और जो नैसर्गिक न्याय की अपेक्षाओं की पूर्ति करती है।

38. किन्तु महा-न्यायवादी ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उससे यह पता चलता है कि पासपोर्ट प्राधिकारी पूरी तरह से यह महसूस करते हैं कि पिटीशनर के मामले में न्यायसंगत या युक्तियुक्त रूप से कार्यवाई नहीं की गई है चूंकि महा-न्यायवादी ने वचन दिया हैं, वह इस प्रस्थापना की कोटि में आता है कि ऐसे किसी आधार की बाबत जो कि पिटीशनर पासपोर्ट जब्त करने के लिये मौजूद है, उसे जानकारी देने के बाद इसके सम्बन्ध में न्यायसंगत और उचित रूप से कार्यवाही की जाएगी, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि इस न्यायालय द्वारा आगे किसी भी कार्यवाही की आवश्यकता नहीं है किन्तु जो बात व्यावहारिक रूप से स्वीकृति की कोटि में है उसे देखते हुए 7 जुलाई, 1977 को वास्तव में पारित आदेश न तो उचित है और न ही प्रक्रियात्मक रूप से उचित है, मैं अपनी ओर से, निर्णय सुनाते हुए, इस आदेश को अभिखण्डित करता हूं और यह निदेश देता हूं कि जब्त किया गया पासपोर्ट पिटीशनर को लौटा दिया जाए मैं यह भी सोचता हूं कि पिटीशनर अपने खर्चे का हकदार है।

श्री०

1978(1) eILR(PAT) SC 6

न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ के मतानुसार।

न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

तारीख 2 जुलाई, 1977 वाले आदेश द्वारा पिटीशनर का तारीख 1 जून, 1976 वाला पासपोर्ट "लोकहित" में जब्त कर लिए जाने पर और भारत सरकार द्वारा अपने विनिश्चय के कारण 'जन साधारण के हित में' बताने से इन्कार कर दिए जाने पर उसने इस आदेश को चुनौती देने के लिये संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन यह पिटीशन फाईल किया है। वह चुनौती निम्नलिखित आधारों पर आधारित है—

"(1) जिस सीमा तक पासपोर्ट अधिनियम, 1967 की धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट प्राधिकारी को, 'जन साधारण के हित में' पासपोर्ट जब्त करने के लिये प्राधिकृत किया गया है, वहां तक वह संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करती है क्योंकि इससे पासपोर्ट प्राधिकारी को अस्पष्ट और अनिश्चित शक्ति प्रदत्त की गई है;

(2) मनमानी शक्ति प्रदत्त करने वाली होने के कारण धारा 10(3)(ग) शून्य है क्योंकि इसमें पासपोर्ट के धारक को पासपोर्ट के जब्त किए जाने के पूर्व सुने जाने के लिये उपबन्ध नहीं किया गया है;

(3) धारा 10(3)(ग) संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करती है क्योंकि इसमें उस अनुच्छेद के अर्थान्तर्गत 'प्रक्रिया' विहित नहीं की गई है और जो प्रक्रिया इसमें विहित की गई है वह मनमानी और अयुक्तियुक्त है; और

(4) धारा 10(3)(ग) अनुच्छेद 19(1)(क) और 19(1)(छ) का अतिवर्तन करती है क्योंकि इसमें इन अनुच्छेदों द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों पर निर्बन्धन अधिरोपित किया जाना अनुज्ञात है, चाहे ऐसे निर्बन्धन अनुच्छेद 19(2) या (6) के अधीन अधिरोपित नहीं किए जा सकते हों।"

प्रथमतः, अधिनियम की धारा 10(3) के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए पासपोर्ट अधिकारी ने पिटीशनर को वे कारण बताने से इनकार कर दिया जिनके लिये 'जन साधारण के हित में', उसका पासपोर्ट जब्त करना आवश्यक समझा गया था। किन्तु बाद में पिटीशन के उत्तर में भारत सरकार

की ओर से फाईल किए गए प्रतिशपथपत्र में वे कारण प्रकट किए गए थे। रिट पिटीशन के दबाव के अधीन किए गए इस प्रकटीकरण को, कि पिटीशनर का पासपोर्ट इसलिये जब्त किया गया था क्योंकि संभवतः उसकी उपस्थिति जांच आयोग के समक्ष की कार्यवाहियों के सम्बन्ध में अपेक्षित हो, तब आसानी से बताया जा सकता था जब पिटीशनर ने सरकार से वे कारण जानने की अपेक्षा की थी कि उसका पासपोर्ट क्यों जब्त किया गया है। किसी पासपोर्ट को जब्त करने के कारण प्रकट करने से इन्कार करने की शक्ति असाधारण प्रकृति की होती है और इसका प्रयोग निष्पक्ष रूप से और बहुत कम और केवल तब किया जाना चाहिये जब इसे असामान्य स्थिति की अभ्यावश्यकताओं के कारण पूर्ण रूप से न्यायोचित ठहराया जा सके। कारण यदि प्रकट भी कर दिए जाएं तो भी उनका पासपोर्ट जब्त करने वाले आदेश से सम्बन्ध अभिनिश्चित करने के लिये न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है, कारण प्रकट करने से इनकारी की भी समान रूप से न्यायालय द्वारा संवीक्षा की जा सकती है। अथवा अन्यथा, कार्यपालिक आदेशों की निष्पक्ष न्यायिक परीक्षा की हितकर शक्ति का कारण गुप्त रखने के निष्ठुर दृढ़ संकल्प द्वारा सुरक्षापूर्वक (अदंडित रहते हुए) निरर्थक बनाया जा सकता है। विधि कारण प्रकटन करने के लिये किसी शक्ति का प्रयोग अनुज्ञात नहीं करेगी यदि ऐसा करने के लिये एकमात्र कारण/कारणों को न्यायिक संवीक्षा से दूर रखना है।

40. **सतवन्त सिंह साहनी** बनाम **डी० रामरत्नम सहायक पासपोर्ट अधिकारी, भारत सरकार, नई दिल्ली और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने बहुमत से यह विनिर्णय दिया कि "दैहिक स्वाधीनता" पद में जो संविधान के अनुच्छेद 21 में आता है, विदेश यात्रा करने का अधिकार सम्मिलित है और यह कि किसी भी व्यक्ति को उस अधिकार से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता है। पासपोर्ट अधिनियम में, जो संसद् द्वारा 1967 में उस विनिश्चय का अनुपालन करने के लिये अधिनियमित किया गया था, वह प्रक्रिया विहित की गई है जिसके द्वारा पासपोर्ट के लिये आवेदन को पूर्णतः अथवा भागतः किसी पृष्ठांकन सहित या रहित, मंजूर किया जा सकता है और एक बार मंजूर किए गए पासपोर्ट को बाद में प्रतिसंहृत अथवा जब्त किया जा सकता था किन्तु किसी प्रकार की प्रक्रिया का विहित किया जाना मात्र सदैव ही

---

1 (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

अनुच्छेद 21 की आज्ञा को पूरा नहीं कर सकता है। विधि द्वारा विहित प्रक्रिया को निष्पक्ष, न्यायसंगत और युक्तियुक्त होना होता है न कि कल्पित दमनकारी अथवा मनमाना। इस प्रश्न पर कि क्या विधि द्वारा विहित ऐसी प्रक्रिया जो अनुच्छेद 21 द्वारा प्रत्याभूत दैहिक स्वाधीनता को कम करती है अथवा छीनती है, युक्तियुक्त है अथवा नहीं, न्यायालय कक्ष में विचार के समय पूरी सुनवाई के लिये उपबन्धों के सदृश कल्पित अथवा सैद्धांतिक आधारों पर विचार नहीं किया जाना होता है, बल्कि मुख्य रूप से उस प्रयोजन के संदर्भ में विचार किया जाना होता है जिसे प्राप्त करने के लिए अधिनियम आशयित है, और उन स्थितियों के संदर्भ में वे व्यक्ति जिन पर अधिनियम को लागू करने का कर्तव्य है, उनसे कार्यवाही करने की अपेक्षा की जाए। दूसरे, जहां तक कि अनुच्छेद 21 की अपेक्षाओं का पूरी तरह से अनुपालन करने से भी उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता है क्योंकि ऐसी विधि को, जो अनुच्छेद 21 द्वारा प्रत्याभूत व्यक्तिगत स्वाधीनता को कम करने अथवा छीनने की निष्पक्ष अथवा युक्तियुक्त प्रक्रिया विहित करती है, संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन सम्भावित चुनौती का सामना करना होता है जैसा कि उदाहरणार्थ अनुच्छेद 14 और 19। यदि **ए० के० गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले का यह निर्णय कि संविधान द्वारा प्रत्याभूत स्वतन्त्रताएं परस्पर अपवर्जक है अभी भी मान्य विधि है तो विदेश यात्रा के अधिकारों को, जो कि अनुच्छेद 21 के अधीन दैहिक स्वाधीनता के अधिकार का भाग है, उस अनुच्छेद में पाया और समझा जा सकता है अन्य किसी अनुच्छेद में नहीं। किन्तु **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले (आर० सी० कूपर** बनाम **भारत संघ**[2]**)** में बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में कि इस उपधारणा की कि संविधान के कतिपय अनुच्छेद विनिर्दिष्ट विषयों के बारे में अनन्य रूप से बरतते हैं सही नहीं माना जा सकता है। यद्यपि **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[2] का सरोकार अनुच्छेद 31 और 19 के अन्तःसम्बन्ध से था न कि अनुच्छेद 21 और 19 के अन्तःसम्बन्ध से किन्तु संविधान के भिन्न उपबन्धों में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के अर्थान्वयन के बारे में जो रुख अपनाया गया था उसने **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में बहुमत वाले निर्णय के प्रमुख आधार को स्पष्ट रूप से

1 (1950) एस० सी० आर० 88.
2 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

गलत मानते हुए अस्वीकार कर दिया। **शम्भूनाथ सरकार** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में सात न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने **ए० के० गोपालन वाले**[2] मामले के विनिश्चय पर बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले के आधार के प्रभाव का सही मूल्यांकन किया था। **शम्भूनाथ सरकार वाले मामले**[1] में तदनुसार यह अभिनिर्धारित किया गया था कि निवारक निरोध विषयक विधि को न केवल अनुच्छेद 21 और 22 की चुनौती का सामना करना होता है बल्कि अनुच्छेद 19(1)(ग) की चुनौती का भी सामना करना होता है। बाद में **हरधान साहा** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[3] वाले मामले में पांच न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने वही रुख अपनाया और इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 अनुच्छेद 19(1)(ग) द्वारा प्रत्याभूत अधिकार का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार यह जांच कि क्या विदेश यात्रा करने का अधिकार अनुच्छेद 19(1) में उल्लिखित किन्हीं स्वतन्त्रताओं का भाग है, प्रारम्भ में ही मात्र रूप से इसलिये समाप्त नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि वह अधिकार अनुच्छेद 21 के अधीन दैहिक स्वाधीनता की गारंटी का भाग है। मैं बंधु न्यायाधिपति भगवती के निम्नलिखित कथन से पूर्णतया सहमत हूं :—

> "अतः अब इस बारे में विधि सुस्थिर समझी जानी चाहिए कि अनुच्छेद 21 अनुच्छेद 19 का अपवर्जन नहीं करता है और यह कि यदि किसी व्यक्ति को 'दैहिक स्वाधीनता' से वंचित करने की प्रक्रिया विहित करने वाली कोई विधि है, और परिणामस्वरूप, अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार का कोई अतिलंघन नहीं होता है तो ऐसी विधि को, जहां तक कि यह अनुच्छेद 19 के अधीन किसी मूल अधिकार को न्यून करती अथवा छीनती है, वहां तक उस अनुच्छेद की चुनौती का सामना करना होगा।"

41. संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में, जिनके द्वारा बहुत सी स्वतन्त्रताओं की गारंटी दी गई है, परिवर्तन हुए हैं जिनका बंधु भगवती ने विशद रूप से उल्लेख किया है। आक्षेपित विधि की प्रत्यक्षता

[1] (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973], 3 उम० नि० प० 411.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

[3] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

की कसौटी पर इसके परिणामों से प्रभेद करते हुए **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] और **राम सिंह वाले मामले**[2] में विचार किया गया था जिसके बारे में यह माना गया कि वह यह अवधारित करने के लिए कि क्या मूल अधिकार का अतिलंघन किया गया है एक सही दृष्टिकोण है। इस कसौटी का महत्वपूर्ण रूप से लागू किया जाना **नरेश एस० मिराजकर वाले मामले**[3] में देखा जा सकता है जिसमें मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश को, जिसके द्वारा मानहानि वाले मामले में साक्षी के साक्ष्य का प्रकाशन प्रतिषिद्ध किया गया था, इस न्यायालय ने इस आधार पर कायम रखा कि यह साक्षी को संरक्षण देने के इस उद्देश्य से पारित किया गया था, जिससे कि सही साक्ष्य अभिप्राप्त किया जा सके और अनुच्छेद 19(1)(क) पर प्रत्याभूत वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर इसका प्रभाव आनुषंगिक था । **एक्सप्रैस न्यूज पेपर्स**[4] वाले मामले में न्या० एन० एच० भगवती ने कानून के प्रत्यक्ष प्रभाव और प्रवर्तन की कसौटियां विकसित करके उपान्तरित रूख अपनाया है । यह कसौटी **सकाल पेपर्स**[5] वाले मामले में पूरी हुई जिसमें न्यायालय ने, आदेश के प्ररूप और उद्देश्य पर प्रत्यक्ष और अव्यवहित प्रभाव को पूर्विकता देते हुए दिल्ली न्यूज़पेपस (प्राइस एण्ड पेज) आर्डर, 1960 को इस आधार पर अविधिमान्य घोषित किया कि यह संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण करता है । इस वैचारिक प्रक्रिया की परिणति **बैंक राष्ट्रीयकरण**[6] वाले मामले में हुई जिसमें बहुमत की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति शाह ने यह अभिनिर्धारित किया कि मूल अधिकार के ह्रास के विरूद्ध संरक्षण की सीमा व्यक्ति के अधिकारों पर किसी कार्यवाही के प्रत्यक्ष प्रवर्तन द्वारा अवधारित होती है और न कि विधानमण्डल के उद्देश्य अथवा कार्रवाई के प्ररूप द्वारा । **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[7] में न्यायालय ने बहुमत द्वारा उसी स्थिति को यह कहते हुए दोहराया कि अधिकारों पर अधिनियम

---

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

2 (1951) एस० सी० आर० 451.

3 (1966) 3 एस० सी० आर० 744.

4 (1959) एस० सी० आर० 12.

5 (1962) 3 एस० सी० आर० 842.

6 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

7 (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

का प्रत्यक्ष प्रवर्तन वास्तविक कसौटी है। उसने अखबारी कागज़ की नीति को खण्डित कर दिया और प्रसारण को कम करने का विकल्प दिए बिना समाचारपत्रों की पृष्ठों की संख्या को सीमित कर दिया क्योंकि इससे अनुच्छेद 19(1)(क) के उपबन्धों का अतिवर्तन होता है। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि "कार्रवाई का मूल अधिकारों पर प्रत्यक्ष प्रभाव हो सकता है भले ही इसकी प्रत्यक्ष विषयवस्तु भिन्न हो" और ऐसी विधि का प्रभावी उदाहरण उद्धृत किया जो भारत की रक्षा के अथवा मानहानि के बारे में हो और तो भी उसका वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रत्यक्ष प्रभाव हो। प्रत्यक्षता का उपाय, जैसा कि न्यायाधिपति भगवती ने अभिनिर्धारित किया है, आक्षेपित कानून का 'अपरिहार्य' परिणाम है।

42. ये वे मार्गदर्शक बातें हैं जिनकी सहायता से यह विनिश्चित करना होता है कि क्या पासपोर्ट अधिनियम की धारा 10(3) (ग) जो पासपोर्ट प्राधिकारी को पासपोर्ट अथवा उसके अधीन पारित आदेश को जब्त करने के लिए प्राधिकृत करती है, अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा प्रदत्त वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारंटी का अतिक्रमण करती है।

43. विद्वान् महान्यायवादी ने इस बारे में पिटीशनर की दलीलों का यह कहते हुए जवाब दिया, प्रथमतः यह कि विदेश जाने का अधिकार वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार के भीतर नहीं आता है क्योंकि पश्चात्वर्ती अधिकार का भारतीय नागरिकों द्वारा केवल भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर ही प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे, उसने यह दलील दी है कि विदेश जाने का अधिकार वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार से भिन्न प्रकार का है अतः इसलिए इसका भाग नहीं है।

44. इन दलीलों में से पहली दलील में प्ररूप के बारे में बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है जिसमें वह दलील दी गई है जिसके बारे में मेरी वह राय है कि यह वास्तविक विवाद्यक को धुंधला बनाने वाली है। अनुच्छेद 19 भारतीय नागरिकों को कतिपय स्वतन्त्रताएं प्रदान करता है जिनमें से कुछ का उनकी भाषा और प्रकृति के कारण भौगोलिक आधारों पर ही प्रयोग किया जा सकता है। भारत राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाधा-संचरण करने का अधिकार और भारत राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास

करने और बस जाने का अधिकार, जो अनुच्छेद 19(1) के खण्ड (घ) और (ङ) में है, इसी प्रकृति के हैं। ये दो खण्ड उनमें वर्णित अधिकारों के प्रवर्तन को अभिव्यक्त रूप से भारत की राज्य क्षेत्रीय सीमाओं तक निर्बन्धित करते हैं। इसके अतिरिक्त उन अधिकारों के उद्देश्य और प्रकृति के कारण उनका प्रयोग भारतीय राज्यक्षेत्र तक ही सीमित है। उन अधिकारों का आशय देश की एकता और अखण्डता और इसके परिसंधीयकल्प ढांचे को सुस्पष्ट करना है। उनका अभियान इस विघटनकारी सिद्धान्त के विरुद्ध है कि 'केवल मातृभूमि के पुत्र ही लाभ उठाएंगे' 'मातृभूमि' के लिए प्रादेशिक और उप प्रादेशिक सीमाओं की शर्त लगा दी गई है। अन्य स्वतन्त्रताएं जो अनुच्छेद 19(1) प्रदत्त करता है, उनकी भाषा द्वारा इस प्रकार प्रतिबंधित नहीं है किन्तु साथ ही वह विचाराधीन प्रश्न के बारे में निश्चायक नहीं है। और न ही यह तथ्य कि अनुच्छेद 19(1) द्वारा प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं पर राज्य द्वारा अनुच्छेद 19(2) से लेकर 19(6) तक के अधीन निर्बन्धन अधिरोपित किए जाते हैं उस प्रश्न के लिए कोई हल प्रस्तुत करता है। निस्संदेह रूप से राज्य अनुच्छेद 19(2) से लेकर (6) तक के अधीन मूल स्वतन्त्रताओं पर युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित कर सकता है, और साधारणतया उन निर्बन्धनों पर प्रवर्तन राज्यक्षेत्रीय होता है। किन्तु स्वतन्त्रता की परिधि को उस स्वतन्त्रता पर निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली विधियां पारित करने वाले राज्य के अधिकार द्वारा नहीं मापा जा सकता है, जिस (स्वतंत्रता) की साधारणतः सभी मामलों में भौगोलिक सीमा होती है।

45. अनुच्छेद 19(1) (क) भारतीय नागरिकों को वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदत्त करता है। यह किसी भी रीति में उस अधिकार को परिसीमित नहीं करता है और इसलिए निर्वचनात्मक सिद्धान्तों अथवा व्यावहारिक विचारों से उत्पन्न होने वाला ऐसा कोई कारण नहीं है कि न्यायालयों द्वारा उस अनुच्छेद की भाषा को इस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा जाए जिससे कि उस अधिकार के विस्तार को कम किया जा सके। वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी देने वाले खण्ड का सहज अर्थ यह है कि भारतीय नागरिक उस अधिकार का जहां भी वह प्रयोग करना चाहें प्रयोग करने के हकदार हैं और उसके लिए भौगोलिक सीमा की कोई बात नहीं है। किन्तु इसका प्रयोग

किसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन के अधीन रहते हुए अथवा, जैसा कि अनुच्छेद 19(2) में उपबन्धित किया गया है, भारत की प्रभुता और अखण्डता के, राज्य सुरक्षा के, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बंधों के, लोक व्यवस्था, शालीनता या नैतिकता के हित में अथवा न्यायालय के अवमान के, मान-हानि के अथवा अपराध के दुष्प्रेरण के सम्बन्ध में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली विधि बनाने की राज्य की शक्ति के अधीन रहते हुए ही किया जा सकेगा। वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार का भारतीय राज्यक्षेत्र की सीमाओं से परे प्रयोग वस्तुतः उस देश की विधियों के अधीन होगा जिसमें स्वतन्त्रता का प्रयोग किया जाता है अथवा प्रयोग किया जाना आशयित है। मैं इस बारे में बहुत स्पष्ट हूं कि संविधान कार्यपालिका को भारतीय नागरिक द्वारा विदेश वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का उसके द्वारा प्रयोग किया जाना निवारित करने के लिए कोई शक्ति प्रदत्त नहीं करता है जो मेरे द्वारा ऊपर कथित बातों के अधीन हैं। वस्तुतः यही इसका मर्म है जिस कारण मैंने सादर यह कहा है कि वह प्ररूप जिसमें विद्वान् महान्यायवादी ने अपनी प्रस्थापना का कथन किया है उससे वास्तविक विवाद्यक का धुंधला होना सम्भाव्य है। संविधान कतिपय मूलभूत स्वतन्त्रताओं की गारंटी देता हैं और सिवाय वहां के जहां उनका प्रयोग राज्य क्षेत्रीय बातों को ध्यान में रखते हुए सीमित किया जाना है उन स्वतन्त्रताओं का जहां कहीं भी कोई चाहे प्रयोग किया जा सकता है जो कि ऊपर उपवर्णित अपवादों और शर्तों के अधीन है।

46. अगला प्रश्न यह है कि क्या भारत से बाहर जाने का अधिकार वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार का अभिन्न भाग है और इसके भीतर आता है। मैं इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर, जैसा कि पिटीशनर के काउन्सेल श्री मदन भाटिया ने दलील दी है, देना असम्भव समझता हूं। बहुत से अधिकारों के बारे में यह कथन करना सम्भव है कि यदि उस अधिकार का विस्तार इस रूप में किया जाए जिससे कि उसके अन्तर्गत असम्बद्ध सुविधा भी आ जाए तो वह अधिकार और भी अर्थपूर्ण हो जाएगा किन्तु ऐसे विस्तारण संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार का भाग गठित नहीं करते हैं। प्रेस की स्वतन्त्रता का सादृश्य

1978(1) eILR(PAT) SC 6

वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार में सम्मिलित होने के कारण पूर्णतया गलत समझा गया है क्योंकि अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार में अविवाद्य रूप से प्रेस की स्वतन्त्रता का अधिकार आता है। एक ओर बाहर जाने का अधिकार और दूसरी ओर वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का अधिकार आधारभूत रूप से भिन्न घटकों से मिलकर बने हैं। वे वास्तव में इतने भिन्न हैं कि एक के भीतर दूसरा नहीं आ सकता।

47. बंधु भगवती ने इस पहलू पर **कैण्ट**[1], **अपवेकर**[2] और **जेमेल**[3] **वाले** कतिपय अमरीकी विनिश्चयों पर इस पहलू से सविस्तार विचार किया है और यद्यपि उनका विश्लेषण प्रबोधक है तो भी मेरा यह विचार है कि अमरीकी संविधान में पांचवें और 14वें संशोधनों में 'ड्यू प्रोसेस' खण्ड की विद्यमानता सांविधानिक गारंटियों की परिभाषा और मूल्यांकन के बारे में अमरीकी न्यायाधीशों के दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण प्रभेद करती है। मेरा यह दृष्टिकोण है कि 'विधि की सम्यक् प्रक्रिया (ड्यू प्रोसेस आफ ला) में जो अन्तर्वस्तु साशय और कल्पनापूर्वक रखी गई है वह अमरीकी संविधान और हमारे संविधान के बीच प्रभेद का एक महत्वपूर्ण बिन्दु गठित करती है जिसे (अपने संविधान) में हम उस अभिव्यक्ति के प्रयोग से सतर्कतापूर्वक बचे हैं। बर्नार्ड श्वार्ज द्वारा सम्पादित 'दि फोर्टिंथ अमेंडमेंट' की शताब्दी वाले खण्ड में जस्टिस विलियम जे० ब्रेनन द्वारा लिखित 'लैण्डमार्कस् आफ लीगल लिबर्टी' नामक लेख है जिसमें विद्वान् न्यायाधीश ने यीट्स के नाटक से उद्धरण देते हुए यह कहा कि मनुष्य के समान और असंक्राम्य अधिकारों की मान्यता के युगपुरातन स्वपन को पुराना करने में यद्यपि 14वां संशोधन 100 वर्ष पुराना है तो भी यह पुराना नहीं हो सकता।

> "ब्रिगेट ने यह पूछा, 'क्या यीट्स के नाटक में बेचारी वृद्धा स्त्री की भान्ति आपने किसी वृद्धा स्त्री को जाते हुए देखा है'? पैट्रिक ने, जो वृद्धा स्त्री के चले जाने के पश्चात् घर में आया था, यह जवाब दिया 'मैंने नहीं देखा'। किन्तु मैंने एक नवयुवती को देखा जिसकी चाल रानी जैसी थी।"

---

1 2 लायर्स इडिशन सैकेण्ड 1204.

2 12 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 992.

3 14 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179.

हमारे संविधान का वैभव भी उसी प्रकार का है किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि इसमें 'सम्यक् प्रक्रिया' (ड्यू प्रोसेस) खण्ड नहीं है। मैं इस मुद्दे पर एक सीधे विनिश्चय का हवाला देना चाहूंगा। जो **ऑल इण्डिया बैंक एम्पलाइज एसोसिएशन वाला मामला**[1] है जिसमें इस न्यायालय ने यह दलील नामंजूर कर दी थी कि अनुच्छेद 19(1)(ग) में संगम अथवा संघ बनाने की स्वतन्त्रता के साथ यह अधिकार है कि कर्मकारों का संघ वह सब कार्य कर सकता है जो उस उद्देश्य को प्राप्त करने की दृष्टि से जिसके लिए संघ बनाया गया था, उस अधिकार को प्रभावी करना आवश्यक है। एक अधिकार दूसरे अधिकार को जन्म देता है और दूसरा अधिकार उससे अगले अधिकार को और तथैव वाला सिद्धांत उपर्युक्त विनिश्चय में उल्लिखित किया गया था जो भद्दे परिणाम को जन्म देने वाला है।

48. बंधु भगवती ने इस मामले के अन्य मुद्दों पर जो कुछ कहा है मैं उसमें और कोई बात जोड़ना नहीं चाहता। मैं उनकी इस राय से सहमत हूं कि यद्यपि विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 19(1)(क) वाले अधिकार में सम्मिलित नहीं है, तो भी यदि अधिनियम की धारा 10(3)(ग) के अधीन कोई आदेश किया जाता है तो यह वस्तुतः वाक् और अभिव्यक्ति स्वतन्त्र्य के अधिकार का अतिक्रमण करता है और ऐसे अधिकार को असांविधानिक मानते हुए अविधिमान्य घोषित किया जा सकता है। यह बात सुस्थिर है कि कोई कानून सांविधानिकता की कसौटी पर भले ही खरा उतरे तो भी इसके अधीन पारित आदेश असांविधानिक हो सकता है। किन्तु इसके बारे में मैं अधिक नहीं कहूंगा क्योंकि इस विभाग में कोई भी तथ्यों के लिए जितना अपेक्षित है उससे अधिक बात नहीं कहता है और उस बात का विनिश्चय नहीं करता है जिसके लिए विनिश्चय करना आवश्यक नहीं है। इस तथ्य ने कि पिटीशनर की उसके पासपोर्ट को जब्त किए जाने के पूर्व अथवा शीघ्र पश्चात् सुनवाई नहीं की गई थी आदेश में गम्भीर शिथिलता पैदा कर दी होती यदि महान्यायवादी ने यह कथन न किया होता कि सरकार पिटीशनर की सुनवाई करने के लिए रजामन्द है और इसके अतिरिक्त आदेश के प्रवर्तन की सीमा को नए विनिश्चय की तारीख से छह मास की अवधि के लिए सीमित करने के लिए तैयार है

[1] (1962) 3 एस० सी० आर० 269.

यदि वह विनिश्चय पिटीशनर के प्रतिकूल है । मैं इस बात से सहमत हूं कि वह आदेश वस्तुतः अनुच्छेद 19(1)(क) अथवा 19(1)(छ) का अतिवर्तन नहीं करता है ।

49. अतः मैं बंधु भगवती द्वारा स्थापित आदेश से सहमत हूं ।

न्यायाधिपति एन० एल० ऊंटवालिया और एस० मुर्तज़ा फ़ज़ल अली की ओर से न्यायाधिपति पी० एन० भगवती के मतानुसार ।

न्यायाधिपति भगवती—

पिटीशनर पासपोर्ट अधिनियम, 1967 के अधीन 1 जून, 1976 को उसे जारी किए गए पासपोर्ट की धारक है । 4 जुलाई, 1977 को पिटीशनर ने क्षेत्रीय पासपोर्ट अधिकारी दिल्ली से तारीख 2 जुलाई, 1977 द्वारा एक पत्र प्राप्त किया जिसमें उसे यह सूचित किया गया था कि भारत सरकार ने अधिनियम की धारा 10(3)(ग) के अधीन लोकहित में उसका पासपोर्ट जब्त करने का और पत्र की प्राप्ति की तारीख से 7 दिन के भीतर उससे पासपोर्ट अभ्यर्पित करने की अपेक्षा करने का विनिश्चय किया है । पिटीशनर ने तुरन्त ही क्षेत्रीय पासपोर्ट अधिकारी को एक पत्र प्रस्तुत किया जिसमें उससे आदेश करने के कारणों के कथन की एक प्रति देने की, जैसा कि धारा 10(5) में उपबन्धित है, प्रार्थना की, जिसका जवाब भारत सरकार के विदेश मंत्रालय ने 6 जुलाई, 1977 को अन्य बातों के साथ-साथ यह कथन करते हुए दे दिया था कि भारत सरकार ने आदेश करने के कारणों के कथन की प्रति "जन साधारण के हित में" उसे न देने का विनिश्चय किया है । उस पर पिटीशनर ने अपने पासपोर्ट को जब्त करने वाली सरकार की कार्रवाई को और ऐसा करने के लिए कारण बताने से इन्कारी को चुनौती देते हुए प्रस्तुत पिटीशन फाइल किया । सरकार की कार्रवाई पर अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि यह असद्भावी है किन्तु इस चुनौती पर तर्कों की सुनवाई के समय हमारे समक्ष ज़ोर नहीं दिया गया और इसलिए उस प्रश्न से सम्बन्धित इन तथ्यों का कथन करना आवश्यक नहीं है । सरकार की कार्रवाई की वैधता के विरुद्ध पिटीशन में उपवर्णित प्रमुख चुनौती मुख्य रूप से इस आधार पर आधारित थी कि धारा 10(3)(ग), जहां तक कि यह पासपोर्ट प्राधिकारी को "लोकहित में" पासपोर्ट जब्त करने के लिए

सशक्त करती है, संविधान के अनुच्छेद 14 में के समता वाले खण्ड का अतिक्रमण करती है क्योंकि शक्ति के प्रयोग को "लोकहित में" शब्दों द्वारा सीमित करने वाली शर्त अस्पष्ट और अनिश्चित है इसलिए इस उपबन्ध द्वारा प्रदत्त शक्ति अतिरेकपूर्ण है और "अतिविशदता" के दोष से युक्त है । पिटीशन में यह चुनौती भी थी कि पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट जब्त करने वाला आदेश पासपोर्ट धारक को प्रतिरक्षा में सुनवाई का अवसर दिए बिना नहीं किया जा सकता था और क्योंकि प्रस्तुत मामले में सरकार ने पिटीशनर को सुनवाई का अवसर दिए बिना पासपोर्ट जब्त किया है अतः यह आदेश अकृत और शून्य है और अनुकल्पतः यदि धारा 10(3)(ग) को इस रीति में समझा जाए कि वह सुनवाई के आधार को अपवर्जित करती है तो उस धारा में मनमानेपन का दोष आ जाएगा और वह अनुच्छेद 14 की अतिवर्तनकारी होने के कारण शून्य होगी । 20 जुलाई, 1977 को यथा मूलतः फाइल किए गए पिटीशन में केवल यही आधार अपनाए गए थे, पिटीशन ग्रहण कर लिया गया था और इस न्यायालय ने आदेश जारी कर दिया था और एक अन्तरिम आदेश यह निदेश देते हुए कर दिया था कि पिटीशनर का पासपोर्ट पिटीशन की सुनवाई और अन्तिम निपटारा होने तक इस न्यायालय के रजिस्ट्रार के पास जमा रहना चाहिए ।

51. पिटीशन की सुनवाई 30 अगस्त, 1977 निश्चित की गई किन्तु उसके पूर्व पिटीशनर ने अतिरिक्त आधारों का निवेदन करने के लिए आवेदन फाइल किया और इस आवेदन द्वारा उसने दो अतिरिक्त आधारों का निवेदन करना चाहा । एक आधार यह था कि धारा 10(3)(ग) अधिकारातीत है क्योंकि यह ऐसी किसी प्रक्रिया, जैसी उस अनुच्छेद द्वारा निश्चित है, के बिना पासपोर्ट जब्त करने का उपबन्ध करती है और किसी भी दशा में यहां तक यह भी कहा जाए कि पासपोर्ट अधिनियम, 1967 के अधीन कोई भी हित रख दिया है तो यह पूर्णतया मनमानी और अयुक्तियुक्त है और इसलिए उस अनुच्छेद की अपेक्षाओं का अनुपालन नहीं है । पिटीशनर की ओर से निवेदन किया गया अन्य आधार यह था कि धारा 10(3)(ग) अनुच्छेद 19(1)(क) और 19(1)(छ) का अतिक्रमण करती है क्योंकि यह अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रत्याभूत वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्त स्वातन्त्र्य तथा

1978(1) eILR(PAT) SC 6

अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन प्रत्याभूत कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार, या कारोबार करने पर निर्बन्धन अधिरोपित करने के लिए प्राधिकृत करती है और यह निर्बन्धन क्रमशः अनुच्छेद 19(2) और अनुच्छेद 19(6) के अधीन अनुज्ञेय नहीं है । इन दो आधारों का निवेदन करने वाले आवेदन को इस न्यायालय ने मंजूर कर लिया था और अन्त में इस पिटीशन की सुनवाई के समय ये दो मुख्य आधार थे जिन पर पिटीशनर की ओर से जोर दिया गया था ।

52. इस पिटीशन में उत्पन्न होने वाले बहुत से प्रश्नों के बारे में पक्षकारों की ओर से निवेदन किए गए विरोधी तर्कों की परीक्षा करने से पूर्व हमारे लिए पासपोर्ट अधिनियम, 1967 के सुसंगत उपबन्धों को उपवर्णित करना सुविधाजनक होगा। यह अधिनियम **सतवन्त सिंह साहनी** बनाम **डॉ० रामरत्नम, सहायक पासपोर्ट अधिकारी, भारत सरकार नई दिल्ली और अन्य**[1] वाले मामले में इस विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए अधिनियमित किया गया था। इस अधिनियम के प्रवृत्त होने से पूर्व जो स्थिति थी वह यह थी कि भारत से प्रस्थान और विदेश जाने के लिए पासपोर्टों के जारी किए जाने को विनियमित किए जाने की कोई विधि नहीं थी। पासपोर्टों का जारी किया जाना पूर्ण रूप से कार्यपालिका के विवेकाधीन था और यह विवेकाधिकार बेतुका और अनियंत्रित था। इस न्यायालय ने बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 21 में "दैहिक स्वाधीनता" पद के अन्तर्गत गमन और विदेश यात्रा का अधिकार आ जाता है और अनुच्छेद 21 के अधीन किसी भी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार वंचित नहीं किया जाएगा और क्योंकि राज्य ने ऐसे अधिकार के प्रयोग को विनियमित करने के लिए विधि नहीं बनाई थी, पासपोर्ट देने से इन्कार करना अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण है और इसके अतिरिक्त पासपोर्ट जारी करने अथवा इन्कार करने के विषय में कार्यपालक विवेकाधिकार अनियन्त्रित और मनमाना होने के कारण यह सही रूप से अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करता है और इसलिए पिटीशनर को पासपोर्ट देने से इन्कार करने वाला आदेश उस अनुच्छेद के अधीन भी अविधिमान्य है । संसद् में इस विनिश्चय को स्वीकार किया और इसके द्वारा इंगित खामी को पासपोर्ट अधिनियम, 1967 का अधिनियमन करके ठीक कर दिया गया था। यह अधिनियम,

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

जैसा कि इसकी उद्देशिका से दर्शित होता है, भारत के नागरिकों तथा अन्य व्यक्तियों को भारत से प्रस्थान करने का विनियमन करने के लिए पासपोर्ट, यात्रा दस्तावेज जारी करने का और उनसे आनुषंगिक और सम्बद्ध विषयों का उपबन्ध करने के लिए अधिनियमित किया गया था। धारा 3 में यह उपबन्ध है कि कोई भी व्यक्ति जब तक उसके पास इस निमित कोई विधिमान्य पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज न हो, भारत से प्रस्थान करेगा और न ही प्रस्थान करने का प्रयत्न करेगा। वे पासपोर्टों और यात्रा-दस्तावेजों के भिन्न वर्ग कौन से हैं जिन्हें अधिनियम के अधीन जारी किया जा सकता है, उन्हें धारा 4 में अधिकथित किया गया है, धारा 5 की उप-धारा (1) में पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज जारी करने अथवा विदेश या विदेशों के परिदर्शन के लिए ऐसे पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेजों पर पृष्ठांकन के लिए आवेदन करने का उपबन्ध किया गया है और उप-धारा (2) में यह कहा गया है कि ऐसे आवेदन की प्राप्ति पर पासपोर्ट प्राधिकारी, ऐसी जांच, यदि कोई हो, जैसी वह आवश्यक समझे, करने के पश्चात् लिखित आदेश द्वारा पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज जारी करेगा या जारी करने से इंकार करेगा और आवेदन में विनिर्दिष्ट एक या अधिक आदेशों की बावत पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेजों पर पृष्ठांकन करेगा या करने से इन्कार करेगा। उप-धारा (3) पासपोर्ट प्राधिकारी से जब वह पासपोर्ट अथवा यात्रा-दस्तावेज जारी करने से अथवा पासपोर्ट अथवा यात्रा-दस्तावेज पर कोई पृष्ठांकन करने से इन्कार करता है तो ऐसा आदेश करने के लिए अपने कारणों का संक्षिप्त कथन लेखबद्ध करने की अपेक्षा करती है। धारा 6 की उप-धारा (1) में वे आधार अधिकथित किए गए हैं जिनके आधार पर पासपोर्ट प्राधिकारी किसी विदेश का परिदर्शन करने के लिए पृष्ठांकन करने से इन्कार करेगा और किसी अन्य आधार पर पृष्ठांकन करने से इन्कार नहीं करेगा। इस उपधारा में 4 आधार उपवर्णित किए गए हैं और उनमें से अन्तिम यह है कि आवेदन की ऐसे विदेश में उपस्थिति केन्द्रीय सरकार की राय में लोकहित में नहीं है। उसी प्रकार धारा 6 की उप-धारा (2) में वे आधार विनिर्दिष्ट किए गए हैं जिन पर कि एक मात्र आधार पर और न कि अन्य आधारों के आधार पर, पासपोर्ट प्राधिकारी किसी विदेश का परिदर्शन करने के लिए पासपोर्ट अथवा यात्रा-दस्तावेज जारी करने से इन्कार करेगा और उनमें से उपवर्णित बहुत से आधारों में से अन्तिम यह है कि आवेदक को

पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज जारी करना केन्द्रीय सरकार की राय में लोकहित में नहीं होगा। इसके पश्चात् हम धारा 10 पर आते हैं जो विचारार्थ सारवान धारा है । उस धारा की उपधारा (1) पासपोर्ट प्राधिकारी को पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेज के पृष्ठांकन में परिवर्तन करने अथवा रद्द करने अथवा उन शर्तों में परिवर्तन करने अथवा रद्द करने के लिए सशक्त करती है जिनके अधीन रहते हुए पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेज जारी किया गया है जिनके लिए अन्य बातों के साथ धारा 6 की उपधारा (1) के उपबन्धों का अथवा धारा 19 के अधीन किसी अधिसूचना के उपबन्धों का ध्यान रखा जाएगा । उपधारा (2) पासपोर्ट प्राधिकारी को पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेज के धारक के आवेदन करने पर पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेजों की शर्तों को केन्द्रीय सरकार के पूर्व-अनुमोदन से परिवर्तित अथवा रद्द करने की शक्तियां प्रदत्त करती है । उपधारा (3) में यह उपबन्ध है कि पासपोर्ट प्राधिकारी खण्ड (क) से लेकर (ज) तक में उपवर्णित आधारों पर पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेज को जब्त अथवा प्रतिसंहृत कर सकेगा। प्रस्तुत मामले में पासपोर्ट जब्त करने का आदेश केन्द्रीय सरकार द्वारा खण्ड (ग) के अधीन किया गया जो (खण्ड) इस प्रकार है––

> "(ग) यदि पासपोर्ट प्राधिकारी ऐसा करना भारत की प्रभुता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा या किसी विदेश के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण संबन्धों के हित में अथवा जनसाधारण के हित में आवश्यक समझे ।"

आदेश करने के लिए जिन विशेष आधारों का अवलम्ब लिया गया है वह यह था जो खण्ड (ग) के अन्तिम भाग में उपवर्णित किया गया है अर्थात् यह कि केन्द्रीय सरकार जनसाधारण के हित में पासपोर्ट जब्त करना आवश्यक समझती है । उसके पश्चात् उपधारा (5) है जो पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेज को जब्त करने वाले अथवा उस पर किए गए पृष्ठांकन को परिवर्तित अथवा रद्द करने वाले पासपोर्ट प्राधिकारी से यह अपेक्षा करती है कि वह ऐसा आदेश करने के लिए अपने कारणों का संक्षिप्त कथन लेखबद्ध करेगा अथवा यात्रा दस्तावेज के धारक को उसकी एक प्रति देगा जब तक कि किसी मामले में पासपोर्ट प्राधिकारी की यह राय न हो कि ऐसी प्रति देना भारत की प्रभुता और अखण्डता के, भारत

की सुरक्षा के, किसी विदेश के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में अथवा जनसाधारण के हित में नहीं होगा।" इस उपधारा के पश्चात् कथित भाग के उपबन्ध के आधार पर ही केन्द्रीय सरकार ने पासपोर्ट को जब्त करने के कारणों के कथन की एक प्रति इस आधार पर नहीं देनी चाही कि पिटीशनर को ऐसी प्रति देना जनसाधारण के हित में नहीं था। यह खेद का विषय है कि केन्द्रीय सरकार ने पिटीशनर की इस प्रार्थना के जवाब में कि उसे कारणों के कथन की प्रति दी जाए, यह रुख अपनाया क्योंकि अन्ततोगत्वा जब पिटीशन फाइल किया गया तो केन्द्रीय सरकार ने पिटीशन के जवाब में के शपथपत्र में कारण प्रकट किए जिनसे यह दर्शित होता है कि वस्तुतः यह लोकहित के प्रतिकूल नहीं था और यदि हम जवाब में फाइल किए गए शपथपत्र में दिए गए कारणों पर दृष्टिपात करें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि कोई भी युक्तियुक्त व्यक्ति संभवतः ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपना सकता था कि कारणों के प्रकट करने से जनसाधारण के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यह ऐसा उदाहरण है जिससे यह दर्शित होता है कि जनसाधारण के हित में कार्य करने वाले कानूनी प्राधिकारी को प्रदत्त उच्च शक्ति का कभी-कभी अनुचित रूप से प्रयोग किया जा सकता है। यदि पिटीशनर ने पिटीशन फाइल न किया होता तो उसे कदाचित यह पता नहीं लग सकता था कि वे कारण क्या थे। जिनके लिए पासपोर्ट जब्त किया गया अथवा उसे विदेश जाने के अधिकार से वंचित किया गया। सुव्यक्त रूप से उपधारा (5) में कारण देने की आवश्यकता इसलिए जोड़ी गई है जिससे कि यह शक्ति के दुरुपयोग अथवा दुष्प्रयोग के विरुद्ध सुचारु नियंत्रण के रूप में कार्य कर सके। यदि दिए गए कारण सुसंगत नहीं है और कारणों के और उन आधारों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है जिनके आधार पर पासपोर्ट जब्त किया गया है तो पासपोर्ट धारक जब्त करने वाले आदेश को न्यायालय में चुनौती दे सकता है और यदि न्यायालय का इस बाबत समाधान हो जाता है कि वे कारण असम्बद्ध अथवा असंगत है तो न्यायालय उस आदेश को अमान्य घोषित कर देगा। यह उत्तरदायित्व जिसकी न्यायिक संवीक्षा की जा सकेगी, शक्ति के अनुचित अथवा असद्भावी दुरुपयोग के विरुद्ध स्वयं एक सुरक्षोपाय के रूप में कार्य करेगा। अतः न्यायालय गंभीर संवीक्षा किए बिना पासपोर्ट प्राधिकारी के इस दावे को शीघ्र स्वीकार नहीं करेंगे कि कारणों को प्रकट करना जनसाधारण के हित में नहीं

होगा। पासपोर्ट प्राधिकारी को समुचित सामग्री पेश करके न्यायालय का यह समाधान करना होगा कि कारणों का दिया जाना स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से जनसाधारण के हितों के विरुद्ध होगा और यदि न्यायालय का ऐसा समाधान नहीं होता है तो न्यायालय पासपोर्ट प्राधिकारी से यह अपेक्षा करेगा कि वह कारण प्रकट करे जो किसी ऐसे विशेषाधिकार के लिए विधिमान्य और विधिपूर्ण दावे के अध्यधीन होगी जो सरकार की ओर से प्रस्तुत किया जाए। जैसा कि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं प्रस्तुत मामले में केन्द्रीय सरकार ने आरम्भ में यह दावा किया था कि पासपोर्ट जब्त करने के कारणों को प्रकट करना जनसाधारण के हितों के विरुद्ध होगा किन्तु जब इस ने जवाब में शपथपत्र फाइल किया तो केन्द्रीय सरकार ने इस अमान्य दावे को बहुत समुचित रूप से त्याग दिया और कारण प्रकट कर दिए। यह प्रश्न कि क्या इन कारणों का जनसाधारण के हितों से कोई संबन्ध है अथवा क्या वे असम्बद्ध अथवा असंगत है ऐसा विषय है जिसकी हम पक्षकारों के तर्कों पर विचार करने के समय परीक्षा करेंगे इस बीच सुसंगत उपबन्धों के सारांश पर आगे विचार करते हुए धारा 11 के प्रति निर्देश करना उचित होगा जिसमें धारा 10 की उपधारा (3) के अधीन अन्य बातों के साथ-साथ पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेज को जब्त अथवा प्रतिसंहृत करने वाले आदेश के विरुद्ध अपील का उपबन्ध किया गया है। किन्तु इस उपधारा का एक परन्तुक है जिसमें यह कहा गया है कि यदि केन्द्रीय सरकार द्वारा पासपोर्ट अथवा यात्रा दस्तावेज को जब्त अथवा प्रतिसंहृत करने वाला आदेश पारित किया जाता है तो अपील का अधिकार नहीं होगा। अधिनियम के ये सुसंगत उपबन्ध है जिनके प्रकाश में हम धारा 10 की उपधारा (3) (ग) की सांविधानिकता पर और पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने वाले आदेश की विधिमान्यता पर विचार करना होगा।

अनुच्छेद 21 में दैहिक स्वाधीनता का अर्थ और विस्तार

53. पिटीशन के समर्थन में पिटीशनर की ओर से दी गई प्रथम दलील यह है कि विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 21 में यथाप्रयुक्त दैहिक स्वाधीनता पद के अर्थ के भीतर उसका भाग है और किसी भी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार से वंचित नहीं किया जाएगा। पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा पासपोर्ट को जब्त

अथवा प्रतिसंहृत करने के लिए कोई प्रक्रिया विहित नहीं की गई है और उसके द्वारा पासपोर्ट धारक को विदेश जाने से निवारित नहीं किया गया है और किसी भी दशा में, यदि अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों में किसी प्रक्रिया को खोजा जा सकता है तो यह अयुक्तियुक्त और मनमानी है क्योंकि पासपोर्ट धारक को आदेश किए जाने के विरुद्ध सुनवाई का अवसर दिए जाने का उपबन्ध नहीं करती है और इसलिए पिटीशनर का पासपोर्ट जब्त करने की केन्द्रीय सरकार की कार्यवाही अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण है। पिटीशनर की इस दलील से अनुच्छेद 21 के सही निर्वचन के बारे में एक प्रश्न पैदा हो जाता है कि इस अनुच्छेद द्वारा दिए गए संरक्षण की प्रकृति और विस्तार क्या है? दैहिक स्वाधीनता से क्या अभिप्रेत है? क्या इसमें विदेश जाने का अधिकार सम्मिलित है जिससे कि इस अधिकार को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार से न्यून नहीं किया जा सकता है अथवा छीना नहीं जा सकता है। क्या अनुच्छेद 21 मात्र रूप से यह अपेक्षा करता है कि किसी व्यक्ति को उसकी दैहिक स्वाधीनता से वंचित किए जाने से पूर्व विधि द्वारा विहित प्रक्रिया का कुछ आभास होना चाहिए चाहे वह कितनी भी मनमानी अथवा कल्पित हो अथवा यह कि प्रक्रिया को कतिपय अपेक्षाओं को इस आशय में पूरा करना चाहिए कि यह निष्पक्ष और युक्तियुक्त हो। अनुच्छेद 21 संविधान के भाग 3 में आता है जो कतिपय मूल अधिकार प्रदत्त करता है। इन मूल अधिकारों का गहन उद्गम स्वतंत्रता का संघर्ष है और जैसा कि ग्रेंडविल आस्टिन ने 'दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन कार्नर स्टोन ऑफ ए नेशन" में संकेत किया है "उन्हे संविधान में इस आशा और प्रत्याशा के साथ सम्मिलित किया गया था कि एक दिन सही स्वाधीनता का वृक्ष भारत में विकसित होगा।" वे उस जाति के अवचेतन मन में अमिट तौर पर अंकित थे जिन्होंने ब्रिटिश शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पूरे 30 वर्ष तक लड़ाई लड़ी और जब संविधान अधिनियमित किया गया तो उन्होंने मूल अधिकारों के रूप में अभिव्यक्ति पाई। ये मूल अधिकार इस देश की जनता द्वारा वैदिक काल से संजोए गए आधारभूत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और वे व्यक्ति की गरिमा का संरक्षण करने और ऐसी दशाएं बनाने के लिए परिकल्पित हैं जिनमें हर एक मानव अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। वे 'मानव अधिकारों के आधारभूत ढांचे के आधार पर गारन्टी का एक ताना-बाना बुनते हैं और व्यक्तिगत

1978(1) eILR(PAT) SC 6

स्वाधीनता पर इसके विभिन्न आयामों में, अतिक्रमण न करने की राज्य पर नकारात्मक बाध्यता अधिरोपित करते हैं । इन अधिकारों के प्रतिपादन से यह बात स्पष्ट है कि व्यक्ति और उसके व्यक्तिगत सामर्थ्य के लिए प्रतिष्ठा, जो उसमें अभिव्यक्त है, स्वतः पूर्ण भविष्यवाणी नहीं है । इसका प्रयोजन अपने दायित्व को समझने में व्यक्ति की मदद करना, उसकी सृजन शक्ति को अभिव्यक्ति देना और सरकारी और अन्य तन्त्रों को व्यक्ति को उसकी सृजनात्मक अन्तः प्रेरणाओं से विमुख करने से निवारित करना है । ये अधिकार विस्तृत और व्यापक हैं और वे सात शीर्षकों के अधीन आते हैं अर्थात् समता-अधिकार, स्वातन्त्र्य अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार और सांविधानिक उपचारों के अधिकार अनुच्छेद 14 से लेकर 18 तक 'समता अधिकार' शीर्षक के अधीन आते हैं और उनमें से सब से अधिक महत्वपूर्ण अनुच्छेद 14 है जो राज्य को भारत राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से वंचित न करने का व्यादेश देता है । अनुच्छेद 19 से लेकर 22 तक जो स्वातन्त्र्य-अधिकार के शीर्षक के अधीन आते हैं, स्वतन्त्रता के विभिन्न पहलुओं का उपबन्ध करते हैं । अनुच्छेद 19 का खण्ड (1) उस स्वतंत्रता का प्रतिपादन करता है जिसे स्वतंत्रता के साथ दीपों के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है । इसमें यह उपबन्ध है कि सभी नागरिकों को (क) वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का, (ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का, (ग) संस्था या संघ बनाने का, (घ) भारत राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का, (ङ) भारत राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, (च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का तथा (छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का, अधिकार होगा । किन्तु ये स्वतंत्रताएं पूर्ण नहीं है और न हो सकती हैं क्योंकि किसी की पूर्ण और अनिर्बन्धित स्वतंत्रता दूसरे की स्वतंत्रता की विनाशक हो सकती है और किसी सुव्यवस्थित सभ्य समाज में स्वतंत्रता केवल ऐसी हो सकती है जो विनियमित स्वतंत्रता हो । अतः अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से लेकर (6) उस अनुच्छेद के खण्ड (क) के अधीन प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रयोग पर युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित किया जाना अनुज्ञात करते हैं । अनुच्छेद 20 पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह

पक्षकारों के बीच संविवाद के अवधारण के लिए सारवान नहीं है। उसके पश्चात् अनुच्छेद 21 आता है जिसमें यह उपबन्ध है—

> "21. किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार वंचित न किया जाएगा।"

अनुच्छेद 22 कतिपय मामलों में गिरफ्तारी और निरोध के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है और उस में अन्य बातों के साथ-साथ निवारक निरोध की दशा में सुरक्षोपायों का उपबन्ध किया गया है। अन्य मूल अधिकार प्रस्तुत विचारविमर्श के लिए सुसंगत नहीं हैं और हमारे लिए उनके प्रति निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है।

54. यह बात सुव्यक्त है कि अनुच्छेद 21, यद्यपि यह नकारात्मक भाषा में है, प्राण और दैहिक स्वाधीनता का मूल अधिकार प्रदत्त करता है। जहां तक दैहिक स्वाधीनता के अधिकार का सम्बन्ध है, इसको यह उपबन्ध करके सुनिश्चित किया गया है कि किसी व्यक्ति को उसकी दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार से वंचित नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 21 की भाषा के बारे में विचारार्थ पहला प्रश्न जो उत्पन्न होता है वह यह है कि इस अनुच्छेद में यथाप्रयुक्त 'दैहिक स्वाधीनता' शब्दों का अर्थ और विस्तार क्या है ? यह प्रश्न **ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य**[1] में के कुछ निर्णयों में विचार-विमर्श के लिए आनुषंगिक रूप से प्रस्तुत हुआ है और न्या० पातंजलिशास्त्री, न्या० मुखर्जी और न्या० एस० आर० दास द्वारा व्यक्त किए गए मत 'दैहिक स्वाधीनता' शब्दों का ऐसा संकुचित अर्थान्वयन करते हैं जिससे कि इसे अनुच्छेद 21 के संरक्षण को अविधिपूर्ण निरोध के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता के संरक्षण तक ही सीमित किया जा सके। किन्तु इस मुद्दे पर कोई निश्चित निर्णय नहीं दिया गया था क्योंकि न्यायालय के समक्ष दैहिक स्वाधीनता शब्दों के निर्वचन का प्रश्न उतना नहीं था जितना कि अनुच्छेद 19 और 21 के पारस्परिक सम्बन्ध का था। **खड़क सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[2] में दैहिक स्वाधीनता' पद के समुचित प्रविषय और अर्थ का प्रश्न प्रथम बार सूक्ष्म रूप से इस न्यायालय के समक्ष विचारार्थ आया। न्यायाधीशों के

---

[1] 1950 एस० सी० आर० 88.

[2] (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

बहुमत ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि अनुच्छेद में 'दैहिक स्वाधीनता' पद को ऐसे सारगर्भित पद के रूप में प्रयुक्त किया गया है जिससे कि इसके भीतर वे सब अधिकार आ जाएं जिनसे मिलकर किसी व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता बनती है, लेकिन उनको छोड़ते हुए जिनके बारे में अनुच्छेद 19(1) के बहुत से खण्डों में चर्चा की गई है। दूसरे शब्दों में, जब कि अनुच्छेद 19(1) उस स्वतन्त्रता की विशेष जातियों अथवा विशेषताओं के बारे में है, अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' के अन्तर्गत अवशिष्ट (स्वतन्त्रता) हैं। किन्तु अल्पमत न्यायाधीश बहुमत द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से असहमत थे और उन्होंने अपनी स्थिति निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट की—"इसमें संदेह नहीं है कि 'दैहिक स्वाधीनता' पद एक व्यापक पद है और अबाध रूप से संचरण करने का अधिकार दैहिक स्वाधीनता का एक गुण है। यह कहा गया है कि अबाध संचरण करने की स्वतंत्रता दैहिक स्वाधीनता में से निकाली गई है और इसलिए अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद उस गुण को अपवर्जित करता है। हमारा दृष्टिकोण है कि यह सही दृष्टिकोण नहीं है। दोनों ही स्वतन्त्र मूल अधिकार हैं यद्यपि इनमें अतिव्याप्ति है। किसी का दूसरे में से निकाले जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। प्राण और दैहिक स्वाधीनता के मूल अधिकार की बहुत सी विशेषताएं हैं और उनमें से कुछ अनुच्छेद 19 में हैं। यदि अनुच्छेद 21 के अधीन किसी व्यक्ति के मूल अधिकार का अतिलंघन किया जाता है तो राज्य उस कार्य का समर्थन करने के लिए किसी विधि का अवलम्ब ले सकता है किन्तु यह पूर्ण उत्तर नहीं है जब तक कि उक्त विधि अनुच्छेद 19(2) में अधिकथित कसौटी को वहां तक पूरा नहीं करती जहां तक कि वे विशेषताएं अनुच्छेद 19(1) के अन्तर्गत आती हैं? इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि **आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए अल्पमत दृष्टिकोण को सही माना जाना चाहिए और बहुमत वाले दृष्टिकोण के बारे में यह माना जाना चाहिए कि उसे उलट दिया गया है। हम **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] के विनिश्चय का विश्लेषण और उस पर विचारविमर्श बाद में उस समय करेंगे जब हम अनुच्छेद 19(1)(क) और 19(1)(छ) के अतिलंघन पर आधारित तर्कों पर विचार करेंगे

---

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

किन्तु इस समय यह कहना पर्याप्त होगा कि इस विनिश्चय के अनुसार, जो पूरे न्यायालय ने दिया था, भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार सुभिन्न और परस्पर अपवर्जक अधिकार नहीं है। हर स्वतन्त्रता के भिन्न आयाम हैं और मात्र इसलिए कि एक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप की सीमाओं की पूर्ति कर देने से विधि को अन्य प्रत्याभूत स्वतन्त्रता की चुनौती का सामना करने की आवश्यकता से मुक्ति नहीं मिल जाती। **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] के विनिश्चय ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया कि अनुच्छेदों 21, 22 और 31 के अधीन स्वतंत्रताएं अपवर्जनकारी हैं--इनमें से हर एक अनुच्छेद विशिष्ट अधिकारों से सम्बन्धित संहिता अधिनियमित करता है किन्तु इस सिद्धान्त को **आर० सी० कूपर वाले मामले**[2] में उलट दिया गया था जिसमें न्यायाधीश शाह ने बहुमत की ओर से निर्णय देते हुए यह संकेत किया कि 'संविधान का भाग 3 आधारभूत मानव अधिकारों के तानेबाने पर आधारित गारंटियों का एक नमूना प्रस्तुत करता है। गारंटियां उनके आबंटित क्षेत्र में इन अधिकारों के संरक्षण को परिसीमित करती हैं, वे विशिष्ट अधिकारों के प्रतिपादन का प्रयत्न नहीं करती हैं।' उसने इस निष्कर्ष का सारांश इन शब्दों में दिया था हमारा यह विचार है कि **ए० के० गोपालन**[1] वाले मामले की इस उपधारणा को सही नहीं माना जा सकता है कि संविधान के कतिपय अनुच्छेद विनिर्दिष्ट विषयों के बारे में अनन्य रूप से चर्चा करते हैं।" **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया था और न्या० शाह के निर्णय से स्पष्ट है क्योंकि न्या० शाह ने **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में मुख्य न्या० कानिया, न्या० पातंजलिशास्त्री, न्या० महाजन, न्या० मुखर्जी और न्या० एस० आर० दास के मतानुसार विधि के प्रतिकूल कथन का इन शब्दों में निरनुमोदन (खण्डन) किया था कि जब किसी व्यक्ति को विधि द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार, जैसी कि अनुच्छेद 21 की आज्ञा है, निरुद्ध किया जाता है तो अनुच्छेद 19(1) के बहुत से खण्डों द्वारा प्रदत्त संरक्षण उसे प्राप्त होना बन्द नहीं हो जाता और ऐसे निरोध को प्राधिकृत करने वाली विधि को अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के अधीन लागू होने वाली स्वतन्त्रताओं की कसौटी को पूरा करना होता है। इससे स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होगा कि अनुच्छेद 19(1) और 21 परस्पर अपवर्जनकारी नहीं हैं क्योंकि यदि वे ऐसे

---

1 1950 एस० सी० आर० 88.

2 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

होते तो अनुच्छेद 21 के अर्थ के भीतर किसी व्यक्ति को दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने वाली विधि को अनुच्छेद 19(1) के अधीन मूल अधिकार की चुनौती का सामना करने का प्रश्न ही नहीं उठता । वस्तुतः उस दशा में निवारक निरोध सम्बन्धी विधि को, जो किसी व्यक्ति को संकुचित भाव में दैहिक स्वाधीनता से अर्थात् निरोध से स्वतन्त्रता से वंचित करती है और इस प्रकार निर्विवाद रूप से अनुच्छेद 21 के भीतर आ जाती है, अनुच्छेद 19(1) के खण्ड (ग) की कसौटी पर कसना अपेक्षित नहीं होगा और **शम्भू नाथ सरकार** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसी विधि को अन्य बातों के साथ-साथ अनुच्छेद 19(1) के खण्ड (ग) की अपेक्षा को पूरा करना होगा और **हराधन साहा** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में, जो विनिश्चय पांच न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने दिया था, इस न्यायालय ने आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 की सांविधानिक विधिमान्यता के बारे में अनुच्छेद 19(1) के खण्ड (ग) की चुनौती पर विचार किया और यह अभिनिर्धारित किया कि वह अधिनियम उस अनुच्छेद में समाविष्ट सांविधानिक गारंटी का अतिक्रमण नहीं करता है । वस्तुतः यह समझ में आना कठिन है कि हम किस सिद्धान्त पर अनुच्छेद 21 में यथा प्रयुक्त 'दैहिक स्वाधीनता' पद को उसका सहज नैसर्गिक अर्थ न दे कर उसे इस प्रकार संकुचित और निर्बन्धित भाव में समझें। जिससे कि दैहिक स्वाधीनता की वे विशेषताएं अपवर्जित हो जाएं जिनके बारे में अनुच्छेद 19 में विनिर्दिष्ट रूप से चर्चा की गई है । हमारा यह विचार है कि मूल अधिकार प्रदत्त करने वाले संविधान के उपबन्धों के निर्वचन करने का यह सही ढंग नहीं है । न्यायालय का प्रयत्न मूल अधिकारों के अर्थ और विस्तार को न्यायिक प्रक्रिया द्वारा कम करने के बजाय यह प्रयत्न होना चाहिए कि वह उसके प्रविषय और परिधि को विस्तारित करे । मूल अधिकारों के प्रविषय और परिधि को विस्तृत करने का मार्ग इस न्यायालय ने **आर० सी० कूपर वाले मामले**[3] में प्रशस्त कर दिया है और मूल अधिकारों के निर्वाचन के बारे में हमारा दृष्टिकोण इस विस्तार के अनुरूप होना चाहिए । पुनरावृत्ति की जोखिम

[1] (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411.

[2] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[3] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

पर भी हम यह संकेत करना चाहेंगे कि **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] में इस न्यायालय ने अभिव्यक्त रूप से यह कहा है कि हर एक स्वतन्त्रता के भिन्न आयाम हैं और वह भिन्न मूल अधिकारों के बीच अतिव्यापी हो सकते हैं और इसलिए यह कहना कोई विधिमान्य तर्क नहीं है कि अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद का इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए जिससे कि उस अनुच्छेद और अनुच्छेद 19(1) के बीच अतिव्याप्ति से बचा जा सके। अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद का सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्र है और इसके अन्तर्गत ऐसे बहुत से अधिकार आते हैं जो व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता गठित करते हैं और उनमें से कुछ को विशिष्ट मूल अधिकारों की प्रास्थिति तक उठाया गया है और अनुच्छेद 19 के अधीन संरक्षण दिया गया है। **सतवन्त सिंह वाले मामले**[2] में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 21 के अर्थ के भीतर दैहिक स्वाधीनता के क्षेत्र के अन्तर्गत विदेश जाने का अधिकार है और परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को इस अधिकार से विधि द्वारा विहित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता है। पासपोर्ट अधिनियम, 1967 के अधिनियमन के पूर्व किसी व्यक्ति के विदेश जाने के अधिकार को विनियमित करने वाली कोई विधि नहीं थी और यही कारण है कि **सतवन्त सिंह वाले मामले**[2] में पासपोर्ट अधिकारी के पिटीशनर को पासपोर्ट जारी करने से इनकार करने वाले आदेश को अविधिमान्य ठहराया गया था। अनुच्छेद 21 की भाषा से यह एक दम स्पष्ट हो जाता है कि यह एक सीमित संरक्षण देता है। यह उस कार्यपालिक हस्तक्षेप के, जो विधि द्वारा समर्थित नहीं है, विरुद्ध विदेश जाने के अधिकार की रक्षा करता है और यहां विधि से 'अधिनियमित विधि' अथवा 'राज्य की विधि' अभिप्रेत है। (देखिए—**ए० के० गोपालन वाला मामला**[3])। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति को विदेश जाने के उसके अधिकार से तब तक वंचित नहीं किया जा सकता है जब तक राज्य द्वारा ऐसी विधि न बनाई गई हो जो उसे इस प्रकार वंचित करने की प्रक्रिया विहित करती हो और जब तक ऐसा वंचन यथार्थ रूप से ऐसी प्रक्रिया के अनुसार प्रभावी नहीं किया जाता है। इसी कारण से, अनुच्छेद 21 की अपेक्षा का अनुपालन करने की दृष्टि से संसद् ने विदेश जाने के अधिकार को विनियमित करने के लिए पासपोर्ट अधिनियम, 1967 अधिनियमित

---

1 (1970) 3 एस० सी० आर० 350=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

2 (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

3 (1950) एस० सी० आर० 88.

किया। पासपोर्ट अधिनियम, 1967 के उपबन्धों से यह स्पष्ट है कि इसमें वे परिस्थितियां अधिकथित की गई हैं जिनके अधीन कोई पासपोर्ट जारी किया जा सकता है, नामंजूर किया जा सकता है, रद्द किया जा सकता है अथवा जब्त किया जा सकता है और इसमें ऐसा करने के लिए प्रक्रिया भी विहित की गई है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह अनुच्छेद 21 का पर्याप्त अनुपालन है। क्या किसी प्रकार की प्रक्रिया का विहित किया जाना पर्याप्त है अथवा क्या उस प्रक्रिया को किसी विशेष अपेक्षा का अनुपालन करना होता है? स्पष्टतया प्रक्रिया मनमानी, निष्पक्ष अथवा अयुक्तियुक्त नहीं हो सकती। वस्तुतः विद्वान् महान्यायवादी ने यह बात स्वीकार की है, जिन्होंने अपनी सामान्य निष्पक्षता से, स्पष्ट रूप से यह कथन किया कि उनके लिए यह दलील देना सम्भव नहीं है कि विधि द्वारा ऐसी प्रक्रिया विहित की जा सकती है चाहे वह कितनी ही मनमानी, दमनकारी अथवा अन्यायसंगत हो। **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में इस बारे में कुछ विचार-विमर्श हुआ था कि अनुच्छेद 21 के अधीन विहित की जाने के लिए अपेक्षित प्रक्रिया की प्रकृति क्या होनी चाहिए और पांच विद्वान न्यायाधीशों में से तीन ने सशक्त रूप से उस दृष्टिकोण के पक्ष में मत व्यक्त किया कि प्रक्रिया मनमानी, वेतुकी और दमनकारी नहीं हो सकती है। न्यायाधिपति फ़ज़ल अली ने, जो अल्पमत में थे, इस सीमा तक कह डाला कि प्रक्रिया में वे चार अनिवार्य तत्व होने चाहिएं जिन्हें प्रोफेसर विलीस की पुस्तक कांस्टिट्यूशनल लॉ में उपवर्णित किया गया है अर्थात् सूचना, सुनवाई का अवसर, निष्पक्ष अधिकरण और सामान्य प्रक्रिया। न्या० पातजंलिशास्त्री उस सीमा तक नहीं गए लेकिन तो भी उन्होंने यह कहा कि "कतिपय आधारभूत सिद्धांत उन स्थायी तथ्यों के रूप में उभर कर सामने आए हैं जो उन सभी प्रक्रियाओं के लिए नए नहीं हैं और वे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का मर्म गठित करते हैं।" न्या० महाजन ने भी यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 21 यह अपेक्षा करता है कि "किसी व्यक्ति को उसके प्राण, अथवा उसकी स्वाधीनता की बाबत दण्डित करने से पूर्व किसी प्रकार की कार्यवाही होनी चाहिए।" और "ये वेतुकी मनमानी और दमनकारी कार्यवाहियों का खण्डन करते हैं किन्तु **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में इन मताभिव्यक्तियों से, जो बहुत महत्वपूर्ण हैं,

---

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

बिल्कुल अलग यह हम पाते हैं कि इस सिद्धांत के आधार पर भी युक्तियुक्तता के सिद्धांत को, इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अनुच्छेद 14 का अनुच्छेद 21 पर क्या प्रभाव होगा, अनुच्छेद 21 में अनुध्यात प्रक्रिया में निरूपित किया जाना चाहिए ।

अनुच्छेद 14, 19 और 21 का पारस्परिक सम्बन्ध

55. इस पर हम एक ओर अनुच्छेद 21 के और दूसरी ओर अनुच्छेद 14 और 19 के बीच पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार कर सकते हैं । हम यह पहले ही संकेत कर चुके हैं कि **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में बहुमत द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण यह था कि जब तक निवारक निरोध सम्बन्धी विधि अनुच्छेद 22 की अपेक्षाओं को पूरा करती है तब तक यह अनुच्छेद 21 के निबन्धनों के अधीन होगी और इसके लिए अनुच्छेद 19 की चुनौती को पूरा करना आवश्यक नहीं होगा । यह दृष्टिकोण इस धारणा पर अग्रसर हुआ कि "संविधान में के कतिपय अनुच्छेदों में विनिर्दिष्ट विषयों के बारे में अनन्य रूप से चर्चा की गई है, और जहां प्रश्नगत विशेष विषयों के बारे में किसी अनुच्छेद की अपेक्षाओं को पूरा कर दिया जाता है और उस अनुच्छेद द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकार का कोई अतिलंघन नहीं होता है वहां अन्य अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार का आश्रय नहीं लिया जा सकता है । **आर० सी० कूपर**[2] **वाले मामले** में अनन्यतः इस सिद्धांत पर गम्भीर रूप से विचार किया गया था और पूर्ण न्यायालय के बहुमत द्वारा इसे उलट दिया गया था जिसमें केवल न्या० रे, जैसे कि वे उस समय थे, ही विसम्मत थे । बहुमत वाले न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि निवारक निरोध सम्बन्धी विधि अनुच्छेद 22 की कसौटी पूरा कर ले तो भी इसे अन्य मूल अधिकारों, जैसे कि अनुच्छेद 19 की अपेक्षाओं को पूरा करना होगा । **आर० सी० कूपर वाले मामले**[2] में बहुमत वाले निर्णय के विनिश्चय आधार को **शम्भूनाथ सरकार बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की ओर से निर्णय देते हुए न्या० शैलत ने स्पष्ट और

---

[1] 1950 एस० सी० आर० 88.

[2] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[3] (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411

1978(1) eILR(PAT) SC 6

निश्चित शब्दों में स्पष्ट किया था। उस में विद्वान् न्यायाधीश ने यह कहा—

"ए० के० गोपालन वाले मामले में (1950 एस० सी० आर० 88) न्यायालय ने बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 22 स्वयं में एक पूर्ण संहिता है और इसलिए निवारक निरोध सम्बन्धी विधि के लिए अनुच्छेद 19, 14 और 21 की अपेक्षाओं का अनुपालन आवश्यक नहीं है। इसके प्रतिकूल न्यायाधिपति फ़ज़ल अली का मत यह था कि निवारक निरोध अनुच्छेद 19(1)(ग) द्वारा प्रदत्त अधिकार का प्रत्यक्ष रूप से उल्लंघन करता है और यह कि निवारक निरोध की बाबत उपबन्ध करने वाली विधि को ऐसे न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होना चाहिए जो उक्त अनुच्छेद के खण्ड (5) के अधीन उल्लिखित है। आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ (1970) 3 एस० सी० आर० 530, गोपालन वाले मामले 1950 एस० सी० आर० 88 में व्यक्त बहुमत को निरनुमोदित किया गया है और इसलिए वह मान्य विनिश्चय नहीं रह गया है। यद्यपि कूपर वाला मामले (1973) 3 एस० सी० आर० 530 वाला मामला अनुच्छेद 19 और अनुच्छेद 31 के परस्पर सम्बन्ध के बारे में है, तथापि संविधान के विभिन्न उपबन्धों द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों के अर्थान्वयन की बाबत उक्त मामले में जो दृष्टिकोण अपनाया गया है उसके द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि गोपालन वाले मामले 1950 एस० सी० आर० 530 में बहुमत का दृष्टिकोण ठीक नहीं है।"

इसके पश्चात् **हराधन साहा बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में भी इस न्यायालय के पांच न्यायाधीशों का न्यायपीठ **ए० के० गोपालन वाले मामले**[2] और **आर० सी० कूपर वाले मामले**[3] के प्रति निर्देश करने के पश्चात् इस बाबत सहमत था कि आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971, जो कि एक निवारक निरोध सम्बन्धी विधि है, को इसकी युक्तियुक्तता के बारे में अनुच्छेद 19 के प्रति निर्देश करते हुए परखना होगा।

---

1 (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

2 (1950) एस० सी० आर० 88.

3 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

उस विनिश्चय में **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] और **शम्भू नाथ सरकार वाले मामले**[2] विनिश्चय में के विनिश्चय को स्वीकार किया गया था और उनके आधार को लागू किया गया था और उसके पश्चात् आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम 1971 की सांविधानिक विधिमान्यता पर अनुच्छेद 19 की चुनौती पर विचार किया गया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह अधिनियम अनुच्छेद 19 में उपबन्धित किन्हीं सांविधानिक गारंटियों का अतिक्रमण नहीं करता है । **खुदीराम दास** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के चार न्यायाधीशों के एक न्यायपीठ ने पुनः उस दृष्टिकोण की अभिपुष्टि की है । यह बात रोचक है कि इन विनिश्चयों के पूर्व भी, जैसा कि डाक्टर राजीव धवन ने अपनी पुस्तक 'दि सुप्रीम कोर्ट ऑफ इण्डिया' में पृष्ठ 235 पर संकेत किया है इस न्यायालय ने **मोहम्मद साबिर** बनाम **जम्मू—कश्मीर राज्य**[4] वाले मामले में निवारक निरोध को न्यायोचित ठहराने के लिए अनुच्छेद 19(2) के प्रति निर्देश किया था । अतः अब इस बारे में विधि सुस्थिर समझी जानी चाहिए कि अनुच्छेद 21 अनुच्छेद 19 का अपवर्जन नहीं करता है और यहां कि यदि किसी व्यक्ति को 'दैहिक स्वाधीनता' से वंचित करने की प्रक्रिया विहित करने वाली कोई विधि है और परिणामस्वरूप अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार का कोई अतिलंघन नहीं होता है तो ऐसी विधि को, जहां तक कि वह अनुच्छेद 19 के अधीन किसी मूल अधिकार को न्यून करती है अथवा छीनती है वहां तक उस अनुच्छेद की चुनौती का सामना करना होगा । **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1], **शम्भू नाथ सरकार वाले मामले**[2] और **हराधन साहा वाले मामले**[5] में के विनिश्चयों के पश्चात् इस प्रस्थापना पर जब विवाद नहीं किया जा सकता है । यदि किसी व्यक्ति को 'दैहिक स्वाधीनता' से वंचित करने वाली और उस प्रयोजनार्थ अनुच्छेद 21 के अर्थ के भीतर प्रक्रिया विहित करने वाली विधि को अनुच्छेद 19 के अधीन प्रदत्त मूल अधिकारों में से एक या अधिक कसौटी पर खरा उतरना होता है जो किसी विशेष स्थिति में लागू

---

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411.

[3] (1975) 2 एस० सी० आर० 832=[1975] 2 उम० नि० प० 337.

[4] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1713.

[5] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

हो तो सैद्धान्तिक रूप से इसकी अनुच्छेद 14 के प्रति निर्देश करते हुए भी परख की जानी चाहिए। वस्तुतः विद्वान् महान्यायवादी ने इस बारे में विवाद नहीं किया और वह दरअसल **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में न्या० मुखर्जी द्वारा इस स्पष्ट और निश्चित कथन को ध्यान में रखते हुए ऐसा नहीं कर सकता था जो (कथन) यह था कि अनुच्छेद 21 यह पूर्वापेक्षा करता है कि विधानमण्डल की सक्षमता और जिस विषय से यह सम्बन्धित है उसको ध्यान में रखते हुए वह विधि संविधान के उपबन्धों के अधीन विधिमान्य और आबद्धकर विधि है और वह उन मूल अधिकारों का अतिलंघन नहीं करती है जो संविधान ने उपबन्धित किए हैं, जिनमें अनुच्छेद 14 सम्मिलित है। इस न्यायालय ने भी अपने दो पूर्ववर्ती विनिश्चयों में अर्थात् **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **अनवर अली सरकार**[2] और **कथीरानिंग रावत** बनाम **सौराष्ट्र राज्य**[3] वाले मामले में अनुच्छेद 14 को लागू किया था जिनमें ऐसी त्वरित प्रक्रिया द्वारा कतिपय अपराधों के विचारण का उपबन्ध करने वाली विशेष विधि थी जिसने दण्ड प्रक्रिया संहिता में सामान्य प्रक्रिया के अधीन अभियुक्त को उपलभ्य कुछ सुरक्षोपायों को छीन लिया था। इन दोनों मामलों में से हर एक में विशेष विधि ने निस्संदेह रूप से विनिर्दिष्ट अपराधों के विचारण के लिए प्रक्रिया विहित की थी और इस प्रक्रिया की इस रूप में निन्दा नहीं की जा सकती है कि यह अन्तर्निहित रूप से अन्यायोचित और अन्यायसंगत है और इस प्रकार अनुच्छेद 21 की अपेक्षाओं का अनुपालन किया गया था, किन्तु तो भी विशेष विधि की विधिमान्यता को उच्च न्यायालय के समक्ष अनुच्छेद 14 के निकस पर कसा गया था और एक मामले अर्थात् **कथीरानिंग रावत वाले मामले**[3] में विधिमान्यता को कायम रखा था और दूसरे अर्थात् **अनवर अली सरकार वाले मामले**[2] में इसे अविधिमान्य

[1] (1950) एस० सी० आर० 88

[2] (1952) एस० सी० आर० 284.

[3] (1952) एस० सी० आर० 435.

घोषित किया गया था। इन दोनों ही मामलों में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विशेष विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया समानता वाले खण्ड का अतिक्रमण करने वाली नहीं होनी चाहिए। वह प्रक्रिया अनुच्छेद 14 की अपेक्षाओं के अनुरूप होनी चाहिए।

अनुच्छेद 21 के अधीन प्रक्रिया की प्रकृति और अपेक्षा

56. इस समय यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनुच्छेद 14 क्या अपेक्षित करता है। इस अनुच्छेद में प्रतिपादित महान समताकारी सिद्धांत की अन्तर्वस्तु और उसका प्रविषय क्या है? इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह संविधान की आधारशिला है। वस्तुत: यह वह स्तम्भ है जिस पर हमारे लोकतान्त्रिक गणराज्य का आधार निश्चित रूप से निर्भर है और इसलिए इसके बारे में संकुचित, पंडिताऊ अथवा शब्दकोशीय दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाना चाहिए। इसके सर्वव्यापी प्रविषय और अर्थ में कांट-छांट करने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना इसकी क्रियाशील महत्ता का अतिक्रमण करना होगा। समता एक गतिशील सिद्धांत है जिसके बहुत से पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धान्तिक सीमाओं के भीतर कैद नहीं किया जा सकता है। हम यहां वह बात अवश्य दोहरा दें जो **ई० पी० रायप्पा बनाम तमिलनाडु राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में बहुमत ने इंगित की थी अर्थात् 'सुनिश्चितता के दृष्टिकोण से समता, स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वंदिनी है। वस्तुत: समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु है, इनमें से एक तो गणतन्त्र के अन्दर विधि के शासन से सम्बद्ध है किन्तु दूसरे का सम्बन्ध निरंकुश सम्राट की झक और सनके के साथ है। जब कोई कार्य स्वेच्छाचारितापूर्ण हो तो उसमें यह विवक्षित है कि राजनीतिक तर्क और संवैधानिक विधि दोनों के ही अनुसार वह असम है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने वाला है।' अनुच्छेद 14 राज्य की कार्यवाही में मनमानेपन पर प्रहार करता है और बर्ताव की निष्पक्षता और समानता अभिनिश्चित करता है। युक्तियुक्तता का सिद्धांत ही विधिक रूप से और तात्विक रूप में समता अथवा अमनमानेपन का अनिवार्य तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान होने की भान्ति अनुच्छेद 14 में व्यक्त है और अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया को अनुच्छेद 14 के अनुसार उसके लिए

---

[1] (1974) 2 एस० सी० आर० 348=[1974] 1 उम० नि० प० 577.

युक्तियुक्तता की कसौटी को पूरा करना होगा। यह 'ठीक और न्यायसंगत एवं निष्पक्ष होनी चाहिए' और मनमानी कल्पित अथवा दमनकारी नहीं होनी चाहिए अन्यथा यह सर्वथा कोई भी प्रक्रिया नहीं होगी और अनुच्छेद 21 की अपेक्षा की पूर्ति नहीं होगी। नैसर्गिक न्याय विधि द्वारा स्थापित 'प्रक्रिया' का कहां तक अनिवार्य तत्व है।

57. तुरन्त ही जो प्रश्न उत्पन्न होता है वह यह है कि क्या पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा किसी पासपोर्ट को जब्त करने के लिए विहित प्रक्रिया इस अपेक्षा की कसौटी को पूरा करती है? क्या यह 'ठीक अथवा निष्पक्ष अथवा न्यायसंगत' है? पिटीशनर का यह तर्क था कि यह नहीं है क्योंकि यह पासपोर्ट को जब्त करने का उपबन्ध पासपोर्ट-धारक को प्रतिरक्षा में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिए बिना करती है। पिटीशनर ने यह कहा कि किसी व्यक्ति का पासपोर्ट जब्त करना एक गम्भीर विषय है क्योंकि यह उसे विदेश जाने के अपने सांविधानिक अधिकार का प्रयोग करने से निवारित करता है और निष्पक्ष रूप से ऐसा कठोर परिणाम 'दूसरे पक्षकार को भी सुनो' के सिद्धांत का पालन किए बिना नहीं लाया जा सकता। ऐसी प्रक्रिया की, जो हेतुकदर्शित करने का युक्तियुक्त अवसर दिए बिना विदेश जाने के सांविधानिक अधिकार का ह्रास अनुज्ञात करती है, अनिष्पक्ष और अन्यायसंगत के रूप में निन्दा की जानी होगी और इसलिए प्रस्तुत मामले में अनुच्छेद 21 की अपेक्षा का स्पष्ट अतिलंघन है। यह बात सत्य है कि पासपोर्ट अधिनियम, 1967 में ऐसा कोई अभिव्यक्त उपबन्ध नहीं है जो यह अपेक्षित करता हो कि पासपोर्ट जब्त किए जाने से पूर्व 'दूसरे पक्षकार को भी सुनो' नियम का पालन किया जाना चाहिए किन्तु वह इस प्रश्न को निश्चायक नहीं बनाता है। यदि कानून इस बारे में स्पष्ट है तो इसके आगे कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। किन्तु जब कानून में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है तो किसी विशेष मामले में विधि कोई विवक्षा कर सकती है और **कूपर** बनाम **वैण्ड्सवर्थ बोर्ड ऑफ वर्क्स**[1] में न्या० बाइल्स द्वारा कथित सिद्धांत लागू कर सकती है। "डाक्टर बेंटले के मामले से शुरू होने वाले और हाल ही के कुछ मामलों के साथ समाप्त होने वाले विनिश्चयों का एक लम्बा अनुक्रम यह सिद्ध करता है कि यद्यपि कानून में ऐसे कोई निश्चित शब्द नहीं हैं जो यह

---

1 (1863) 14 सी० बी० (एन० एस०) 180.

अपेक्षा करते हों कि पक्षकार की सुनवाई की जाएगी तथापि कॉमन लॉ का न्याय विधानमण्डल के लोप की पूर्ति करेगा ।' 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' का सिद्धांत, जो यह आज्ञा देता है कि किसी को भी बिना सुने सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा, नैसर्गिक न्याय के नियमों का भाग है । वस्तुतः, दो सिद्धांत ऐसे हैं जिनमें नैसर्गिक न्याय के नियम व्यक्त हुए हैं अर्थात् 'कोई व्यक्ति अपने ही मामले में न्यायाधीश नहीं हो सकता' (*Nemo judex in Sua Causa*) और 'दूसरे पक्षकार को भी सुनो'। यहां हमारा सरोकार पूर्वकथित से नहीं है क्योंकि इस मामले में द्वेष का पक्षकथन नहीं किया गया है। इसमें एकमात्र प्रश्न सुनवाई के अधिकार के बारे में है जिसमें दूसरे पक्षकार को भी सुनो का सिद्धांत अन्तर्वलित है । क्या पासपोर्ट जब्त करने की प्रक्रिया में इसे निविष्ट किया जा सकता है ?

58. हम प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में नैसर्गिक न्याय के बढ़ते हुए महत्व पर जोर देने के लिए कुछ सामान्य मताभिव्यक्तियों के साथ इस प्रश्न पर विचार-विमर्श करेंगे । नैसर्गिक न्याय बहुत ही मानवतावादी सिद्धान्त है जिसका आशय विधि में निष्पक्षता निहित करना और न्याय प्राप्त करना है और वर्षों के पश्चात् यह प्रशासनिक कार्यवाही के बड़े क्षेत्रों को प्रभावित करने वाले विस्तृत रूप से व्याप्त नियम के रूप में विकसित हुआ है । बोर्थ-ई-जेस्ट के लॉर्ड मारिस ने बेंथम क्लब को सम्बोधित करते हुए इस नियम के बारे में अर्थ पूर्ण शब्दों में यह कहा—

> "मेरा यह विचार है कि हाल ही के समय में जो कुछ किया गया है और इन सिद्धान्तों का आश्रय लेते हुए और उन्हें लागू करते हुए विशेष रूप से प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में जो कुछ किया गया है, जिससे हम मोटे तौर पर नैसर्गिक न्याय के नाम से वर्गीकृत करते हैं, उस पर हम बहुत गर्व अनुभव करते हैं । तो भी उनके लागू किये जाने के बारे में बहुत सी कठिन समस्याएं सुलझाई जानी शेष हैं । किन्तु मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि प्रशासनिक कार्यवाही का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिनमें इन सिद्धांतों को प्रयुक्त किया जाना है । और न ही उनका केवल तब आश्रय लिया जाना होता है जब प्रक्रियात्मक विफलताएं दर्शित की जाएं । क्या नैसर्गिक न्याय 'महान सिद्धांत'

के रूप में उल्लिखित किए जाने के योग्य है? मेरा यह विश्वास है कि यह इस योग्य है। क्या यह मात्र रूप से ऐसा अलंकारित किन्तु अस्पष्ट पद है जिसको आवश्यकतानुसार आश्वासन का अभास देने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जिससे कि आश्वासन का दिखावा किया जा सके। यदि संक्षेप में, इसके बारे में यह कहा जा सकता है कि यह निष्पक्ष कार्यवाही है तो यह इच्छा कैसे की जा सकती है कि यह सदैव कार्य से अलग रहे? इस से यह द्योतित होता है कि विधि न केवल कारण और तर्क से मार्ग दर्शित होती है किन्तु यह कि यदि इसमें अधिक उदात्त अन्तः प्रेरणाएं नहीं हैं तो इसका प्रयोजन पूरा नहीं होगा।" (करेंट लीगल प्रोबलम्स, 1973 खण्ड 26, पृष्ठ 16)

उसके पश्चात् **वाइजमैन** बनाम **बोर्नमैन**[1] में हाउस ऑफ लार्डस में अपने वक्तव्य में विद्वान् लॉ लार्ड ने प्रेरणादायक शब्दों में यह कहा—

"यह कि नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत सभी प्रक्रमों पर उनके लिए मार्गदर्शक होना चाहिए जो न्यायिक कृत्यों का निर्वहन करते हैं, यह न केवल स्वीकार्य है बल्कि विधि-दर्शन का यह एक अनिवार्य भाग है। हम प्रायः नैसर्गिक न्याय के नियमों की बात करते हैं। किन्तु उनके बारे में कोई भी कठोर अथवा जटिल बात नहीं है। उनके भीतर जो कुछ आता है उसका विश्लेषण कर लिया गया है और उसे बहुत सी नज़ीरों में वर्णित किया गया है। किन्तु किसी भी प्रकार से विश्लेषण करने से परिभाषा की किसी प्रकार की सूक्ष्मता या उसके लागू किए जाने में किसी प्रकार की सूक्ष्मता की बजाय कुछ राहत बल्कि उनकी भावना और उनकी अन्तः प्रेरणा मिलनी चाहिए। हम ऐसे निदानों की खोज नहीं करते हैं जो यथार्थ रूप से यह अधिकथित करने वाले हों कि बहुत सी परिस्थितियों में क्या प्रक्रिया लागू की जानी चाहिए जो सही और न्यायसंगत एवं उचित हो। ऐसे सिद्धांत और प्रक्रिया लागू की जानी चाहिए जो किसी विशेष स्थिति अथवा परिस्थितियों में ठीक, न्याय और उचित

[1] (1971) ए० सी० 297.

हो । यह कहा गया है कि 'कार्य की निष्पक्षता' ही नैसर्गिक न्याय है । और न ही हम पार्लियामेन्ट से निदेशों की प्रतीक्षा करते हैं । कॉमन लॉ पर्याप्त समृद्ध है किन्तु उस में हमें वह बात उपलभ्य है जिसे न्यायाधिपति बाइल्स ने 'कॉमन लॉ का न्याय' कहा है ।"

इस प्रकार नैसर्गिक न्याय की आत्मा 'कार्य में निष्पक्षता' है और यही कारण है कि इसे पूरे लोकतन्त्रात्मक विश्व में अधिकतम मान्यता मिली है । संयक्त राज्य में प्रशासनिक सुनवाई को मूलभूत औचित्य की अनिवार्य अपेक्षा समझा जाता है और इंग्लैण्ड में भी यह माना गया है कि 'कार्य में निष्पक्षता' यह मांग करती है कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने वाला अथवा हानिकर कार्यवाही किए जाने से पूर्व उसे सुनवाई का अवसर दिया जाना चाहिए । इस नियम को **स्मिद्त** बनाम **सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार होम अफेयर्स**[1] वाले मामले में एम० आर०, लार्ड डैनिंग ने यह कथन किया "जहां किसी लोक अधिकारी को किसी व्यक्ति को उसकी स्वाधीनता अथवा सम्पत्ति से वंचित करने की शक्ति प्राप्त होती है, सामान्य सिद्धान्त यह है कि यह उसे सुनवाई का अवसर दिए बिना और उसकी ओर से अभ्यावेदन किए बिना नहीं की जानी होती है' । कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड जैसे अन्य कामनवेल्थ देशों में भी यही नियम प्रचलित है । संयुक्त राष्ट्र में भी यह प्रचलित हो गया है (देखें अमेरिकन जर्नल ऑफ इन्टरनेशनल लॉ, जिल्द 67, पृष्ठ 479) न्या० मैगरी ने नैसर्गिक न्याय को 'विधि की सम्यक् प्रक्रिया के आसुत' के रूप में उल्लिखित किया है । (देखें **फोनटेन** बनाम **चेस्टर्टन**[2]) । यह 'कार्य में निष्पक्षता' द्वारा अनुप्राणित और मार्गदर्शित न्याय की प्रक्रिया का सारतत्व है। यदि हम **वाइजमैन वाले** मामले में बहुत से लॉ लार्ड के वक्तव्यों पर दृष्टिपात करें तो यह पता चलेगा कि उनमें से हर एक ने यह प्रश्न पूछा है कि क्या किसी मामले की विशेष परिस्थितियों में अधिकरण ने अनचित रूप से कार्य किया था जिससे कि यह कहा जा सकता हो कि उनकी प्रक्रिया उस बात से मेल नहीं खाती है जिसकी न्याय मांग करता है अथवा क्या अधिकरण

---

[1] (1969) 2 चांसरी डिवीजन 149.

[2] (1968) 112 सॉलिसिटर जनरल 690.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया 'सभी परिस्थितियों में अनुचित थी ।' हर एक लॉ लार्ड द्वारा अपनाई गई कसौटी यह थी कि क्या अनुसृत की जाने वाली प्रक्रिया 'सभी परिस्थितियों में उचित' थी और 'कार्य में निष्पक्षता' यह अपेक्षित करती है कि करदाता को 'कमिश्नर के प्रतिकथन को देखने और उसका जवाब देने के लिए' उसके विरुद्ध इस निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व कि उसके विरुद्ध प्रथम दृष्टतया मामला बनता है, उसे अवसर दिया जाना चाहिए । अतः जांच सदैव यह होनी चाहिए कि क्या कार्य में निष्पक्षता यह मांग करती है कि प्रभावित व्यक्ति को सुनवाई का अवसर दिया जाना चाहिए ।

59. यदि नैसर्गिक के सिद्धान्त को लागू करने की यही कसौटी है तो इस प्रयोजनार्थ न्यायिककल्प कृत्य और प्रशासनिक कृत्य के बीच कोई प्रभेद नहीं हो सकता है । प्रशासनिक जांच और साथ ही न्यायिक-कल्प जांच दोनों का ही उद्देश्य किसी न्यायसंगत विनिश्चय पर पहुंचना होता है और यदि नैसर्गिक न्याय का नियम न्याय प्राप्त करने के लिए परिकल्पित है अथवा नकारात्मक रूप से यूं कह सकते हैं कि वह न्याय की विफलता रोकने के लिए परिकल्पित है तो यह बात समझना कठिन है कि यह न्यायिककल्प जांच को क्यों लागू होना चाहिए और प्रशासनिक जांच को क्यों नहीं । तार्किक रूप से यह दोनों को ही लागू होना चाहिए । एक और दूसरे के बीच किस सिद्धान्त के आधार पर प्रभेद किया जा सकता है । क्या यह कहा जा सकता है कि 'कार्य में निष्पक्षता' की आवश्यकता प्रशासनिक जांच में न्यायिककल्प जांच की अपेक्षा किसी प्रकार कम है ? कभी-कभी प्रशासनिक जांच में अन्याय-संगत विनिश्चय के, न्यायिककल्प जांच में के विनिश्चय की अपेक्षा, अधिक गम्भीर परिणाम हो सकते हैं और इसलिए नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत ऐसी प्रशासनिक जांच में भी समान रूप से लागू होने चाहिएं जिसके अदालती परिणाम हो सकते हैं । किन्तु नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत के विकास के प्राथमिक प्रक्रमों में एक ऐसा समय था जब यह दृष्टिकोण प्रचलित था कि नैसर्गिक न्याय के नियम प्रशासनिक कार्यवाहियों से प्रभेद करते हुए न्यायिककल्प कार्यवाहियों को ही लागू होते हैं और न्यायिककल्प कार्यवाही का प्रभेदक लक्षण यह है कि सम्बद्ध प्राधिकारी से,

उस विधि द्वारा जिसके अधीन वह कृत्य कर रहा है, यह अपेक्षा की जाती है कि वह न्यायिक रूप से कृत्य करे। न्यायिक रूप से कार्य करने के कर्तव्य की यह अपेक्षा, जिससे कि उस कृत्य को न्यायिककल्प स्वरूप दिया जा सके, **सम्राट** बनाम **इलेक्ट्रिसिटी कमिशनर्स**[1] वाले मामले में लॉर्ड जस्टिस एटकिन के निम्नलिखित मत से प्रकट होती है 'जहां कहीं प्रजा के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्नों का अवधारण करने का विधिक अधिकार रखने वाले व्यक्तियों का निकाय, जिसका कर्तव्य न्यायिक रूप से कार्य करना होता है, अपने विधिक प्राधिकार के आधिक्य में कार्य करता है वहां वह किंग बेंच डिवीजन की नियन्त्रक अधिकारिता के अधीन होता है .... ।' **सम्राट** बनाम **लैजिसलेटिव कमेटी ऑफ दि चर्च असेम्बली**[2] वाले मामले में चीफ जस्टिस लॉर्ड हेवार्ट ने यह मत व्यक्त किया, जिससे अभिप्रेत है कि न्यायिक रूप से कार्य करने का कर्तव्य एक अतिरिक्त अपेक्षा होना चाहिए जो 'प्रजा के अधिकारों को प्रभावित करने वाले प्रश्नों का अवधारण करने वाले प्राधिकारी' से पृथक रूप से विद्यमान होना चाहिए—जिसमें यह बात और जोड़ दी गई है। लार्ड जस्टिस एटकिन के इस सिद्धान्त की चीफ जस्टिस हेवार्ट द्वारा की गई इस व्याख्या ने पर्याप्त समय तक विधि में गड़बड़ी कर दी और नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के विकास को रोक दिया। न्यायालय अपने समक्ष आने वाले हर मामले में कभी क्षीण सामग्री से और कभी कानूनों का परिशीलन करके न्यायिक रूप से कार्य करने के कर्तव्य की खोज करने के लिए विवश होता था और इससे अतिसूक्ष्मता और अतिपरिष्करण को बढ़ावा मिला जिसका परिणाम विधि में सम्भ्रम और अनिश्चितता हुआ। किन्तु यह सहज रूप से पूर्ववर्ती नजीरों के और **रिज** बनाम **बाल्डविन**[3] वाले मामले में हाउस आफ लार्ड्स के युगान्तकारी विनिश्चय के प्रतिकूल था जो (मामला) नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के विकास के इतिहास में परावर्तन बिन्दु है। लार्ड रेड ने यह संकेत किया कि चीफ जस्टिस लार्ड हेवार्ट की व्याख्या लार्ड जस्टिस एटकिन की मताभिव्यक्तियों को गलत समझने पर आधारित थीं और यह न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों में अधिकथित विधि

---

1 (1924) 1 के० बी० 171.

2 (1928) 1 के० बी० 411.

3 (1964) ए० सी० 40.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

के प्रतिकूल है। लार्ड रेड ने यह मत व्यक्त किया 'यदि लार्ड हेवार्ट का अभिप्राय यह था कि कभी भी यह पर्याप्त नहीं है कि किसी भी निकाय को उन अधिकारों का अवधारण करने का कर्तव्य है जो किसी व्यक्ति को प्राप्त होने चाहिए किन्तु उसमें सदैव ही ऐसी कोई बात होनी चाहिए जो न्यायिक रूप से कार्य करने का उस पर कर्तव्य अधिरोपित करती है, उसके पश्चात् वह मुझे पूर्ववर्ती नजीरों के साथ समन्वय के लिए असम्भव प्रतीत होती है।' विद्वान् लॉ लार्ड ने यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायिक रूप से कार्य करने का कर्तव्य किए जाने के लिए आशयित कृत्य की प्रकृति से ही उत्पन्न हो सकता है और इसके बारे में यह दर्शित करने की आवश्यकता नहीं है कि इसमें कुछ जोड़ा गया है। इस विनिश्चय से नैसर्गिक न्याय के नियमों के लागू होने का क्षेत्र विस्तृत हो गया और यदि नैचुरल जस्टिस, सब्सटेंस एण्ड शेडों वाले लेख में जो पब्लिक लॉ जर्नल 1975 में प्रकाशित हुआ, से प्रोफेसर क्लार्क के शब्दों को उद्धृत करें तो उसने उस युग को पुनः प्रकाशित किया जो 'पूर्ववर्ती दशाब्दी के संकुचित सिद्धांत के अंधेरे से आवृत्त था।' विधि में इस विकास का भारत में समकक्ष वाला मामला **एसोसिएटिड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड** बनाम **पी० एन० शर्मा और एक अन्य**[1] था जिसमें इस न्यायालय ने रिज बनाम **बाल्डविन**[2] वाले मामले के विनिश्चय के प्रति अनुमोदनपूर्वक निर्देश किया और बाद में **उड़ीसा राज्य** बनाम **डाक्टर बीणापानी दई**[3] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया 'यदि किसी व्यक्ति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते हुए विनिश्चित और अवधारित करने की शक्ति है तो ऐसी शक्ति के प्रयोग में न्यायिक रूप से कार्य करने का कर्तव्य विवक्षित है।' इस न्यायालय ने **ए० के० केराइपक और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[4] वाले मामले में, जो विधि की शाखा में एक अन्य ऐतिहासिक विनिश्चय है, भी यह संकेत किया कि हाल ही के वर्षों में न्यायिककल्प शक्ति के सिद्धान्त में आमूल परिवर्तन हुए हैं और यह कहा 'प्रशासनिक शक्ति और न्यायिककल्प शक्ति के बीच की विभाजन रेखा बहुत ही क्षीण है और वह भी धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। यह अवधारित करने

[1] (1952) 2 एस० सी० आर० 366.
[2] (1964) ए० सी० 40.
[3] (1967) 2 एस० सी० आर० 625.
[4] (1970) 1 एस० सी० आर० 457=[1970] 2 उम० नि० प० 389.

के लिए कि कोई शक्ति प्रशासनिक शक्ति है या न्यायिककल्प शक्ति, मनुष्य को चाहिए कि वह प्रदत्त शक्ति की प्रकृति पर, उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों पर, जिसे या जिन्हें वह प्रदत्त की गई है, उस शक्ति को प्रदान करने वाली विधि की संरचना पर, उस शक्ति के प्रयोग से होने वाले परिणामों और उस रीति पर ध्यान दे जिस रीति से उस शक्ति को प्रयोग में लाया जाना प्रत्याशित है ।' इन और अन्य विनिश्चयों का समग्र प्रभाव यह है कि न्यायिक रूप से कार्य करने के कृत्य को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इसे प्रदत्त की गई शक्ति की प्रकृति से, इसके प्रयोग करने की रीति से ,और प्रभावित व्यक्ति के अधिकारों पर इसके प्रभाव से ही समझा जा सकता है और जहां यह विद्यमान है वहां नैसर्गिक न्याय के नियम लागू होंगे ।

60. **रिज** बनाम **बाल्डविन**[1] वाले मामले के विनिश्चय के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में और **एसोसिएटिड सीमेंट कम्पनीज वाले मामले**[2] में के और उसका अनुसरण करते हुए अन्य मामलों के विनिश्चयों के परिणामस्वरूप भारत में विधि के क्षेत्र में यह प्रगति हुई । किन्तु उस विषय पर विधि का विकास वहीं समाप्त नहीं हो गया । प्रशासनिक विधि की प्रचुर वृद्धि ने उस विषय पर पर्याप्त रूप से नए विचारों को जन्म दिया और शीघ्र ही यह बात मान्य हो गई कि 'कार्य में निष्पक्षता' यह अपेक्षा करती है कि प्रशासनिक कार्यवाही में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के बारे में भी यह माना जाना चाहिए कि नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त लागू होता है । सैद्धांतिक रूप से प्रश्न के इस पहलू पर हम पहले ही विचार विमर्श कर चुके हैं और यह दर्शित कर चुके हैं कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत के लागू किए जाने के प्रयोजनार्थ प्रशासनिक और न्यायिककल्प कार्यवाही के बीच प्रभेद क्यों नहीं किया जा सकता है । इस स्थिति को न्यायिक रूप से मान्यता मिली और यह स्वीकार की गई और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत के मुकाबले प्रशासनिक और न्यायिककल्प कार्यवाहियों में वैधता को **एच० के० (एक शिशु) वाले मामले**[3] के विनिश्चय द्वारा और सिद्धांत **स्मिदत** बनाम

[1] (1964) ए० सी० 40.

[2] (1965) 2 एस० सी० आर० 366.

[3] (1967) 2 क्यू० बी० 617.

[4] (1969) 2 चांसरी डिविजन 149.

सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार होम अफेयर्स[4] वाले मामले में इंगलैण्ड में और जहां तक भारत का सम्बन्ध है **ए० के० केराइपक वाले मामले**[1] में इस न्यायालय द्वारा दिए गए स्मरणीय विनिश्चय द्वारा ठीक न समझते हुए अन्तिम रूप से उपेक्षा कर दी गई । **एच० के० (एक शिशु) वाले मामले**[2] में अपने निर्णय के दौरान चीफ जस्टिस लार्ड पार्कर ने ये संकेत किया—

> "साथ ही मैं स्वयं यह समझता हूं कि यदि इमीग्रेशन आफिसर की हैसियत न्यायिक या न्यायिककल्प की हैसियत न भी हो तो भी उसे आप्रवासी को उपधारा में उल्लिखित मामलों में उसका समाधान करने का अवसर देना चाहिए और जिससे कि इस प्रयोजन के लिए आप्रवासी उसका भ्रम निवारण कर सके । जैसा कि मैं समझता हूं यह न्यायिक रूप से कार्य करने या करने की अपेक्षा करने का प्रश्न नहीं है, किन्तु ऐसा प्रश्न है कि उससे ऋजुतः कार्य करना अपेक्षित है । जैसा कि मैं समझता हूं सुप्रशासन और ईमानदारी का अथवा सद्भावपूर्ण विनिश्चय यह अपेक्षा करते हैं कि न केवल निष्पक्षता से काम लिया जाए और न केवल अपने मस्तिष्क को किसी समस्या पर केन्द्रित किया जाए अपितु यह भी कि कार्य ऋजुता से किया जाए, और उस सीमित विस्तार तक जिस तक किसी विशेष मामले की परिस्थितियां अनुज्ञात करती हों, तथा उस विधायी संरचना के भीतर रह कर जिसके अधीन प्रशासक कार्य कर रहा हो, नैसर्गिक न्याय के तथाकथित सिद्धान्त केवल उसी सीमित विस्तार तक लागू होते हैं और वह इस जैसे मामले में केवल ऐसा कर्तव्य है कि कार्य ऋजुतः किया जाए । मैं समझता हूं कि ऐसा कहते समय यह भी कहा जा सकता है कि विनिश्चित मामलों में जितना विस्तार अनुज्ञात है हम उससे भी आगे जा रहे हैं क्योंकि इसके अनुसार कि न्यायिक रूप से या न्यायिककल्पतः कार्य करना कर्तव्य है या नहीं, अब से न्यायालयों के विनिश्चयों ने इन मामलों में एक निश्चित रेखा सी खींच दी है।"

---

[1] (1970) 1 एस० सी० आर० 457=[1970] 2 उम० नि० प 389.

[2] (1967) 2 क्यू० बी० 617.

61. **ए० के० केराइपक वाले मामले**[1] में इस न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति हेगड़े ने चीफ जस्टिस पार्कर के निर्णय से उपर्युक्त अवतरण का सानुमोदन उद्धृत किया है और यह कहा है—

"नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उद्देश्य न्याय प्राप्त करना अथवा यदि नकारात्मक ढंग से कहा जाए तो न्याय के दुरुपयोग को रोकना है। यह नियम केवल उन्हीं क्षेत्रों में प्रवर्तित हो सकते हैं जो विधितः बनाई गई किसी विधि के अन्तर्गत नहीं आते। दूसरे शब्दों में वे देश की विधि का मूलोच्छेदन नहीं करते अपितु वे उनके अनुपूरक हैं। अभी हाल ही तक न्यायालयों की राय थी कि जब तक संबद्ध प्राधिकारी से उस विधि द्वारा, जिसके अधीन वह कृत्य कर रहा हो, न्यायिक रूप से कार्य करने की अपेक्षा न की जाए तब तक नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के लागू किए जाने की कोई गुंजाइश नहीं है। अब उस परिसीमा की वधता पर आपत्ति की गई है। यदि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का प्रयोजन न्याय के दुरुपयोग को रोकना है तो वे सिद्धान्त प्रशासनिक जांच को क्यों लागू नहीं किए जाने चाहिएं। प्रायः, यह आसान नहीं होता कि ऐसी कोई रेखा खींची जाए जो प्रशासनिक जांच को न्यायिककल्प जांच से अलग करती हो। जो जांच एक समय प्रशासनिक समझी जाती थी वही अब न्यायिककल्प प्रकृति की समझी जाती है। न्यायोचित विनिश्चय पर पहुंचना न्यायिककल्प जांच और प्रशासनिक जांच दोनों का ही लक्ष्य है। किसी प्रशासनिक जांच में किए गए किसी अन्यायपूर्ण विनिश्चय का असर किसी न्यायिककल्प जांच में किए गए विनिश्चय की अपेक्षा अधिक दूरगामी हो सकता है। जैसा कि सुरेश कोशी जार्ज बनाम केरल विश्वविद्यालय और कुछ अन्य, (1968) 2 उम० नि० प० 1113 में इस न्यायालय ने मत व्यक्त किया है कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त ऐसे सिद्धान्त नहीं हैं जिन्हें कोई स्वरूप दिया जा सके। किसी मामले में नैसर्गिक न्याय का कौन सा सिद्धान्त लागू होना चाहिए यह बात अधिकतम उस मामले में तथ्यों और परिस्थितियों पर, उस विधि की संरचना पर जिसके

[1] (1970) 1 एस० सी० आर० 457=[1970] 2 उम० नि० प० 389.

अधीन जांच की गई है और उस प्रयोजन के लिए नियुक्त अधिकरण या व्यक्ति निकाय के गठन पर निर्भर है। जब कभी कोई परिवाद् किसी न्यायालय के समक्ष यह कह कर किया जाता है कि नैसर्गिक न्याय के किसी सिद्धान्त का उल्लंघन हुआ है तो न्यायालय को यह विनिश्चय करना होता है कि क्या उस सिद्धान्त का पालन उस मामले के तथ्यों के आधार पर न्यायोचित विनिश्चिय करने के लिए आवश्यक था।"

इस दृष्टिकोण का **खण्ड वन अधिकारी दक्षिण खेरी** बनाम **राम सनेही सिंह**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के एक पश्चात्वर्ती विनिश्चय में दोहराया गया है और उसकी अभिपुष्टि की गई है। अतः अब इस बारे में विधि सुस्थिर समझी जानी चाहिए कि ऐसी प्रशासनिक कार्यवाही में भी जिसमें अदालती परिणाम अन्तर्विलत है, नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के बारे में यह माना जाना चाहिए कि वह लागू होता है।

62. पासपोर्ट प्राधिकारी को पासपोर्ट जब्त करने के लिए प्रदत्त की गई शक्ति और पासपोर्ट जब्त करने का परिणाम पासपोर्ट जब्त किए जाने की अवधि के दौरान पासपोर्ट धारक का विदेश जाने के सांविधानिक अधिकार का ह्रास करना होगा। इसके अतिरिक्त पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा कोई पासपोर्ट धारा 10 की उपधारा (3) में उपवर्णित कतिपय विनिर्दिष्ट आधारों पर ही जब्त किया जा सकता है और पासपोर्ट अधिकारी को किसी विशेष मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करना होगा और यह विनिश्चित करना होगा कि क्या ऐसी कोई विनिर्दिष्ट परिस्थितियां विद्यमान हैं जो पासपोर्ट को जब्त किया जाना न्यायोचित ठहराती हैं। धारा 10 की उपधारा (5) पासपोर्ट प्राधकारी से यह भी अपेक्षा करती है कि वह पासपोर्ट जब्त करने के आदेश के कारणों का एक संक्षिप्त कथन लेखबद्ध करे और कतिपय असाधारण स्थितियों को छोड़ते हुए, पासपोर्ट प्राधिकारी पासपोर्टधारक को कारणों के कथन की प्रति देने के लिए बाध्य है। जहां वह पासपोर्ट प्राधिकारी जिसने पासपोर्ट जब्त किया है, केन्द्रीय सरकार से भिन्न है, वहां पासपोर्ट जब्त करने के आदेश के विरुद्ध अपील करने का अधिकार धारा 11 द्वारा दिया गया है और अपील में, पासपोर्ट जब्त किए जाने के लिए पासपोर्ट प्राधिकारी

1 (1973) 3 एस० सी० सी० 864

द्वारा दिए गए कारणों की विधिमान्यता पर अपील प्राधिकारी के समक्ष संयाचना की जा सकती है। इन परिस्थितियों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यायिककल्प और प्रशासनिक शक्ति के बीच प्रभेद करने हेतु इस न्यायालय के विनिश्चयों में अधिकथित कसौटी पूरी हो जाती है और पासपोर्ट जब्त करने के लिए पासपोर्ट प्राधिकारी को प्रदत्त शक्ति एक न्यायिककल्प शक्ति है। इन परिस्थितियों में पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति को उस संकुचित दृष्टिकोण के आधार पर भी जो **ए० के० केराइपक वाले मामले**[1] में के पूर्व प्रचलित था, नैसर्गिक न्याय के नियम लागू होंगे। **ए० के० केराइपक वाले मामले**[1] के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए भी वही परिणाम होगा यदि पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति को प्रशासनिक स्वरूप की शक्ति माना जाए क्योंकि यह पासपोर्ट धारक के विदेश जाने के सांविधानिक अधिकार में गम्भीर रूप से हस्तक्षेप करती है और इसके प्रतिकूल अदालती परिणाम होते हैं।

63. जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त प्रधान रूप से दो नियमों से मिलकर बना है अर्थात् 'कोई भी व्यक्ति अपने मामले में स्वयं निर्णायक नहीं हो सकता है' (*Nemo debet esse judex propria causa*) और 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' (आडी आल्टरम पार्टम) अर्थात् किसी भी पक्षकार के विरुद्ध कोई विनिश्चय उसे सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिए बिना नहीं किया जाएगा। यहां हमारा सरोकार दूसरे नियम से है और इसलिए हम केवल उसी नियम के विचार-विमर्श तक अपने को सीमित रखेंगे। भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् महान्यायवादी ने निष्पक्ष रूप से यह बात स्वीकार की है कि 'दूसरे पक्षकार को भी सुनो' वाला नियम न्यायालयों द्वारा विकसित किया गया अत्यधिक प्रभावी दृष्टिकोण है जो किसी कानूनी प्राधिकारी को न्यायसंगत विनिश्चय पर पहुंचने के लिए समर्थ बनाता है और शक्ति के दुरुपयोग अथवा दुष्प्रयोग पर स्वस्थ नियंत्रण के रूप में कार्य करने के लिए परिकल्पित है। इस न्यायालय के विनिश्चयों के परिणामस्वरूप उसने विधि में हुए ऐतिहासिक प्रगति पर पुनः विचार किए जाने का भी अभिवचन नहीं किया और यह सुझाव नहीं दिया कि न्यायालय को अपने कदम वापिस लेने चाहिएं। वह भारत

---

1 (1970) 1 एस० सी० आर० 457=[1970] 2 उम० नि० प० 389.

सरकार की ओर से दिया गया एक अत्यधिक चौंका देने वाला तर्क होता और न्यायालय के लिए ऐसे तर्क को स्वीकार करना घोर अधोगति का कार्य होता। किन्तु सौभाग्य से विद्वान महान्यायवादी ने ऐसा कोई तर्क नहीं दिया। उन्होंने जो कुछ निवेदन किया वह एक सीमित दलील थी अर्थात् यह कि पासपोर्ट जब्त किए जाने में अन्तर्वलित कार्य की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' के नियम के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह अपवर्जित हो जाता है क्योंकि यदि पासपोर्ट धारक को सूचना दी जाती और उसे यह हेतुक दर्शित करने का युक्तियुक्त अवसर दिया जाता कि उसका पासपोर्ट क्यों नहीं जब्त किया जाना चाहिए तो वह पासपोर्ट के आधार पर तुरन्त ही देश से बाहर खिसक जाता और पासपोर्ट जब्त करने का उद्देश्य निष्फल हो जाता। यह तर्क दिया गया कि यदि 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' का नियम लागू किया जाता है तो इसका प्रभाव पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति को निरर्थक बना दगा और यह विधि के प्रशासन को विफल और पंगु कर देगा और इसलिए 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' का नियम पासपोर्ट जब्त किए जाने की शक्ति का प्रयोग करते समय उचित रूप से लागू नहीं किया जा सकता है। इस तर्क का समर्थन, ए० एस० डे स्मिथ कृत ज्युडिशियल रिव्यू आफ एडमिनिस्ट्रेटिव एक्शन, द्वितीय संस्करण में विधि के कथन के प्रति निर्देश करते हुए, करना चाहा गया है जिसमें विद्वान् लेखक ने पृष्ठ 174 पर यह कहा है कि प्रशासनिक विधि में प्रथम-दृष्टया पूर्व सूचना का अधिकार और सुनवाई का अवसर विवक्षा द्वारा वहां अपवर्जित समझा जा सकता है जहां सूचना देने की बाध्यता और सुनवाई का अवसर तुरन्त कार्यवाही करने में बाधक होगा, विशेष रूप से निवारक अथवा उपचारात्मक प्रकृति की कार्यवाही में'। यह सत्य है कि चूंकि पूर्व सूचना का और सुनवाई के अवसर का अधिकार निष्पक्ष रूप से कार्य करने के कर्तव्य से विवक्षा द्वारा उत्पन्न होता है अथवा बोर्थ-ईं-जेस्ट के लार्ड मॉरिस के शब्दों में 'कार्य में निष्पक्षता' से समान रूप से यह तब अपवर्जित हो सकता है जब की जाने वाली कार्यवाही की प्रकृति, उसके उद्देश्य और प्रयोजन और सुसंगत कानूनी उपबन्ध की स्कीम को ध्यान में रखते हुए कार्य में निष्पक्षता इसकी विवक्षा की मांग नहीं करती और इसके अपवर्जन का समर्थन करती है। न्यायिक विनिश्चयों द्वारा स्थापित 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले नियम के कतिपय सुमान्य

अपवाद है और उन्हें एस० ए० डे स्मिथ ने ज्युडिशियल रिव्यू ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव एक्शन के द्वितीय संस्करण के पृष्ठ 168 से 179 तक संक्षेप में दिया है। यदि हम इन अपवादों का कुछ निकट से विश्लेषण करें तो यह प्रकट होगा कि वे उस सिद्धान्त का किसी प्रकार विरोध नहीं करते जो प्रशासनिक कार्य में निष्पक्षता की अपेक्षा करता है। 'अपवाद' शब्द वस्तुतः गलत नाम से उल्लिखित किया गया है क्योंकि अपवर्जनात्मक मामलों में 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले नियम के बारे में, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह 'कार्य' में निष्पक्षता के अपवाद के तौर पर नहीं बल्कि इसलिए लागू नहीं होता हैं क्योंकि किसी मामले को प्रस्तुत करने अथवा उसका सामना करने के लिए अवसर न देने में किसी औचित्य का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला नियम विधि में न्याय निविष्ट करने के लिए आशयित है और यह न्याय के उद्देश्यों को विफल करने के लिए अथवा विधि को निर्जीव, बेतुका, निरर्थक, आत्मपराजयी अथवा स्थिति के सामान्य भाव के सहज प्रतिकूल बनाने के लिए लागू नहीं किया जा सकता। चूंकि विधि का प्राण तर्क नहीं बल्कि अनुभव है और अन्तिम विश्लेषण के तौर पर हर विधिक प्रस्थापना को व्यावहारिक वास्तविकता की कसौटी पर परखा जाना चाहिए, 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला नियम प्रयोगात्मक कसौटी द्वारा अपवर्जित हो जाएगा यदि सुनवाई के अधिकार को निविष्ट करने का प्रभाव प्रशासनिक प्रक्रिया को पंगु बनाना है अथवा शीघ्रता अथवा स्थिति की अत्यावश्यकता ऐसी मांग करती है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में अत्यन्त महत्व का नियम है और इसे बहुत ही असाधारण परिस्थितियों को छोड़ते हुए नहीं त्याग देना चाहिए, जहां कि वैवश्यक आवश्यकता ऐसी मांग करती है। यह विधि के नियम प्राप्त करने के लिए परिकल्पित पूर्ण नियम है और न्यायालय को किसी विशेष मामले में इसे लागू करने से बचने के लिए बहुत उत्सुकतापूर्वक तैयार नहीं रहना चाहिए। यह सत्य है कि इस प्रकार के प्रश्नों में कट्टरवादी अथवा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से बचना चाहिए किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि मात्र इसलिए कि सुनवाई की प्ररूपिक परम्परागत पद्धति का प्रभाव कानूनी शक्ति के प्रयोग को निरर्थक बनाने वाला हो सकता है इसलिए 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला नियम पूर्णतया अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए। न्यायालय को किसी विशेष मामले में इस प्रमुख नियम की रक्षा

करने का अधिकतम अनुज्ञेय सीमा तक प्रयास करना चाहिए। यह नहीं भूलना चाहिए कि 'नैसर्गिक न्याय व्यावहारिक रूप से लचीला है और परिस्थितियों के वैवश्यक दबाव के अधीन इसमें फेरफार किए जा सकते हैं'। 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला नियम कठोर ढांचे में नहीं ढाला गया है और न्यायिक विनिश्चय यह सिद्ध करते हैं कि इसमें स्थिति के अनुसार उपान्तरण किए जा सकते हैं। किन्तु इसका मर्म यह है कि प्रभावित व्यक्ति को सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिया जाना चाहिए और वह सुनवाई वास्तविक सुनवाई होनी चाहिए न कि जनसम्पर्क का थोथा प्रयोग। यही कारण है कि लार्ड जस्टिस टकर ने **रसल** बनाम **ड्यूक आफ नॉर्फाक**[1] में इस बात पर जोर दिया कि 'नैसर्गिक न्याय का चाहे कोई भी मानक अपनाया जाए, उसका एक अनिवार्य तत्व यह है कि संबद्ध व्यक्ति को अपना मामला प्रस्तुत करने का युक्तियुक्त अवसर दिया जाना चाहिए।' किस अवसर के बारे में यह माना जा सकता है कि वह युक्तियुक्त है, वह आवश्यक रूप से स्थिति की व्यावहारिक आवश्यकताओं पर निर्भर करेगा। यह एक कृत्रिम रूप से पूर्ण सुनवाई हो सकती है अथवा ऐसी सुनवाई हो सकती है जो बहुत ही संक्षिप्त और कम से कम हो, यह सुनवाई विनिश्चय से पूर्व की हो सकती है अथवा यह विनिश्चय के पश्चात् उपचारात्मक सुनवाई भी हो सकती है। 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला नियम उन बहुसंख्यक स्थितियों की, जो उत्पन्न हो जाएं, अभ्यावश्यकताओं के अनुसार उपान्तरण अथवा फेरफार अनुज्ञात करने के लिए पर्याप्त रूप से लचीला नियम है। 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले नियम के पारिस्थितिक लचीलेपन पर लार्ड रेड ने **वाईजमैन** बनाम **बोर्नमन**[2] वाले मामले में यह कहते हुए जोर दिया था कि उसे इस बात का खेद है कि मुझे यह खेद है कि यह सामान्य मूल सिद्धान्त अति कठोर और निश्चित नियमों की शृंखला के रूप में विकृत हो गया है और लार्ड चांसलर और लार्ड हैलशम ने भी **पर्लबर्ग** बनाम **बैर्टी**[3] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय ने 'व्यक्तिगत मामलों में जो कुछ अपेक्षित है उसका अत्यधिक रूप से परिष्कृत दृष्टिकोण अपनाया है।' अतः यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला नियम केवल

1 (1949) 1 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्टस 109.

2 (1971) ए० सी० 297.

3 (1971) 1 डब्ल्यू० एल० आर० 728.

इसलिए अपवर्जित किया जाता है क्योंकि यदि संबंद्ध व्यक्ति को, पासपोर्ट जब्त करने से पूर्व सूचना और सुनवाई का अवसर दिया जाए तो पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति विफल हो सकती है। पासपोर्ट प्राधिकारी संबंद्ध व्यक्ति को सुनवाई का पूर्व अवसर दिए बिना पासपोर्ट जब्त करने के लिए अग्रसर हो सकता है किन्तु जैसे ही पासपोर्ट जब्त करने का आदेश दिया जाता है सुनवाई का ऐसा अवसर, जिसका उद्देश्य उपचार है, उसे दिया जाना चाहिए जिससे कि वह अपना पक्षकथन प्रस्तुत कर सके और पासपोर्ट प्राधिकारी के पक्षकथन का खण्डन कर सके और यह संकेत कर सके कि उसका पासपोर्ट क्यों जब्त नहीं किया जाना चाहिए और उसे जब्त करने वाला आदेश वापिस लिया जाना चाहिए। यह न केवल संभव है बल्कि बहुत समुचित भी है क्योंकि पासपोर्ट जब्त करने के कारणों के बारे में यह अपेक्षित है कि वह पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा आदेश किए जाने के पश्चात् दिए जाने चाहिएं और इसलिए प्रभावित व्यक्ति अपना पक्षकथन उपवर्णित करते हुए अभ्यावेदन देने की स्थिति में और अपने पासपोर्ट को जब्त करने की कार्यवाही को अपास्त कराने के लिए अभिवचन करने की स्थिति में होगा। पासपोर्ट जब्त करने का आदेश करने के तुरन्त पश्चात् सुनवाई का एक उचित अवसर नैसर्गिक न्याय की आज्ञा की पूर्ति करेगा और संबंद्ध व्यक्ति को ऐसे अवसर के दिए जाने की अपेक्षा करने वाला उपबन्ध पासपोर्ट अधिनियम, 1967 में विवक्षित रूप से समझा जा सकता है और समझा जाना चाहिए। यदि ऐसे उपबन्ध के बारे में यह माना जाए कि वह आवश्यक विवक्षा द्वारा उसमें समाविष्ट है जैसा कि हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि यह होना चाहिए, पासपोर्ट जब्त करने के लिए अधिनियम द्वारा विहित प्रक्रिया सही, निष्पक्ष और न्यायसंगत है और इसमें मनमानेपन अथवा अयुक्तियुक्तता का दोष नहीं है। अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि पासपोर्ट जब्त करने के लिए पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा 'स्थापित प्रक्रिया अनुच्छेद 21 की अपेक्षा के अनुरूप है और उस अनुच्छेद का अतिक्रमण नहीं करती है'।

64. किन्तु तुरन्त ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या केन्द्रीय सरकार ने पिटीशनर का पासपोर्ट जब्त करने के लिए इस प्रक्रिया का अनुपालन किया है। यह बात स्पष्ट है और वस्तुतः इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता कि केन्द्रीय सरकार ने पिटीशनर का पासपोर्ट जब्त करने वाला आक्षेपित आदेश करने के पश्चात् उसे न केवल सुनवाई का अवसर

दिया बल्कि उसके द्वारा की गई प्रार्थना के बावजूद उसके पासपोर्ट को जब्त करने के कारण पिटीशनर को देने से इनकार कर दिया। हम पहले ही यह संकेत कर चुके हैं कि केन्द्रीय सरकार के लिए पिटीशनर से पासपोर्ट जब्त करने के कारणों को प्रत्याहृत करना पूर्णतया अन्यायोचित था और उसने न केवल कानूनी उपबन्धों का भंग ही किया बल्कि यह पिटीशनर को सुनवाई का अवसर देने से इनकार करने की कोटि में आता है। अतः पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने वाला आदेश 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले नियम में समाविष्ट नैसर्गिक न्याय के नियम का स्पष्ट अतिक्रमण था और वह पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुरूप नहीं था। यह महसूस करते हुए कि यह ऐसी घातक त्रुटि है जो पासपोर्ट जब्त करने के आदेश को शून्य बना देगी, विद्वान महान्यायवादी ने भारत सरकार की ओर से निम्नलिखित आशय का एक यह कथन किया—

> "1. सरकार ऐसे किसी अभ्यावेदन पर विचार करने के लिए सहमत है जो पिटीशनर द्वारा अपने पासपोर्ट जब्त किए जाने की बाबत किया जाए और उसे इस विषय में सुनवाई का अवसर देने के लिए सहमत है। वह अवसर अभ्यावेदन की प्राप्ति से दो सप्ताह के भीतर दिया जाएगा। यह स्पष्ट किया जाता है कि प्रस्तुत मामले में पासपोर्ट जब्त किए जाने के आधार, धारा 2(11) में वर्णित के सिवाय, वे हैं जो श्री घोष के तारीख 18 अगस्त, 1970 वाले के जवाब में दिए गए शपथपत्र में वर्णित हैं।
>
> 2. पिटीशनर के अभ्यावेदन पर विधि के अनुसार शीघ्रता से विचार किया जाएगा।"

यह कथन पासपोर्ट जब्त करने के आदेश से उस दोष को समाप्त कर देता है और इस पर अब इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि यह 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले नियम का अनुपालन नहीं करता है अथवा यह पासपोर्ट अधिनियम, 1967 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार नहीं है।

क्या धारा 10(3)(ग) अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करती है?

65. इससे हम इस अगले प्रश्न पर आते हैं कि क्या धारा 10(3) (ग) संविधान के भाग 3 के अधीन प्रत्याभूत किन्हीं मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती है। इस प्रयोजन के लिए संविधान के केवल दो अनुच्छेदों का अवलम्ब लिया गया है और वे हैं अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 19(1) (च) और (ग)। पहले हम अनुच्छेद 14 पर आधारित चुनौती का निपटारा करेंगे क्योंकि यह बहुत ही संक्षिप्त है। चुनौती के इस शीर्षक के अधीन तर्क यह था कि धारा 10(3)(ग) पासपोर्ट प्राधिकारी को पासपोर्ट जब्त करने की मार्गदर्शन रहित और अनियन्त्रित शक्ति प्रदत्त करती है और इसलिए यह अनुच्छेद 14 में के समता वाले खण्ड का अतिक्रमण करती है। यह बात स्वीकार की गई है कि धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट जब्त करने की शक्ति का प्रयोग कथित आधारों में से एक या अधिक के ही आधार पर किया जा सकता है किन्तु शिकायत यह थी कि 'जन साधारण के हित' वाला आधार इतना अस्पष्ट और अनिश्चित है कि वह पासपोर्ट प्राधिकारी को वस्तुतः कोई मार्गदर्शन नहीं देता और पासपोर्ट प्राधिकारी, किसी भी प्रकार धारा के निबन्धनों का अतिक्रमण किए बिना किसी एक व्यक्ति का पासपोर्ट सुविवेकानुसार जब्त कर सकता था जब कि दूसरे का नहीं। इसके अलावा यह कहा गया है कि जब पासपोर्ट जब्त करने का आदेश केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है कानून में किसी अपील अथवा पुनरीक्षण का उपबन्ध नहीं किया गया है और केन्द्रीय सरकार का यह विनिश्चय कि पासपोर्ट जब्त करना लोकहित में है अन्तिम और निश्चायक है। इस प्रकार पासपोर्ट प्राधिकारी में और विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार में निहित विवेकाधिकार अनियन्त्रित और अनिर्बन्धित है और यह सहज रूप से अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करता है। विधि इस बारे में अब सुस्थिर है कि जब कोई कानून किसी प्राधिकारी में मार्गदर्शन रहित और अनिर्बन्धित शक्ति निहित करता है जो ऐसी कोई नीति अथवा सिद्धांत अधिकथित किए बिना जो इस शक्ति के प्रयोग में प्राधिकारी का मार्गदर्शन करने वाली हो, किसी व्यक्ति के अधिकारों को प्रभावित करती है, वह विभेद के दोष से युक्त होगी क्योंकि इससे वह प्राधिकारी समान रूप से स्थित व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के बीच विभेद कर सकेगा। किन्तु इस मामले में यह कहना कठिन है कि पासपोर्ट प्राधिकारी को प्रदत्त विवेकाधिकार मनमाना अथवा

अनियन्त्रित है। धारा 10(3)(ग) में उपवर्णित चार आधार ऐसे हैं जो पासपोर्ट जब्त किए जाने के आदेश किए जाने को न्यायोचित ठहराते हैं। हमारा सरोकार केवल अन्तिम आधार से है जो 'जनसाधारण के हित में' शब्दों द्वारा द्योतक है क्योंकि यहीं वह आधार है जिस पर यह आपत्ति की गई है कि यह अस्पष्ट और अनिश्चित है। हम यह बात नहीं समझ सकते कि इस आधार को किसी भी प्रकार के तर्क द्वारा अस्पष्ट, अथवा अनिश्चित होने का स्वरूप से दिया जा सकता है। 'जनसाधारण के हित में' शब्दों का स्पष्ट रूप से सुनिश्चित अर्थ है और प्रायः न्यायालयों से यह विनिश्चय करने की अपेक्षा की गई है कि क्या कोई विशेष कार्रवाई 'जनसाधारण के हित में' की है अथवा 'लोकहित में' है और इसका प्रयोग करने में न्यायालयों को कोई कठिनाई नहीं हुई है। वस्तुतः ये शब्द अनुच्छेद 19(5) से शब्दशः लिए गए हैं और हमारा यह विचार है कि इसके द्वारा संविधान निर्माताओं पर अस्पष्ट अथवा अनिश्चित विचारधारा का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। विधानमण्डल ने अनुच्छेद 19(5) से इन शब्दों को लेने और इन्हें धारा 10(3)(ग) में रखने में कांट छांट करने और जोड़ने का कार्य किया है और यदि ये शब्द अनुच्छेद 19(5) में अस्पष्ट और अनिश्चित नहीं हैं तो यह समझना कठिन है कि जब वे धारा 10(3)(ग) में आते हैं तो उनकी किस प्रकार आलोचना की जा सकती है। यह कैसे कहा जा सकता है कि इन शब्दों के कारण धारा 10(3) (i) में कोई सांविधानिक शिथिलता आ गई है जब कि वे अनुच्छेद 19(5) में के सांविधानिक उपबन्ध से अधिक विस्तृत नहीं है और संविधान में अपनाए गए शाब्दिक सूत्र को निष्ठापूर्वक अपनाया गया है। स्पष्ट रूप से हमारा यह दृष्टिकोण है कि 'जनसाधारण के हित में' शब्दों द्वारा पर्याप्त मार्गदर्शन हो जाता है और पासपोर्ट जब्त करने के लिए पासपोर्ट प्राधिकारी को प्रदत्त शक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह मार्गदर्शन रहित अथवा अनियन्त्रित है। इसके अलावा यह भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि इस शक्ति के प्रयोग को जहां तक कि धारा में कथित है या अधिक आधारों के आधार पर इसके प्रयोग की आवश्यकता का सम्बन्ध है, इस शक्ति को पासपोर्ट प्राधिकारी की आत्मपरक राय पर निर्भर नहीं बनाया गया है किन्तु पासपोर्ट प्राधिकारी से यह अपेक्षित है कि पासपोर्ट जब्त करने के लिए [illegible]

1978(1) eILR(PAT) SC 6

एक संक्षिप्त कथन अभिलिखित करें और कतिपय असाधारण परिस्थितियों के सिवाय, ऐसे कथन की एक प्रति प्रभावित व्यक्ति को दें जिससे कि सम्बद्ध व्यक्ति पासपोर्ट प्राधिकारी के विनिश्चय को अपील में चुनौती दे सके और अपील प्राधिकारी यह परीक्षा कर सके कि क्या पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा दिए गए कारण सही हैं और यदि हां तो क्या वे पासपोर्ट जब्त करने के आदेश के किए जाने को न्यायोचित ठहराते हैं। यह सत्य है कि जब पासपोर्ट जब्त करने का आदेश केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है तो उसके विरुद्ध कोई अपील नहीं होती है, किन्तु यह अवश्य स्मरण रखा जाना चाहिए कि ऐसे मामले में शक्ति का प्रयोग स्वयं केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है और यह बात निरापद रूप से समझी जा सकती है कि केन्द्रीय सरकार उस शक्ति का प्रयोग युक्तियुक्त और उत्तरदायी रीति में करेगी। जब शक्ति केन्द्रीय सरकार जैसे उच्च प्राधिकरण में निहित की जाती है, तो हल्के तौर पर यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि शक्ति का दुरुपयोग किया जाएगा। और यदि किसी मामले में शक्ति का दुरुपयोग किया जाता है तो न्यायालय के हाथ उस तक पहुंचने और उसे अविधिमान्य घोषित करने के लिए पर्याप्त लम्बे हैं। अतः धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट जब्त करने के लिए पासपोर्ट प्राधिकारी को प्रदत्त शक्ति के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि वह विभेदकारी हैं और वह अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं करती हैं। किन्तु ऐसी शक्ति के हर प्रयोग को यह अवधारित करने की दृष्टि से परखना होगा कि क्या वह मनमाना है अथवा धारा 10(3)(ग) में उपबन्धित मार्गदर्शन के भीतर है।

मूल अधिकार स्थापित करने वाले विरोधी दृष्टिकोणों का अतिक्रमण प्रत्यक्ष : और अपरिहार्य प्रभाव की कसौटी।

66. हमारा यह विचार है कि इस प्रक्रम पर मूल अधिकारों की कसौटी पर कानून की सांविधानिकता का अधिनिर्णय करने के लिए न्यायालय द्वारा अपनाया जाने वाला दृष्टिकोण पर विचार करना समुचित होगा। यह अवधारित करने के लिए कि क्या कानून किसी विशेष मूल अधिकार का अतिलंघन करता है, लागू किए जाने वाली कसौटी अथवा मानदण्ड क्या है? इस मुद्दे पर विधि में **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1]

---

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

के समय से आमूल परिवर्तन हुआ है। इस विषय पर इस न्यायालय का सबसे पहला विनिश्चय था जो संविधान के प्रारम्भ होने के शीघ्र पश्चात् दिया गया था। इस मामले में विचारार्थ जो तर्क दिया गया वह यह था कि निवारक निरोध-आदेश का परिणाम आवेदक को कोठरी में निरुद्ध करना होता है और इसलिए यह अनुच्छेद 19(1) के खण्डों (क), (ख), (ग), (घ) और (ङ) के अधीन प्रत्याभूत मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है। मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने इस तर्क का खण्डन किया जिन्होंने यह संकेत किया—सही दृष्टिकोण विधान की प्रत्यक्षता पर विचार करना है न कि यह कि निरोध का परिणाम क्या होगा जो अन्यथा विद्यमान हो तो निरुद्ध व्यक्ति के जीवन पद्धति पर क्या परिणाम होगा—उस अनुच्छेद का कोई अन्य अर्थान्वियन करना अयुक्तियुक्त होगा। **राम सिंह और अन्य** बनाम **दिल्ली राज्य**[1] वाले मामले में बहुमत की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति पातंजलिशास्त्री ने इन मताभिव्यक्तियों को सानुमोदन उदधृत किया। उस मामले में पिटीशनर के निरोध का आदेश लोक-व्यवस्था बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले कोई भाषण देने से निवारित करने के लिए किया गया था और यह तर्क दिया गया था कि निरोध का आदेश इसलिए अविधिमान्य था क्योंकि इससे अनुच्छेद 19(1)(ग) के अधीन प्रत्याभूत वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अधिकार का अतिलंघन हुआ था। न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि आदेश का प्रत्यक्ष उद्देश्य निवारक निरोध था न कि वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का अतिलंघन जो मात्र रूप से निरुद्ध व्यक्ति के निरोध के परिणामस्वरूप हुआ था और आदेश की विधिमान्यता को कायम रखा गया था। **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] के विनिश्चय और उसके पश्चात् **रामसिंह वाले मामले**[1] के विनिश्चय ने इस सिद्धांत को जन्म दिया कि राज्य की कार्यवाही का उद्देश्य और प्ररूप उस संरक्षण के विस्तार का अवधारण करता है जिसका किसी व्यक्ति द्वारा दावा किया जाए और ऐसी कार्यवाही की विधिमान्यता का निर्णय इस बात को विचार करते हुए करना होता है कि क्या यह 'संविधान के किसी विशेष अनुच्छेद के अंतर्गत आने वाले विषय की बात प्रत्यक्ष रूप से है अथवा यह उक्त अनुच्छेद को केवल आनुषंगिक रूप से अथवा प्रत्यक्ष रूप से छूती है।'

[1] (1951) एस० सी० आर० 451.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

मूल अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य की कार्यवाही की सांविधानिक विधिमान्यता अवधारण करने के लिए लागू की जाने वाली कसौटी यह है--कि कार्यवाही की विषयवस्तु क्या है और यह किस मूल अधिकार से सम्बन्धित है ? यह सिद्धांत कि 'महत्वपूर्ण गारंटियों के संरक्षण का विस्तार, जैसा कि प्राण और सम्पत्ति के अधिकार की स्वतंत्रता राज्य की कार्यवाही के प्ररूप और उद्देश्य पर निर्भर करती है न कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर इसके प्रत्यक्ष प्रवर्तन पर ।' जो कि काफी समय तक मान्य रहा है और जिसे **नरेश श्रीधर मिराजकर और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में उस आदेश की पुष्टि करने के लिए लागू किया गया था जो उच्च न्यायालय ने साक्षी के साक्ष्य के प्रकाशन को प्रतिषिद्ध करने के लिए मानहानि वाले वाद में किया था । इस न्यायालय ने **ए० के० गोपालन वाले मामले**[2] में मुख्य न्यायाधिपति कानिया के मतों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् और इस बात पर ध्यान देते हुए कि **रामसिंह वाले मामले**[3] में पूर्ण न्यायालय ने उसका अनुमोदन किया था, यह संकेत किया था कि आक्षेपिक आदेश का उद्देश्य साक्षी को इसलिए संरक्षण देना था जिससे कि उस मामले में सही साक्ष्य अभिप्राप्त किया जा सके जिससे कि पक्षकारों के बीच न्याय किया जा सके और यदि आनुषंगिक रूप से यह प्रेस में न्यायालय की कार्यवाहियों की रिपोर्ट देने से पिटीशनर को प्रवारित करता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह अनुच्छेद 19(1) (ग) का अतिलंघन करता है ।

67. किन्तु इस बात पर ध्यान देना रोचक है कि **ए० के० गोपालन वाले मामले** में मुख्य न्यायाधिपति कानिया के मतों के बावजूद और **रामसिंह वाले मामले**[3] में इन मदों के अनुमोदन के बावजूद इस न्यायालय ने **मिराजकर वाले मामले**[1] से पूर्व ऐसे दो विनिश्चय दिए थे जो उपर्युक्त मत से हटकर दिए गए थे और उनमें भिन्न दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया गया था । पहला विनिश्चय **एक्सप्रेस न्यूज पेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **भारत संघ**

---

[1] (1966) 3 एस० सी० आर० 744.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

[3] (1951) एस० सी० आर० 451.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

और अन्य[1] वाले मामले में दिया गया था जिसमें न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्याय एन० एच० भगवती ने **ए० के० गोपालन वाले मामले**[2] में मुख्य न्यायाधिपति कानिया के मतों के प्रति और **रामसिंह वाले मामले**[3] के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया किन्तु अन्त में यह अधिनिर्णय करने के प्रयोजनार्थ कि क्या कोई कानून किसी विशेष मूल अधिकार का अतिवर्तन करता है प्रत्यक्ष और अपरिहार्य प्रभाव की कसौटी अधिकथित की । विद्वान् न्यायाधीश ने यह संकेत किया कि पिटीशनर की ओर से इन सभी परिणामों का जो सुझाव दिया गया है, मानो वह वर्किंग जर्नलिस्ट्स (कंडिशन आफ सर्विस) एण्ड मिसलेनियस ऐक्ट, 1955 से उद्भूत होते हैं, अर्थात 'सूचना के परिचालन को अवरुद्ध करने की प्रवृत्ति और उसके द्वारा प्रसार के प्रविषय को संकुचित किया जाना पिटीशनर के उस अधिकार को प्रयुक्त करने के उपाय को चुनने की स्वतंत्रता को निर्बन्धित करता है, सरकारी सहायता चाहे जाने के कारण प्रेस की स्वतंत्रता को कम किए जाने की सम्भाव्यता होती है, पिटीशनर की स्वतंत्रता का प्रयोग करने के लिए उपाय चुने जाने के अधिकार पर शास्ति का अधिरोपण है अथवा उन्हें आनुकल्पिक माध्यम खोजने के लिए विवश करना आदि', बहुत दूरतर और बहुत से तथ्यों से निर्भर करेगा जो लागू हों अथवा न लागू हों। विद्वान् न्यायाधीश ने यह कहा कि 'जब तक आक्षेपित अधिनियम में अधिनियमित उपायों का प्रत्यक्ष और अपरिहार्य परिणाम न हो, उस विधान को यह मानते हुए अविधिमान्य घोषित करना संभव नहीं होगा कि इसका वैसा प्रभाव है और यह उस रूप में प्रवर्तित होता है। इस प्रकार की संभाव्य घटना ऐसा आवश्यक परिणाम नहीं होगा जिसे सम्बद्ध कर्मकारों के फायदों के लिए इस प्रकार के उपाय का अधिनियम करते समय विधानमण्डल ने अनुध्यात किया हो।' उसके पश्चात् पुनः विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया 'यदि अधिनियम का आशय अथवा सन्निकटप्रभाव अथवा प्रवर्तन ऐसा है जिससे कि यह उसे अनुच्छेद 19(1)(क) के प्रभाव क्षेत्र के भीतर लाता है वहां तक इसे निश्चित ही अविधिमान्य घोषित करना होगा। किन्तु पिटीशनर के मार्ग में वास्तविक

[1] (1959) 3 एस० सी० आर० 12.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

[3] (1951) एस० सी० आर० 451.

कठिनाई यह है कि न तो आक्षेपित अधिनियम का आशय और न ही उसका प्रभाव और प्रवर्तन पिटीशनर के वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य अधिकार को छीनना अथवा कम करना है।' इसमें हमें प्रत्यक्ष और अपरिहार्य प्रभाव के सिद्धांत का संकेत मिलता है जिसका प्रभाव आवश्यक रूप से विधानमण्डल द्वारा आशयित होना चाहिए अथवा दूसरे शब्दों में, जिसे सुविधाजनक रूप से और समुचित रूप से आशयित और वास्तविक प्रभाव के सिद्धांत के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है। इसी प्रकार **सकाल पेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में न्यूज पेपर (प्राइज एण्ड पेज) ऐक्ट, 1956 और डेली न्यूज पेपर (प्राइज एण्ड पेज) आर्डर, 1960 की सांविधानिक विधिमान्यता पर विचार करते समय इस न्यायालय ने प्रत्यक्ष और आसन्न प्रभाव की कसौटी लागू की। इस न्यायालय ने **द्वारकादास श्री निवास** बनाम **शोलापुर एण्ड वीविंग कम्पनी लिमिटेड**[2] वाले मामले के विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए यह संकेत किया कि 'यह राज्य की कार्यवाही का सार और व्यावहारिक परिणाम है जिस पर विचार किया जाना चाहिए न कि इसके शुद्धतः विधिक पहलू पर। और ऐसे मामलों में सही दृष्टिकोण यह जांच करना होना चाहिए कि नागरिक को सारतः क्या हानि अथवा क्षति हुई है। और यह मात्र रूप से वह रीति अथवा पद्धति नहीं जो निर्बन्धन लगाने में राज्य ने अपनाई है।' चूंकि 'आदेश का प्रत्यक्ष और आसन्न प्रभाव' किसी समाचार पत्र को अपने समाचार और दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए पृष्ठों की संख्या को प्रकाशित करने से निर्बंधित करना है, जिसे ऐसा करने का अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन मूल अधिकार प्राप्त है, जब तक कि यह बिक्री कीमत नहीं बढ़ाता है जैसा कि आदेश की अनुसूची में उपबन्ध किया गया है, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उस आदेश से अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा प्रत्याभूत समाचार पत्र के अधिकारों का अतिक्रमण हुआ था यहां पर पुनः विषय-वस्तु के उद्देश्य और प्ररूप की अपेक्षा राज्य की आक्षेपित कार्यवाही के प्रत्यक्ष और अपरिहार्य प्रभाव पर जोर दिया गया है।

---

[1] (1962) 3 एस० सी० आर० 842.

[2] (1954) एस० सी० आर० 674.

68. लेकिन केवल **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] में ही यह सिद्धान्त अन्तिम रूप से अस्वीकार कर दिया गया था कि राज्य की कार्रवाई का उद्देश्य और प्रारूप ही उस संरक्षण के विस्तार का अवधारण करता है जिसका किसी व्यक्ति द्वारा दावा किया जाए और यह कि व्यक्ति के मूल अधिकार पर राज्य की कार्यवाही का प्रभाव असंगत है। यह संकेत कर दें कि यह सिद्धान्त सारतः और वस्तुतः यह सार-तत्व की कसौटी के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं जो परिसंघीय और राज्य विधानमण्डलों को विधायी सूची के प्रति निर्देश से प्रदत्त विधायी शक्तियों में परस्पर विरोध होने की दशा में विधान की सांविधानिकता का अवधारण करने के लिए लागू की जाती है। ऐसे मामलों में जो प्रश्न पूछा जाता है यह होता है 'विधान का सार तत्व क्या है, यदि यह अभिव्यक्त शक्तियों के भीतर है तो इस कारण अविधिमान्य नहीं होता कि यह आनुषंगिक रूप से ऐसे विषयों को प्रभावित करता है जो प्राधिकृत क्षेत्र से बाहर हैं।' इस मामले में भी इस सिद्धान्त को लागू करने पर जिस प्रश्न पर विचार किया जाना अपेक्षित है वह यह है---राज्य की कार्रवाई का सार तत्व क्या है अथवा दूसरे शब्दों में, इसकी सही प्रकृति और स्वरूप क्या है, यदि यह किसी विशेष मूल अधिकार के अन्तर्गत आने वाले विषय की बाबत है तो इसकी विधिमान्यता का निर्णय केवल उस मूल अधिकार के प्रति निर्देश करते हुए ही किया जाना चाहिए और यह बात सारहीन है कि यह आनुषंगिक रूप से किसी अन्य मूल अधिकार को प्रभावित करती है। **बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ** और **अन्य**[2] वाले मामले में अपने विसम्मत निर्णय में न्यायाधिपति मैथ्यू ने सार-तत्व की कसौटी को इस सिद्धांत के सदृश माना है और यह संकेत किया है कि 'यद्यपि सार-तत्व की कसौटी यथार्थ रूप से समुचित नहीं है तो भी यह अवधारित करने के लिए उपादेय प्रयोजन पूरा कर सकती है कि क्या राज्य की कार्यवाही किसी विशेष मूल अधिकार का अतिलंघन करती है। किन्तु **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] में जो विनिश्चय ग्यारह न्यायाधीशों से गठित पूर्ण न्यायालय ने दिया था, इस सिद्धान्त को उलट दिया

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

गया था और बहुमत की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति शाह ने यह संकेत किया—

"..........किसी नागरिक के अधिकार का ह्रास न करने वाली विधि बनाने वाले प्राधिकारी का उद्देश्य अथवा उस कार्यवाही का रूप उस संरक्षण का अवधारण नहीं करता है जिसका वह दावा करता है, बल्कि विधि का प्रभाव और उस अधिकार पर उस कार्रवाई का प्रभाव ही इस बात का नियन्त्रण करते हैं कि किसी अनुतोष को मंजूर करने के लिए न्यायालय की अधिकारिता लागू होगी या नहीं। यदि सांविधानिक गारंटियों पर, जो मूल हैं, राज्य की कार्रवाई के प्रभाव का अवधारण करने के लिए यही दृष्टिकोण सही है और जिसे हम भी सही समझते हैं, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी मूल अधिकार के ह्रास के विरुद्ध संरक्षण के विस्तार का अवधारण विधानमण्डल के उद्देश्य से अथवा कार्रवाई के रूप से नहीं बल्कि वैयक्तिक अधिकारों पर उसके प्रत्यक्ष प्रवर्तन से किया जाता है।"

श०

"हमारा यह मत है कि यह सिद्धान्त कि राज्य की कार्रवाई का उद्देश्य और स्वरूप ही उस संरक्षण का विस्तार अवधारित करता है जिसके लिए व्यथित पक्षकार दावा कर सकता है, सांविधानिक स्कीम से संगत नहीं है..........।"

"हमारे मतानुसार, **ए० के० गोपालन के मामले**[1] में, इस धारणा को कि संविधान के कतिपय अनुच्छेदों में विनिर्दिष्ट विषयों की बाबत अनन्यतः चर्चा की गई है और यह अवधारण करने के लिए कि क्या किसी व्यक्ति के गारण्टीकृत अधिकारों का अतिलंघन हुआ है, राज्य की कार्यवाही के उद्देश्य और रूप मात्र पर ही विचार किए जाने की आवश्यकता है और साधारणतः व्यक्तियों के मूल अधिकारों पर इन विषयों के प्रभाव की उपेक्षा की जा सकती है, सही नहीं माना जा सकता।"

---

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

इस प्रकार **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] में जो विनिश्चय किया गया था, उसमें **ए० के० गोपालन वाले मामले**[2] में अपनाए गए मत को उलट दिया और जैसा कि न्यायाधिपति रे ने **बैनट कोलमैन वाले मामले**[3] में बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए मत व्यक्त किया था, उसमें दो परस्पर सम्बन्धित प्रतिपादन अधिकथित किए गए थे, अर्थात्—

> "पहला यह कि नागरिक के अधिकार का ह्रास करने वाली विधि को बनाने वाले प्राधिकारी का न तो यह उद्देश्य है, और न कार्रवाई का ऐसा रूप ही है जिससे कि अधिकार में हस्तक्षेप अवधारित होता है। दूसरी बात यह है कि अधिकार पर विधि और कार्रवाई के प्रभाव से ही अनुतोष देने विषयक न्यायालय की अधिकारिता लागू होती है। अधिकारों पर अधिनियम का प्रत्यक्ष प्रवर्तन ही सही कसौटी है।"

बैनट कोलमैन वाले मामले[3] में जो विनिश्चय किया गया था, उसमें **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] का अनुसरण किया गया था, वह एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय विनिश्चय है, क्योंकि उसमें **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] में अधिकथित प्रतिपादन का विस्तार से विवेचन किया गया था और उसे लागू किया गया था। राज्य की उस कार्रवाई जिस पर **बैनट कोलमैन वाले मामले**[3] में आक्षेपित किया गया था, अखबारी कागज़ सम्बन्धी ऐसी नीति थी जिसने, अन्य बातों के साथ-साथ, प्रत्येक समाचार-पत्र के लिए 10 पृष्ठों की अधिकतम सीमा, अधिरोपित की गई थी, किन्तु अनुज्ञेय कोटा के भीतर भी, अपनी आवश्यकताओं के पूर्ति करने के लिए परिचालन कम करके, समाचारपत्रों को पृष्ठों की संख्या बढ़ाने की अनुज्ञा दिए बिना, अधिरोपित की थी। इन निर्बन्धनों के बारे में यह कहा गया था कि वे अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रत्याभूत वाक्-स्वातन्त्र्य, अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रतिक्रमण करती हैं, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम पृष्ठों की संख्या को, जितने कि समाचारपत्र प्रकाशित कर सकते थे, 10 पृष्ठों तक सीमित करना था। सरकार की दलील यह थी कि अखबारी कागज की नीति का उद्देश्य उस आयातित अखबारी

---

1 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

2 (1950) एस० सी० आर० 88.

3 (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

कागज का जो कि दुर्लभ वस्तु हैं, संवितरण और साम्यापूर्ण वितरण करना है, न कि वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को न्यून करना। आयात नीति की विषय वस्तु आयातित वस्तु का संवितरण करना और अखबारी कागज का साम्यापूर्ण वितरण करना थी और अखबारी कागज़ की नीति में प्रत्यक्षतः या अव्यवहित रूप से अनुच्छेद 19(1)(क) में उल्लिखित अधिकार के बारे में भी नहीं कहा गया था और इसी कारण से उस अनुच्छेद का कोई भी अतिक्रमण नहीं हुआ था। सरकार की यह दलील बहुमत द्वारा निम्नलिखित शब्दों में अस्वीकार कर दी गई —

> "श्री पालखीवाला ने कहा कि विषयवस्तु के सार की तथा विधान के प्रत्यक्ष और आनुषंगिक प्रभाव की कसौटियां विधायी सक्षमता के प्रश्न से संगत हैं, किन्तु वे मूल अधिकारों के अतिक्रमण के प्रश्न से असंगत हैं। हमारे मतानुसार विधायी उपायों और मूल अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य की कार्यवाही का निर्वचन करने के लिए यह सुआधारित और सही दृष्टिकोण है। सही कसौटी यह है कि क्या आक्षेपित कार्यवाही का मूल प्रभाव अधिकारों को छीन लेना या कम करना है। यदि यह मान लिया जाए कि विधि या कार्यवाही का प्रत्यक्ष उद्देश्य आक्षेपित विधि या कार्यवाही द्वारा निर्बाध रूप से भाषण करने के अधिकार को प्रत्यक्षतः कम करना है, तो उसका सम्बन्ध प्रभाव की प्रत्यक्षता से है, न कि अधिक्षेपित विधि या कार्यवाही की विषयवस्तु की प्रत्यक्षता से। किसी कार्यवाही का किसी मूल अधिकार पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ सकता है, यद्यपि उसकी प्रत्यक्ष विषयवस्तु भिन्न हो सकती है। भारत की रक्षा या मानहानि से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित विधि का वाँक् स्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव हो सकता है। यदि निर्बन्धन अयुक्तियुक्त है तो अनुच्छेद 19(2) ऐसी विधि नहीं हो सकता, भले ही वह उसमें वर्णित विषयों से सम्बन्धित क्यों न हो। अतः 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रभाव की गुणवत्ता या स्वरूप के साथ लगेगा, न कि विषयवस्तु के साथ। विधि या कार्यपालक कार्यवाही का उद्देश्य तब असंगत होता है जब उसे मूल अधिकारों के सम्बन्ध में पिटीशनरों की दलील स्थापित हो जाती है। प्रस्तुत मामले में अखबारों पर निर्बन्धन लगाने के उद्देश्य का सम्बन्ध कोई अखबारी कागज की उपलभ्यता या विदेशी मुद्रा से बिल्कुल नहीं

हैं, क्योंकि ये निर्बन्धन कोटे के दिए जाने के पश्चात् प्रवर्तन में आते हैं। अत: ये निर्बन्धन दैनिक पत्रों या अखबारों की पृष्ठ-संख्या या उनके परिचालन को नियन्त्रित करने के लिए लगाए गए हैं। स्पष्टतया ये निर्बन्धन संविधान के अनुच्छेद 19(2) की परिधि से बाहर हैं। अत: इससे यह पुष्ट होता है कि इन निर्बन्धनों से वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का अधिकार न्यून होता है।"

बहुमत का यह मत था कि अखबारी कागज की नीति या उसकी विषय-वस्तु का उद्देश्य ऐसा नहीं था जो कि अवधारक है, बल्कि समाचार-पत्रों के अधिकारों पर प्रत्यक्ष परिणाम या प्रभाव उसका अवधारण करता है और चूंकि 'समाचार पत्रों पर आक्षेपित नीति का प्रभाव और परिणाम' समाचार-पत्रों के विकास और परिचालन का प्रत्यक्ष नियन्त्रण करना और निर्बन्धन करना था, इसलिए अखबारी कागज की नीति से वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का अतिलंघन होता है और इसलिए वह अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण करती है। इस प्रकार सार का सिद्धांत स्पष्ट शब्दों में अस्वीकृत कर दिया गया और जो कसौटी लागू की गई, वह इस सम्बन्ध में थी कि पिटीशनर के मूल अधिकार पर राज्य की आक्षेपित कार्यवाही का प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम या प्रभाव क्या होता है। यह सम्भव है कि किसी विशिष्ट मामले में राज्य की कार्यवाही के सार में किसी विशिष्ट मूल अधिकार के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया हो, किन्तु उसका प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रभाव एक अन्य मूल अधिकार पर हो और उस दशा में राज्य की कार्यवाही को पश्चातकथित मूल अधिकार की चुनौती स्वीकार करनी होगी। सार के सिद्धान्त में राज्य की कार्यवाही के उद्देश्य और विषयवस्तु की बाबत ध्यान दिया गया है, किन्तु मूल अधिकारों के प्रति निर्देश करते हुए राज्य की कार्यवाही की विधिमान्यता को कसौटी पर कसते हुए, न्यायालय को जिस बात पर विचार करना चाहिए वह यह है कि राज्य की कार्यवाही का प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम क्या है। अन्यथा, मूल अधिकारों की संरक्षा का सूक्ष्म रूप से, किन्तु निश्चित रूप से ह्रास हो जाएगा।

69. यह स्मरणीय है कि **आर० सी० कूपर वाले मामले**[1] में जो कसौटी विरचित की गई थी, वह पिटीशनर के मूल अधिकार पर राज्य

1 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

की कार्यवाही के, 'प्रत्यक्ष प्रवर्तन' या 'प्रत्यक्ष परिणाम और प्रभाव' मात्र के प्रति निर्देश करके किया गया है और उसमें इस सम्बन्ध में 'आवश्यक' शब्द का उपयोग नहीं किया गया है। किन्तु न्यायाधिपति शाह के सुसंगत विचारों का अर्थान्वियन करने पर, इस सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं है कि वह ऐसी कसौटी थी जो कि इस मामले में न्यायालय द्वारा वास्तव में अधिकथित की जानी आशयित थी। यदि वह कसौटी मात्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव की होती, तो वह स्पष्ट संकल्पना होती और 'प्रत्यक्षता के सम्बन्ध में निर्णय करने के प्रवर्त्तनात्मक सिद्धान्त के अभाव में, उससे न्यायालय को यह विनिश्चित करने का यह अपरिमित विवेकाधिकार प्राप्त होता कि क्या किसी विशिष्ट मामले में परिणाम या प्रभाव प्रत्यक्ष है या नहीं। इस कसौटी को लागू करने की दृष्टि से प्रत्यक्षता या अप्रत्यक्षता के विस्तार का परिमाणन करने के लिए किसी अन्य संकल्पना की आवश्यकता होगी और वह **एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स वाले मामले**[1] में प्रतिपादित 'आवश्यक' परिणाम या प्रभाव के सिद्धान्त द्वारा प्राप्त होता है। उस सिद्धान्त से ऐसी प्रत्यक्षता के विस्तार के परिमाणन में सहायता प्राप्त होती है जो कि मूल अधिकार का अतिलंघन गठित करने के लिए आवश्यक होता है। यदि किसी मूल अधिकार पर राज्य की कार्रवाई का प्रभाव प्रत्यक्ष और आवश्यक है तो फिर, सुतराम, यह उपधारणा अवश्य ही की जानी चाहिए कि कार्यवाही करने वाले प्राधिकारी का यही आशय था और इसी कारण से किन्हीं न्याय-शास्त्रियों ने प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रभाव के इस सिद्धान्त को आशयित और वास्तविक प्रभाव के सिद्धान्त के रूप में वर्णित किया है। यही वह कसौटी है जो यह अवधारित करने के प्रयोजन के लिए लागू की जानी चाहिए, कि क्या धारा 10(3)(ग) या उसके अधीन किए गए आक्षेपित आदेश से अनुच्छेद 19(1)(क) या (छ) का अतिक्रमण होता है।

क्या धारा 10(3)(ग) से अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण होता है?

70. अब हम इस की परिप्रेक्ष्य की रोशनी में अनुच्छेद 19(1)(क) पर आधारित चुनौती की परीक्षा कर सकेंगे। अनुच्छेद 19(1)

[1] (1959) एस० सी० आर० 12.

में लोकतन्त्र में सर्वाधिक प्रिय स्वातन्त्र्यों में से, एक अर्थात् वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य की बाबत उपबन्ध किया गया है। चूंकि पिटीशनर एक नागरिक है, इसलिए उसे यह गारण्टीकृत स्वातन्त्र्य निःसंदिग्ध रूप से प्राप्त है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या धारा 10(3)(ग) या आक्षेपित आदेश इस स्वातंत्र्य को असांविधानिक रूप से छीनती है या न्यून करती है। प्रथमदृष्टया, जिस अधिकार को धारा 10(3)(ग) और आक्षेपित आदेश द्वारा निर्बन्धित करने का प्रयास किया गया है वह विदेश जाने का अधिकार है और उसका नाम मूल अधिकार के रूप में अनुच्छेद 19(1)(क) में स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया गया है या शामिल नहीं किया गया है, किन्तु पिटीशनर की दलील यह थी कि विदेश जाने का अधिकार वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का महत्वपूर्ण भाग है और जब कभी राज्य की कार्यवाही, चाहे वह विधि हो या कार्यपालक आदेश, विदेश जाने के अधिकार का निर्बन्धन करती है या उसमें हस्तक्षेप करती है, तो उसमें निश्चित रूप से वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का ह्रास अन्तर्ग्रस्त होता है और इसी कारण से उसे अनुच्छेद 19(1)(क) की चुनौती स्वीकार करने की आवश्यकता है। भारत संघ ने दो दलीलें पेश करके इस दलील का उत्तर देने की कोशिश की। उस दलील का प्रथम भाग यह था कि विदेश जाने के अधिकार को वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य की परिधि के भीतर कदाचित नहीं लाया जा सकता, क्योंकि अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अधिकार भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर ही प्रयोज्य है और इस प्रयोग की गारन्टी का विस्तार देश के बाहर नहीं किया जाता है और इसी कारण से विदेश जाने के अधिकार के प्रयोग को निर्बन्धित और निवारित करने वाली राज्य की कार्यवाही के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अतिक्रमण होता है और इसी कारण से उसे अविधिमान्य कह कर उसकी निन्दा नहीं की जा सकती है। उसकी दलील के दूसरे भाग में और कुछ आगे बात कही गई है और उसके द्वारा उस प्रतिपादन को ही चुनौती दी गई जिस पर पिटीशनर की दलील आधारित थी और इस भाग के अधीन, जो दलील पेश की गई, वह यह थी कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य से विदेश जाने के अधिकार का महत्वपूर्ण रूप से सम्बन्ध था, और न ही उसका वही आधारिक प्रकृति और स्वरूप था, तथा इसी कारण से वह

अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के अधिकार में शामिल नहीं किया गया था और उस पर निर्बन्धन के अधिरोपण से उस अनुच्छेद का अतिक्रमण नहीं होता था। मोटे तौर से ये वही विरोधी दलीलें थी जिन पर पक्षकारों की ओर से जोर दिया गया और अब हम उन पर विचार करेंगे।

(क) क्या वाक् और अभिव्यक्ति का स्वातन्त्र्य भारत के राज्यक्षेत्र तक ही सीमित है ?

71. प्रथम प्रश्न जो कि इन दलीलों के सम्बन्ध में विचार किए जाने के लिए उत्पन्न हुआ है वह इस सम्बन्ध में है कि अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रदत्त वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के अधिकार का विस्तार और प्रविषय क्या है। क्या उसकी कोई भौगोलिक सीमाएं हैं ? क्या उसके प्रयोग की गारण्टी भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर ही दी गई है या क्या उसका विस्तार भारत के बाहर भी है ? भारत संघ ने यह दलील दी कि संविधान का यह आधारिक सिद्धान्त है कि उसके द्वारा गारण्टीकृत मूल अधिकार केवल भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर ही उपलभ्य हैं, क्योंकि संविधान-निर्माताओं का उन अधिकारों को प्रदत्त करने का आशय कभी भी नहीं हो सकता था, जिन्हें राज्य का प्राधिकारी प्रवृत्त नहीं कर सकता। इस दलील पर इस परिप्रश्न के रूप में जोर दिया गया: मूल अधिकारों को भारत के राज्यक्षेत्र के बाहर किस प्रकार से प्रवृत्त करना आशयित हो सकता है जब कि विदेशों में उनके प्रयोग को राज्य द्वारा संरक्षा प्राप्त नहीं हो सकती ? क्या मूल अधिकारों की बाबत यह आशयित था कि जहां तक कि भारत के बाहर का राज्यक्षेत्र सम्बन्धित है, वहां तक वे मात्र खोखले हैं ? यदि उसे राज्य द्वारा कार्यान्वित नहीं किया जा सकता है, तो भारत के राज्यक्षेत्र के बाहर मूल अधिकारों की गारण्टी प्रदत्त करने का क्या उद्देश्य था ? यद्यपि यह दलील युक्तिसंगत है, तथापि पहली झलक में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि बारीकी के साथ समीक्षा करने पर, यह ठीक नहीं है और उसे अवश्य ही अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए। जब भारत के संविधान-निर्माताओं ने मूल अधिकारों से सम्बन्धित भाग-III अधिनियमित किया था, उस समय उन्होंने ऐसे कतिपय आधारिक अधिकार संविधान में लिखे थे जो कि प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्निहित हैं और जो उसके पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट करने और उसके विकास के लिए आवश्यक हैं। ये अधिकार सभ्य समाज के आधारिक

मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और संविधान निर्माताओं ने यह घोषित किया था कि उन्हें संविधान में गौरव का स्थान प्राप्त होगा और उन्हें मूल अधिकारों के स्थान तक ऊंचा उठाया जाएगा। महात्मा गांधी के गतिशील आध्यात्मवाद से प्रेरित स्वतन्त्रता-संग्राम और वास्तव में भारत के सम्पूर्ण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक इतिहास के लम्बे वर्ष उस पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं जिसमें ये अधिकार अधिनियमित किए गए थे और इसी कारण से संविधान निर्माताओं ने इन अधिकारों की संकल्पना संकुचित सीमित अर्थ में न करके, उनके विस्तृत अर्थ में की थी, क्योंकि उनका लक्ष्य और उद्देश्य ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था निर्मित करना था जहां कि मनुष्य राज्य के या किन्हीं विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों के हाथों में खिलौना मात्र नहीं होगा, बल्कि जहां उसके लिए अपने व्यक्तित्व के अधिकतम विकास करने की पूरी गुंजाइश और अवसर होगा तथा व्यक्ति की गरिमा पूरी तरह से सुनिश्चित होगी। संविधान निर्माताओं ने मनुष्य के आध्यात्मिक आयाम को स्वीकार किया था और वे इस सम्बन्ध में सचेत थे कि वह ईश्वरत्व की प्रतिमूर्ति है, जिसे महान उपनिषदों में 'अमरत्व की सन्तान' के रूप में वर्णित किया गया है और जीवन में उसका सन्देश अन्तिम सत्य को प्राप्त करना है। इसे वह तब तक स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं कर सकता है जब तक कि उसे कतिपय आधारिक स्वतन्त्रताएं प्राप्त न हों, जैसे कि विचार-स्वातन्त्र्य, अन्तः करण-स्वातन्त्र्य, वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य, जहां कहीं भी वह चाहे संचरण की दैहिक स्वाधीनता और तत्प्रकार से अन्य बातें। समाज और विश्व में मनुष्य की इसी विस्तृत सकल्पना ने मूल अधिकारों के निरूपण के लिए अनुप्रमाणित किया था और यह विश्वास करना कठिन है कि जब संविधान निर्माताओं ने इन अधिकारों की घोषणा की थी, तो उनका आशय भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर ही उन्हें सीमित करना था। उदाहरण के लिए, वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य को लीजिए। क्या संविधान निर्माताओं का यह आशय हो सकता था कि नागरिक को भारत में, न कि भारत के बाहर, यह स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए? वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के साथ ही न केवल भारत में बल्कि उसके बाहर भी, सूचना एकत्र करने तथा देश में और विदेश में बोलने और अपनी अभिव्यक्ति करने का तथा अन्य व्यक्तियों से अपने विचारों और भावनाओं का आदान-प्रदान करने का अधिकार भी है। अर्थान्वयन के

1978(1) eILR(PAT) SC 6

किस सिद्धान्त के आधार पर और किस कारण से इस स्वतन्त्रता को भारत की सीमाओं के भीतर ही भौगोलिक रीति से सीमित किया जा सकता है ? संविधान-निर्माताओं ने अनुच्छेद 19(1)(क) के अन्त में "भारत के राज्यक्षेत्र में" शब्द जोड़ कर इस स्वतन्त्रता के विस्तार को सीमित नहीं किया है। उन्होंने सीमा विषयक किन्हीं शब्दों का उपयोग करने से अपने को जानबूझ कर विरत रखा है। तो क्या हम इन शब्दों को जोड़ने जा रहे हैं और बहुत ही प्रिय मूल अधिकार के विस्तार और प्रविषय को संकुचित करने जा रहे हैं ? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम जिस बात की व्याख्या कर रहे हैं वह संविधान है और हम से जिस बात का निर्वचन करने की प्रार्थना की गयी है, वह ऐसा उपबन्ध है जो कि मूल अधिकार प्रदत्त करता है। क्या हम उसकी परिधि और प्रविषय का विस्तार करेंगे या उसको न्यून करेंगे ? क्या हम मूल अधिकारों को प्रदत्त करने वाले भाग-III के उच्च और श्रेष्ठ प्रयोजन की उपेक्षा करेंगे ? क्या हम वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के मूल अधिकार को राज्य-क्षेत्रीय सीमाओं तक निर्बन्धित करके उसे निष्प्रभाव नहीं बना देंगे ? इसके अलावा इस बात की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है कि संविधान के प्रवृत्त किए जाने के थोड़े समय पहले ही और जब सांविधानिक वाद-विवाद चल ही रहा था, संयुक्त राष्ट्र महासभा ने, 10 दिसम्बर, 1948 को 'यूनिवर्सल डिकलेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स' (मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा) अंगीकार किया था और मूल अधिकारों में से अधिकांश को जो कि हमें भाग-III में सम्मिलित किए गए दिखाई पड़ते हैं, संयुक्त राष्ट्र ने यूनिवर्सल डिकलेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स में मनुष्य के अविच्छेद्य अधिकारों के रूप में माना था। यूनिवर्सल डिकलेरेशन के अनुच्छेद 19 में यह घोषित किया गया था कि* "प्रत्येक व्यक्ति को मत और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अधिकार प्राप्त है; इस अधिकार के अन्तर्गत, हस्तक्षेप के बिना, मत कायम करने का और किसी भी माध्यम से और सीमान्तों का ध्यान न रखते हुए (रेखांकन बल देने के लिए किया गया है) जानकारी और विचार लेने, प्राप्त करने और आयात करने का स्वातन्त्र्य आता है।"

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है —

"every one has a right to freedom of opinion and expression ; this right includes freedom to hold opinions without interference and to seek, receive and import information and ideas through any media and regardless of frontiers."

1978(1) eILR(PAT) SC 6

यह वाक् और अभिव्यक्ति के मूल स्वातन्त्र्य की शानदार घोषणा थी—जो कि संकल्पना की दृष्टि से श्रेष्ठ और परिधि की दृष्टि से सार्वभौमिक थी—जो कि उनके समक्ष उस समय थी जब कि संविधान-निर्माताओं ने अनुच्छेद 19(1)(क) को अधिनियमित किया था। इसलिए हमें कोई सन्देह नहीं है कि अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति का स्वातन्त्र्य न केवल भारत में, बल्कि उसके बाहर भी प्रयोज्य है।

72. यह सच है कि अनुच्छेद 19(1)(क) में दिया गया वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अधिकार केवल तभी प्रवृत्त किया जा सकता है, यदि उसका राज्य की किसी कार्रवाई द्वारा अतिक्रमण किया जाना इप्सित होता है और चूंकि राज्य की कार्यवाही का, प्रसंगवश कदाचित संसदीय विधान की दशा में प्रवृत्त किए जाने के सिवाए, राज्य-क्षेत्रेतर प्रवर्तन नहीं हो सकता है, इसलिए वह भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर ही ऐसा अतिक्रमण है जिसके सम्बन्ध में कोई व्यथित व्यक्ति परिवाद कर सकता है। किन्तु उससे यह अभिप्रेत नहीं है कि वाक् और अभि-व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अधिकार भारत में ही, न कि उसके बाहर, प्रयोज्य है। भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर की गई राज्य की कार्यवाही भारत के बाहर वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के प्रयोग को निवारित या निर्बन्धित कर सकती है। अनुच्छेद 19(1)(क) जो बात करता है, वह वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य को मूल अधिकार के रूप में घोषणा करना है और उसे राज्य की कार्यवाही के विरुद्ध संरक्षा प्रदान करता है। राज्य, किसी विधायी या कार्यपालक कार्यवाही द्वारा, इस अधिकार के प्रयोग में, वहां तक के सिवाए, जहां तक कि अनुच्छेद 19(2) के अधीन अनुज्ञेय है, हस्तक्षेप नहीं कर सकता। राज्य की कार्यवाही निश्चित रूप से भारत में की जाएगी किन्तु वह अन्यत्र भी इस अधिकार के प्रयोग को ह्रास पहुंचा सकती है या उसे निर्बन्धित कर सकती है। उदाहरण के लिए ऐसा मामला लीजिए जहां कि किस पत्रकार को विधि द्वारा या किसी कार्यपालक आदेश द्वारा, विदेश में अपने प्रेषण भेजने से निवारित किया जाता है। विधि या कार्यपालक आदेश भारत में पत्रकार के सम्बन्ध में प्रवृत्त होगा किन्तु उसे जो बात करने से निवारित करेगा, वह उसके वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य को विदेश में प्रयोग करना है। आज आधुनिक संसार में, जहां कि अत्यधिक विकसित विज्ञान और

तकनीक मौजूद है और अत्यधिक विकसित और श्रेष्ठ समाचार के साधन मौजूद हैं, कोई व्यक्ति अपने ही देश के भीतर कुछ बात करके विदेश में वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने में समर्थ हो सकता है और यदि वह प्रतिषिद्ध या निर्बन्धित किया जाता है तो उसका वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का निश्चित रूप से ह्रास होगा और उससे अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण होगा। अतः मात्र इसलिए क्योंकि राज्य की कार्यवाही भारत के राज्यक्षेत्र तक ही सीमित है, इससे निश्चित रूप से यह अर्थ नहीं निकलता है कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अधिकार, उसके प्रवर्तन की दृष्टि से, भारत के राज्यक्षेत्र तक ही सीमित है और उसका विस्तार भारत के बाहर नहीं होता है।

73. यह विचार कुछ भिन्न दृष्टिकोण से भी इस प्रश्न पर विचार करके साबित किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अधिकार अनुच्छेद 19(2) के अधीन अनुज्ञेय निर्बन्धन के अध्यधीन किया जा सकता है। यदि ऐसा निर्बन्धन जो कि किसी कानून या उसके अधीन बनाए गए आदेश द्वारा अधिरोपित हो, अनुच्छेद 19(2) में उपबन्धित सीमाओं के भीतर आता है, तो वह नागरिक को न केवल तब आबद्ध करेगा जब कि वह देश के भीतर है, बल्कि तब भी आबद्ध करेगा जब कि वह देश के बाहर यात्रा करता है। उदाहरण के लिए ऐसा मामला लीजिए जिसमें, या तो पासपोर्ट अधिनियम, 1967 के अधीन या उसके अधीन जारी किए गए पासपोर्ट में एक शर्त के रूप में, मनमाना, अयुक्ति-युक्त और पूर्णतया अन्यायोचित यह निर्बन्धन किसी नागरिक पर लगाया जाता है कि वह विदेश तो जा सकेगा किन्तु उसे वहां पर भाषण नहीं करना चाहिए। स्पष्ट रूप से यह ऐसा निर्बन्धन होगा जिससे देश के बाहर वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप होगा, क्योंकि यदि वह विधिमान्य होगा, तो जहां-कहीं भी वह जाएगा, वहां वह उस पर आबद्धकर होगा। वह यह कहने का हकदार होगा कि राज्य की कार्यवाही द्वारा अधिरोपित ऐसा निर्बन्धन अनुच्छेद 19(2) के अधीन अनुज्ञेय नहीं है। इस प्रकार से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति का स्वातन्त्र्य न केवल देश के भीतर, बल्कि बाहर भी प्रयोज्य है।

1978(1) eILR(PAT) SC 6

74. एक दूसरी भी ऐसी बात है जिससे वही निष्कर्ष निकलता है जैसा कि **सतवन्त सिंह साहनी वाले मामले**[1] में अभिनिर्धारित किया गया था, विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 21 के अर्थान्तर्गत "दैहिक स्वाधीनता" के अन्तर्गत आता है और इस प्रकार से वह ऐसा मूल अधिकार है जो कि उस अनुच्छेद द्वारा संरक्षित है। जबकि राज्य पासपोर्ट जारी करता है और एक देश के लिए उसकी मंजूरी देता है, किन्तु दूसरे देश के लिए ऐसी मन्जूरी देने से इन्कार करता है, तो सम्बन्धित व्यक्ति निश्चित रूप से भारत के बाहर जा सकता है, किन्तु ऐसे देश में जाने का उसका अधिकार छीन लिया गया है। अनुच्छेद 21 के अधीन राज्य यह बात तब तक नहीं कर सकता है, जब तक कि राज्य को ऐसा करने के लिए प्राधिकृत करने वाली विधि न हो और ऐसी विधि के द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार वह कार्यवाही न की गई हो; विदेश जाने का अधिकार, और विशिष्ट रूप से किसी विनिर्दिष्ट देश में जाने का अधिकार, स्पष्टता ऐसी दैहिक स्वाधीनता का अधिकार है जो कि भारत के बाहर प्रयोज्य है और फिर भी **सतवंत सिंह साहनी**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह अनुच्छेद 21 द्वारा संरक्षित मूल अधिकार है। इससे स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि संविधान में ऐसा कोई भी अन्तर्निहित सिद्धान्त नहीं है जो कि मूल अधिकार के प्रवर्तन को भारत के राज्यक्षेत्र तक ही सीमित करता हो। यदि अनुच्छेद 21 के अधीन मूल अधिकार भारत के बाहर प्रयोज्य हो सकता है, तो अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रदत्त वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का अधिकार इस प्रकार से क्यों नहीं प्रयोज्य हो सकता है?

75. जो मत हम अपना रहे हैं, वह यूनाइटेड स्टेट्स में उसी विषय से सम्बन्धित विचारधारा के अनुसार पूरी तरह से है। मत का बाहुल्य यह है कि बिल ऑफ राईट्स की संरक्षा युनाइटेड स्टेट्स के नागरिकों को विदेशों में भी उपलभ्य है। देखिए—**बैस्ट** बनाम **युनाइटेड स्टेट्स**[2] 1956 कोलम्बिया लॉ रिव्यू में "दि कांस्टिट्यूशनल राइट टू

---

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

[2] 184 फैडरल रिपोर्टर (सैकेण्ड) 131.

ट्रैवल" (यात्रा करने का सांविधानिक अधिकार) पर एक बहुत ही दिलचस्प लेख है जिसमें लियोनार्ड बाऊंडिन ने यह लिखा है कि :

> "यात्रा करने के अधिकार पर परिसीमा लगाने पर जो अन्तिम आक्षेप है, वह यह है कि वे किसी व्यक्ति की अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप करते हैं। एक पण्डितोचित न्याय शास्त्री के विचार में यात्रा करना स्वयं ही ऐसा स्वातंत्र्य है। किन्तु हमें इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं; यह पर्याप्त है कि वाक् स्वातंत्र्य के अन्तर्गत अमरीकी सरकार के हस्तक्षेप के बिना अमरीकियों को किसी भी स्थान पर उस अधिकार का प्रयोग करने का अधिकार आता है। बिल ऑफ राइट्स पर कोई भी भौगोलिक परिसीमाएं अधिरोपित नहीं की गई हैं। ऐसी सरकार जो कि संसार के किसी भी देश में नागरिकों के अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य में बाधाएं उत्पन्न करती है, संविधान का अतिक्रमण उसी प्रकार से करती है मानो कि उसने यूनाइटेड स्टेट्स में ऐसी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में वह बात लागू की हो।"

डॉक्टर एस० एस० सदाशिव राव बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में कर्नाटक उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्यायमूर्ति हैगड़े ने (जैसा कि वे तब थे), सानुमोदन, यह विचार उद्धृत किए थे और उसमें विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था कि "यह विचार इस देश में अभिभावी परिस्थितियों को समान बल से लागू होते हैं।" अतः यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य पर कोई भी भौगोलिक परिसीमाएं अधिरोपित नहीं की गई हैं और यह स्वातंत्र्य न केवल भारत में, बल्कि भारत के बाहर भी प्रयोज्य है और यदि राज्य की कार्यवाही से संसार के किसी भी देश में नागरिकों के अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य में बाधा उत्पन्न होती है तो उससे अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण उसी प्रकार से होगा मानो देश के भीतर ही ऐसी अभिव्यक्ति निषिद्ध की गई हो। उसी तर्क के आधार पर यह निष्कर्ष अनुच्छेद 19(1) (छ) के अधीन गारण्टीकृत किसी वृत्ति या उपजीविका या व्यापार या कारोबार करने के मूल अधिकार के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होगा।

---

1 1965 मैसूर ला जर्नल 605.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

(ख) क्या विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 19(1)(क) या (छ) के अन्तर्गत आता है ?

76. इसके बाद हम सरकार की दलील के दूसरे भाग से उत्पन्न होने वाले अगले प्रश्न पर विचार करेंगे। क्या विदेश जाने का अधिकार वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का आवश्यक भाग इस प्रकार है कि जब कभी पूर्वकथित का अतिक्रमण होता है, उस समय क्या पश्चात्कथित का ह्रास होता है जिससे कि अनुच्छेद 19(1)(क) का व्यतिक्रमण अन्तर्ग्रस्त होता है। पिटीशनर की दलील यह थी कि, जब कि यह सच है कि विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 19(1) के किसी भी खण्ड में मूल अधिकार के रूप में शामिल नहीं किया गया है, उसकी विद्यमानता अनुच्छेद 19(1) में उल्लिखित अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्यों को अर्थपूर्ण और प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है। वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का अधिकार अर्थपूर्ण हो सकता है और उसका प्रयोग केवल तभी प्रभावी हो सकता है, यदि विदेश में यात्रा करने का अधिकार सुनिश्चित हो और उसके बिना वाक् और अभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य भौगोलिक बन्धनों द्वारा सीमित हो जाएगा। किसी व्यक्ति को अपने विचारों का आदान-प्रदान करने के लिए या अपने विचार और मत को अन्य व्यक्तियों के साथ बांटने के लिए या गीत या नृत्य अथवा अभिव्यक्ति के किसी अन्य प्रकार के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करने के लिए विदेश जाने से उसे निवारित करने की दृष्टि से उस व्यक्ति के पासपोर्ट की ज़ब्ती वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप है। आगे इस प्रकार दलील की गई कि यह स्पष्ट है कि विषम और विकासमान समाज में, जहां कि परिवहन और संचार की द्रुत प्रणालियों ने फासले को कम कर दिया है और संसार के भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाले लोगों को समीप ला दिया है, वहां सामाजिक, राजनैतिक या अन्य विचारों और नीतियों को बढ़ावा देने के प्रयोजन के लिए संसार के अन्य भागों में समान रूप से सोचने वाले व्यक्तियों से सहयोजित होने का अधिकार अपरिहार्य है और वह वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का भाग है, जो कि विदेश जाने के अधिकार के बिना प्रभावी रूप से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। यह कहा गया कि विदेश जाने का अधिकार ऐसा परिमीय अधिकार है जो कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के अधिकार से उद्भूत होता है और उसी कारण से वह अनुच्छेद 19(1)(क) के अन्तर्गत आता है। पिटीशनर की इस दलील को यूनाइटेड

स्टेट्स के सुप्रीम कोर्ट के किन्हीं हाल के विनिश्चयों के प्रति निर्देश करके समर्थन देने की कोशिश की गई। हम कुछ आगे चल कर इन विनिश्चयों की परीक्षा करेंगे किन्तु हम सिद्धांत सम्बन्धी प्रश्न पर पहले विचार करेंगे।

77. हम विदेश जाने के अधिकार की प्रकृति और महत्व पर पहले विचार करके इस प्रश्न पर विचार आरम्भ कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में कोई भी विवाद नहीं हो सकता है कि मनुष्य के लिए आधारिक रूप से ऐसा मुक्त क्षेत्र अवश्य ही विद्यमान होना चाहिए जो कि सबसे ऊंचे आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के धारक के रूप में, मनुष्य की प्रकृति और गरिमा से उद्भूत होता है। मनुष्य का यह आधारिक स्वातंत्र्य विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्त होता है और विभिन्न आधारिक अधिकारों में प्रतिबिम्बित होता है। विदेश जाने का स्वातंत्र्य ऐसे अधिकारों में से एक है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति ऐसा मुक्त अभिकर्ता है जिसमें उसके द्वारा अबाध संचरण आवश्यक रूप से अन्तर्ग्रस्त है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यदि राज्य का प्रयोजन और उसकी भावना व्यक्तित्व और उसके विकास की संरक्षा करना है, जैसा कि वास्तव में किसी उदार लोकतांत्रिक राज्य को होना चाहिए, तो विदेश जाने के स्वातंत्र्य को आधारिक अधिकारों के बीच उचित स्थान मिलना चाहिए। यह अधिकार महत्वपूर्ण आधारिक मानव अधिकार है, क्योंकि वह व्यक्ति के स्वतंत्र और आत्म-अवधारणकारी सर्जनात्मक स्वरूप का पोषण न केवल कार्य करने की स्वतंत्रताओं का विकास करके, बल्कि उसके अनुभव की परिधि का विस्तार करके भी करता है। यह ऐसा अधिकार है जो कि विदेश के विश्वविद्यालयों में अध्ययन के ज़रिए, विदेशी सहयोगियों के साथ सम्पर्क करके और विचार-विमर्शों और सम्मेलनों में भाग लेकर, विशिष्टतया बौद्धिक और सर्जनात्मक कर्मकार के आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करने का अवसर देता है। इस विस्तार का अधिकार निजी जीवन पर भी होता है; विवाह, कुटुम्ब और मैत्री ऐसी मानविकाएं हैं, जिन पर विदेश जाने के स्वातंत्र्य से वंचित करके, प्रभाव नहीं पड़ सकता और उनसे स्पष्टतः यह दर्शित होता है कि यह स्वातंत्र्य मानव का असली अधिकार है। इसके अलावा, यह स्वातंत्र्य अत्यधिक मूल्यवान अधिकार वहां होगा जहां कि मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के स्वयं विवश होता है (क) क्योंकि जैसा कि वह चाहता है, वह अपने निवास-स्थान के पहले वाले स्थान पर, अपने ईश्वर की उपासना करने में असमर्थ है; (ख) क्योंकि

उसकी दैहिक स्वाधीनता को उन कारणों से खतरा है जो कि इन शब्दों के प्राययिक अर्थान्तर्गत अपराध गठित नहीं करते और आपातकाल के दौरान अनेक ऐसे मामले हुए थे, या (ग) क्योंकि उसके जीवन को या तो धार्मिक या राजनीतिक कारणों से या मानव गरिमा के अनुरूप रहन-सहन के न्यूनतम स्तर के रखरखाव को खतरा है। इन कारणों से यह ध्वनित होता है कि जबकि अन्य आधारिक स्वतंत्रताओं से वंचित कर दिया जाता है, तो विदेश जाने के स्वातंत्र्य में स्वतंत्रता देवी की शरण लेने (ultimum refunium libertaties) का महत्वपूर्ण कृत्य समाविष्ट होता है। **कैण्ट** बनाम **डल्लस**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति डगलस के शब्दों को उद्धृत करना उचित होगा। विदेश जाने के स्वातंत्र्य का बहुत सामाजिक मूल्य है और यह बहुत ही महत्व के आधारिक मानवीय अधिकार का प्रतिनिधित्व करता है। वास्तव में उसमें अविच्छेद्य मानव अधिकार समाविष्ट है किन्तु उसका नाम अनुच्छेद 19(1) में मूल अधिकारों के रूप में विनिर्दिष्ट रूप में नहीं लिया गया। क्या उससे यह अभिप्रेत है कि उसके कारण वह ऐसा मूल अधिकार नहीं हो सकता जो कि अनुच्छेद 19(1) के अन्तर्गत आता है।

78. प्रारम्भ में यह बात बताई जा सकती है कि हमारा मत यह नहीं है कि ऐसा अधिकार जिसका उल्लेख विनिर्दिष्ट रूप से नाम लेकर नहीं किया गया है, अनुच्छेद 19(1) के अर्थान्तिर्गत मूल अधिकार कभी भी नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि उस अधिकार का उल्लेख अनुच्छेद 19(1)(क) के किसी भी खण्ड में अभिव्यक्त रूप से न किया गया हो, किन्तु फिर भी वह उस अनुच्छेद के किसी खण्ड के अन्तर्गत आता है। उदाहरण के लिए, व्याख्या के तौर पर प्रेस की स्वतंत्रता को लीजिए। यह लोकतंत्र में सर्वाधिक प्रिय और मूल्यवान स्वातंत्र्य है; वास्तव में लोकतंत्र स्वतंत्र प्रेस के बिना जीवित ही नहीं रह सकता। लोकतंत्र मुक्त वाद-विवाद और खुले विचार-विमर्श पर आवश्यक रूप से आधारित है, क्योंकि वह लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकारी कार्यवाही को ठीक करने का एक मात्र साधन है। यदि लोकतंत्र से जनता द्वारा जनता का शासन अभिप्रेत है, तो यह स्पष्ट है कि प्रत्येक नागरिक को लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए और इस चयन के अपने अधिकार का

---

[1] 357 यू० एस० 116; 2 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 1204.

बुद्धिमत्तापूर्ण रूप से प्रयोग करने में उसे समर्थ बनाने की दृष्टि से सार्वजनिक विषयों का स्वतंत्र और साधारण विचार-विमर्श करना पूर्णतया आवश्यक है। स्पष्टतः स्वतंत्र वाद-विवाद और खुला हुआ विचार-विमर्श, उसके सर्वाधिक व्यापक अर्थों में, तब तक संभव नहीं है जब तक कि मुक्त और स्वतंत्र प्रेस न हो। वास्तव में लोकतंत्र के स्वास्थ्य और शक्ति का वास्तविक माप उसकी प्रेस में ही सदैव ढूंढा जा सकता है। उसके समाचार पत्रों को देखिए--क्या उनमें मतों और विचारों का वैभिन्न प्रतिबिम्बित होता है ? क्या उनमें सरकारी नीतियों और कार्यवाहियों के विरुद्ध विमत और आलोचना की अभिव्यक्ति मौजूद है ? या क्या वे चाटुकारितापूर्ण रीति से सरकार की प्रशंसा के गीत गाते हैं या शासक का गौरव प्रदर्शित करते हैं या उस पर देवत्व आरोपित करते हैं ? समाचार-पत्र सरकार के सच्चे स्वरूप का सूचक होते हैं--चाहे वह सरकार लोकतांत्रिक हो या निरंकुश। न्यायाधिपति पॉटर स्टेवार्ट ने यह मत व्यक्त किया था : "प्राणवान् और मुक्त प्रेस के बिना, प्रबुद्ध जनता हो ही नहीं सकती।" इस प्रकार से प्रेस की स्वतंत्रता लोकतंत्र के स्तम्भों में से एक है और वास्तव में वह लोकतान्त्रिक संगठन की आधारशिला है किन्तु फिर भी वह अनुच्छेद 19(1) में मूल अधिकार के रूप में शब्दों में प्रगणित नहीं की गई, यद्यपि सांविधानिक न्याय शास्त्रियों ने यह मत व्यक्त किया था कि यह स्वातंत्र्य इतना आधारिक और मौलिक है कि उसे संविधान के भाग-III में अभिव्यक्त रूप से उल्लिखित नहीं किया है। किन्तु इस न्यायालय ने अनेक विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया है जिनमें से हम केवल तीन का, अर्थात् **एक्सप्रेस न्यूजपेपर वाले मामले**[1], **सकाल पेपर्स वाले मामले**[2] और **बैनट कोलमैन वाले मामले**[3] का उल्लेख कर सकते हैं, अर्थात् यह कि प्रेस की स्वतंत्रता वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के अधिकार का भाग है और अनुच्छेद 19(1)(क) की परिधि के भीतर आता है। कारण यह है कि प्रेस की स्वतंत्रता वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का पहलू होने के सिवाए कुछ भी नहीं। उसकी वही आधारिक प्रकृति और स्वरूप है और वास्तव में वह वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का महत्वपूर्ण भाग है तथा यह कहना कदाचित ठीक नहीं होगा कि यह वही अधिकार है जो कि प्रेस के सम्बन्ध

---

1 (1959) एस० सी० आर० 12.

2 (1962) 3 एस० सी० आर० 842.

3 (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

में लागू होता है। इसी प्रकार से परिचालन के स्वातंत्र्य में भी आवश्यक रूप से वाक् और अभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य अन्तर्ग्रस्त है और वह उसका भाग है तथा इसी कारण से उसे अनुच्छेद 19(1)(क) की संरक्षा प्राप्त है। देखिए— **रमेश थापर** बनाम **मद्रास राज्य**[1] इसी प्रकार से पेण्ट करने का या गाने का या नृत्य करने का या कविता या साहित्य लिखने का अधिकार अनुच्छेद 19(1)(क) के अन्तर्गत आता है, क्योंकि इन सभी क्रियाकलापों में सामान्य आधारिक मुख्य गुण वाक् और अभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य है, या इसी बात को यदि भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाए, तो इन क्रियाकलापों में से प्रत्येक वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का प्रयोग है। इस प्रकार से यह बात देखी जाएगी कि यदि अनुच्छेद 19(1) में इस अधिकार का विनिर्दिष्ट रूप से नाम नहीं लिया गया है तो भी ऐसा मूल अधिकार उस दशा में हो सकता है जो कि उस अनुच्छेद के किसी खण्ड के अन्तर्गत आता है, यदि वह उल्लिखित मूल अधिकार का महत्वपूर्ण भाग है या उसकी आधारिक प्रकृति और स्वरूप वही है जो कि मूल अधिकार का होता है। यह पर्याप्त नहीं है कि पिटीशनर द्वारा जिस अधिकार का दावा किया गया है, वह नामित मूल अधिकार से उत्पन्न होता हो अथवा यह कि उसका अस्तित्व नामित मूल अधिकार के प्रयोग को पूर्ण और प्रभावी बनाने की दृष्टि से आवश्यक है। ऐसा प्रत्येक क्रियाकलाप जो कि नामित मूल अधिकार के प्रयोग को सुविधाजनक बनाता है, आवश्यक रूप से उस मूल अधिकार में परिकल्पित नहीं है और न ही उसे उस रूप में मात्र इसलिए माना जा सकता है, क्योंकि अन्यथा उस मूल अधिकार का प्रभावी रूप से प्रयोग करना सम्भव नहीं हो सकता। यदि इसका अर्थान्वियन इसके विपरीत किया जाता है, तो उसके फलस्वरूप बेतुके परिणाम निकलेंगे और अनुच्छेद 19(1) की सम्पूर्ण स्कीम जो कि भिन्न-भिन्न अधिकार प्रदत्त करता है, और भिन्न-भिन्न मानकों के अनुसार ऐसे भिन्न-भिन्न निर्बन्धन लगाता है, जो कि अधिकार की प्रकृति पर निर्भर है, गड़बड़ हो जाएगी। जो बात देखनी आवश्यक है, वह यह है और वही कसौटी है जिसे लागू किया जाना चाहिए, चाहे पिटीशनर द्वारा दावा किया गया अधिकार नामित मूल अधिकार का महत्वपूर्ण भाग है या कि उसकी आधारिक प्रकृति और स्वरूप वही है जो कि नामित मूल अधिकार का है जिससे कि ऐसे अधिकार का प्रयोग वस्तुतः और सारतः नामित मूल अधिकार के प्रयोग का उदाहरण

---

[1] (1950) एस० सी० आर० 594.

होने के अलावा कुछ भी नहीं है। यदि वही ठीक कसौटी है, जैसा कि हम समझते हैं कि वह है, तो विदेश जाने के अधिकार को, सभी परिस्थितियों में, यह नहीं माना जा सकता है कि वह वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में सम्मिलित है। **कैन्ट बनाम डल्लस**[1] वाले मामले में न्यायाधिपति डगलस ने यह मत व्यक्त किया था कि "सीमान्त के पार किसी भी दिशा में, और सीमान्त के भीतर भी, संचरण का स्वातंत्र्य हमारी विरासत का भाग रहा है। देश के भीतर यात्रा करने की भांति विदेश में यात्रा करना भी जीविका के लिए आवश्यक हो सकता है। यह व्यक्ति के हृदय के उतना निकट हो सकता है जितना कि इस बात का चुनाव करना कि वह क्या खाता है, या क्या पहनता है या क्या पढ़ता है।" "संचरण का स्वातंत्र्य मूल्यों की हमारी युक्ति में आधारिक है"। और विद्वान् न्यायाधीश ने अपने देश में संचरण के स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में जो बात कही थी, वह हमारे देश को भी उसी तरह से लागू होती है। संचरण का स्वातंत्र्य हमारी प्राचीन परम्परा का भाग रहा है जिसने मनुष्य की गरिमा को सदैव कायम रखा था और उसमें ईश्वर की प्रतिमूर्ति के दर्शन किए थे। वेदज्ञानियों ने, न ही मनुष्य की देह के संचलन में और न ही आत्मा के ज्ञान के उच्चतर स्तर तक उड़ान करने में कोई परिसीमा निर्धारित की थी। उपनिषदोत्तर काल में भी तथा उसके बाद बौद्धकाल और ईसा के बाद प्रारम्भिक शताब्दियों में भी इस देश के लिए व्यापार और कारोबार की खोज में या ज्ञान की खोज में या अन्य व्यक्तियों को अपने प्राचीन मुनियों या ज्ञानियों द्वारा उन्हें दिए गए ज्ञान प्रतिरक्षा देने के दृष्टि से विदेश जाया करते थे। भारत का विस्तार उसके सीमान्तों के बाहर तक था; उसके पौत्र समुद्र पार करते थे और पूर्व से लेकर पश्चिम तक भारत धन से पूर्ण था, उसके सांस्कृतिक संदेश-वाहक और दूत दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी कला और महाकाव्य का प्रचार करते थे और उसके धर्म में चीन और जापान तथा अन्य सुदूर-पूर्व के देशों पर विजय प्राप्त की थी और पश्चिम में फिलिस्तीन और एलैग्जेंडरिया तक फैल गया था। अन्तिम शताब्दी की समाप्ति पर और इस शताब्दी के प्रारम्भ में, हमारे लिए अफ्रीकी देशों में बस जाने के लिए समुद्र पार जाते थे। देश में और विदेश में संचलन का स्वातंत्र्य हमारी विरासत का भाग है, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, वह इतना अधिक प्रिय अधिकार है, जो कि मनुष्य के व्यक्तित्व के संवर्धन और विकास के लिए

1 357 यू० एस० 116; 2 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 1204.

आवश्यक है और उसके महत्व को कम नहीं आंका जा सकता। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि वह वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के अधिकार का भाग है। उसकी वही आधारिक प्रकृति और स्वरूप नहीं है जो कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का होता है जबकि कोई व्यक्ति विदेश जाता है, तो वह अनेक कारणों से ऐसा कर सकता है और वह आवश्यक रूप से तथा सदैव ही वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का प्रयोग नहीं भी हो सकता। विदेश में की गई प्रत्येक यात्रा वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का प्रयोग नहीं होता है और यह कहना सही नहीं होगा कि जब कभी विदेश जाने के अधिकार पर निर्बन्धन होता है, तो उसमें वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का अतिक्रमण आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट होता है। निःसंदिग्ध रूप से यह सच है कि विदेश जाने की बात किसी विशिष्ट मामले में वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के प्रयोग के लिए आवश्यक हो सकती है, किन्तु उससे वह वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के अधिकार का महत्वपूर्ण भाग नहीं हो जाता है। ऐसे प्रत्येक कार्यकलाप को, जो कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के प्रयोग के लिए आवश्यक हो, या जो कि ऐसे प्रयोग को सुविधाजनक बनाए या अर्थपूर्ण अथवा प्रभावी बनाए, मूल अधिकार की हैसियत तक इस प्रकार से ऊंचा नहीं उठाया जा सकता मानो कि वह वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के मूल अधिकार का भाग हो। अन्यथा व्यवहारतः प्रत्येक कार्यकलाप इस या उस मूल अधिकार का भाग हो जाएगा और, विभिन्न अनुज्ञेय निर्बन्धनों सहित, कतिपय अधिकारों को भी मूल अधिकार बनाने का उद्देश्य समाप्त हो जाएगा।

79. किन्तु पिटीशनर ने युनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट के कतिपय विनिश्चयों का बहुत ही जोर देकर अवलम्ब लिया है। पहला **कैण्ट** बनाम **डल्लस**[1] वाले मामले में किया गया विनिश्चय था। सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले में यह अधिकथित किया था कि यात्रा का अधिकार फिफ्थ अमेंडमेंट (पंचम संशोधन) द्वारा गारण्टीकृत है और यह अभिनिर्धारित किया कि सैक्रेटरी आफ स्टेट द्वारा पासपोर्ट से वंचित किया जाना अविधिमान्य है, क्योंकि कांग्रेस ने पासपोर्ट ऐक्ट, 1926 के अधीन सैक्रेटरी आफ स्टेट को इस बात के लिए प्राधिकृत नहीं किया है कि वह साम्यवादी दल के साथ सहयोजन करने के और उस सहयोजन से सम्बन्धित, शपथ-पत्र फाइल

---

1 357 यू० एस० 116; 2 लायर्स इडिशन सैकेण्ड 1204.

करने से इन्कार करने के आधार पर पासपोर्ट देने से इन्कार करे, और ऐसा विधायन सैक्रेटरी आफ स्टेट द्वारा उन आधारों पर पासपोर्ट देने से इन्कार करने के पूर्व आवश्यक है। इस विनिश्चय का सम्बन्ध किसी ऐसे विधान की विधिमान्यता से नहीं था जो कि पासपोर्ट जारी करने की बात को विनियमित करता है और न ही उसने यात्रा करने के ऐसे अधिकार को मान्यता दी थी, जैसाकि वह फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) के आधार पर था जो कि वाक्, याचिका देने और जमाव करने के स्वातन्त्र्य की संरक्षा करता है। हमारी समझ में यह बात नहीं आती है कि इस विनिश्चय से पिटीशनर को कैसे सहायता प्राप्त हो सकती है।

80. जिस दूसरे विनिश्चय का पिटीशनर की ओर से अवलम्ब लिया गया था, वह **अपथेकर** बनाम **सेक्रटरी ऑफ स्टेट**[1] वाला मामला था। जो प्रश्न इस मामले में अवधारण के लिए उत्पन्न हुआ था, वह सबवर्सिव ऐक्टीविटीज कंट्रोल ऐक्ट, 1950 की धारा 6 की सांविधानिक विधिमान्यता से सम्बन्धित था। यह धारा साम्यवादियों द्वारा पासपोर्टों के उपयोग को प्रतिषिद्ध करती थी, सबवर्सिव ऐक्टीविटीज कंट्रोल बोर्ड द्वारा धारा 7 के अधीन दिए गए अन्तिम रजिस्ट्रेशन का अनुसरण करते हुए और इस धारा की आज्ञा का अनुसरण करते हुए, स्टेट डिपार्टमेंट ने अपीलार्थी के विद्यमान पासपोर्ट को प्रतिसंहृत कर दिया था। सभी प्रशासनिक अनुपायों को लेने के बाद अपीलार्थियों ने जिला न्यायालय के समक्ष घोषणात्मक और व्यादेशात्मक अनुतोष प्राप्त करने के लिए वाद फाइल किया जिसने इस धारा की विधिमान्यता को कायम रखा। सीधे ही अपील करने पर सुप्रीम कोर्ट ने तीन के विरुद्ध छह के बहुमत से उस निर्णय को उलट दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि यह धारा अविधिमान्य है। सुप्रीम कोर्ट ने सबसे पहले यह मत व्यक्त किया कि विदेश में यात्रा करने का अधिकार फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) के "ड्यू प्रोसेस क्लॉज" (सम्यक प्रक्रिया सम्बन्धी खण्ड) द्वारा गारण्टीकृत नागरिक की स्वाधीनता का महत्वपूर्ण पहलू है और धारा 6 के अधिकार को सारवान रूप से निर्बन्धित करती है, और तब उसने न्यायिक पुनर्विलोकन का वह कड़ा मानक लागू किया जिसे उसने तब तक केवल उन मामलों को ही लागू किया था जिन को फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) के तथाकथित अधिमान्य स्वातन्त्र्य अन्तर्ग्रस्त थे अर्थात् यह कि "शासकीय प्रयोजन ऐसे

[1] 378 यू० एस० 500; 12 लॉयर्स एडिशन सैकेण्ड 992.

1978(1) eILR

साधनों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता जिनकी परिधि आवश्यक रूप से विस्तृत है और उसके द्वारा संरक्षित स्वातन्त्र्यों के क्षेत्र का अतिक्रमण होता है" सुप्रीम कोर्ट ने यह कसौटी लागू करके यह निष्कर्ष निकाला कि "यह धारा जरूरत से ज्यादा विस्तृत है और प्रत्यक्षतः असंवैधानिक है," क्योंकि उसने उस अपेक्षा का लोप कर दिया था कि व्यक्ति को साम्यवादी एकतन्त्रवादी, तानाशाही पद्धति स्थापित करने के लिए संगठनात्मक प्रयोजन का ज्ञान होना चाहिए, और उसने यात्रा पर लगाए गए निर्बन्धनों को व्यक्ति के यात्रा करने विषयक प्रयोजन से या उस क्षेत्र को, जहां कि जाना है, के सुरक्षा-संवेदनशीलता से सम्बद्ध करने की कोई भी कोशिश नहीं की। यह विनिश्चय न्यायालय द्वारा व्यक्त इस मत को छोड़कर इस दलील से संगत नहीं है कि, "यात्रा करने का स्वातन्त्र्य ऐसी सांविधानिक स्वाधीनता है जो कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के अधिकारों से निकट का सम्बन्ध रखती है।" किन्तु इस मत से भी कोई सहायता प्राप्त नहीं हो सकती है, क्योंकि विदेश में यात्रा करने के अधिकार के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह ऐसा अधिकार है जो कि फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) से उत्पन्न नहीं होता था। बल्कि फिफ्थ अमेंडमेन्ट (पंचम संशोधन) में गारण्टीकृत स्वाधीनता में से आनुमानिकतः उत्पन्न होता है और यह मत फर्स्ट अमेंडमेन्ट (प्रथम संशोधन) वाली कड़ी कसौटी ऐसे मामले को लागू करने के लिए समर्थन देने के लिए ही अभिप्रेत था, जिसमें विदेश जाने का अधिकार अन्तर्ग्रस्त हो।

81. पिटीशनर ने जो अन्तिम विनिश्चय प्रोद्धृत किया था, वह **जेमेल** बनाम **रस्क**[1] वाला मामला था। इस मामले में यह प्रश्न उत्पन्न किया था कि क्या सैक्रेटरी ऑफ स्टेट कानूनी रूप से यूनाईटेड स्टेट्स के नागरिकों के क्यूबा में यात्रा करने सम्बन्धी पासपोर्ट को विधिमान्य ठहराने से इन्कार करने के लिए प्राधिकृत था और यदि ऐसा है, तो क्या ऐसे प्राधिकार का प्रयोग सांविधानिक रूप से अनुज्ञेय था। न्यायालय ने तीन के विरुद्ध छह के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि क्यूबा की यात्रा करने पर जो प्रतिबन्ध था, वह पासपोर्ट ऐक्ट, 1926 की वास्तविक भाषा द्वारा प्राधिकृत था और यह कि ऐसा निर्बन्धन सांविधानिक है। चीफ जस्टिस वारेन ने बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया कि 1926 के पूर्व और उसके बाद दोनों ही प्रकार से प्रशासनिक

---

1 381 यू० एस० 1; 14 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179.

परिपाटी का ध्यान रखते हुए, क्षेत्र सम्बन्धी निर्बन्धन कानूनी रूप से प्राधिकृत है, और उससे जेमेल के सांविधानिक आक्षेपों पर विचार करने की आवश्यकता है। बहुमत की राय यह थी कि संचरण के स्वातन्त्र्य का अधिकार ऐसा अधिकार है जिसको फिफ्थ अमेंडमेंट (पंचम संशोधन) के 'स्वाधीनता' सम्बन्धी खण्ड की सुरक्षा प्राप्त है और यह कि सैक्रेटरी आफ स्टेट का क्यूबा की यात्रा को निर्बन्धित करके गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं घटने से बचाने की कोशिश करना न्यायोचित था, और उसने संक्षिप्ततः जेमेल की इस दलील को अस्वीकार कर दिया कि पासपोर्ट से वंचित करने के इस कार्य से फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) के अधिकारों का अतिलंघन होता है क्योंकि उसे क्यूबा की स्थिति के बारे में सीधे ही ज्ञान अर्जित करने से निवारित किया गया था। **कैण्ट** बनाम **डल्लस**[1] और **अपथेकर** बनाम **सैक्रेटरी आॅफ स्टेट**[2] वाले मामलों से इस आधार पर प्रभेद किया गया था कि "अपीलार्थियों के पासपोर्ट को विधिमान्य ठहराने से इन्कार करना उसको अभिव्यक्ति या संगम का फल नहीं है। अपीलार्थी इस बात के लिए विवश नहीं किया जा रहा है कि वह किसी संगठन की सदस्यता और यात्रा करने के स्वातन्त्र्य के बीच चुनाव करे। जस्टिस डगलस गोल्डबर्ग और ब्लैक ने अपना अलग-अलग मत व्यक्त करते हुए विसम्मत व्यक्त किया क्योंकि जस्टिस डगलस की राय का ही अवलम्ब लिया गया था; इसलिए हम अपना ध्यान उसी राय तक ही सीमित रख सकते हैं। जस्टिस डगलस ने **कैण्ट बनाम डल्लस**[1] वाले मामले में अपनाए गए दृष्टिकोण का अनुसरण किया और पासपोर्ट ऐक्ट, 1926 का यह निर्वचन करने से इन्कार कर दिया, कि वह सैक्रेटरी आफ स्टेट को क्यूबा की यात्रा करने पर निर्बन्धन लगाने की अनुज्ञा देता है। ऐसा करते हुए, विद्वान् न्यायाधीश ने यात्रा करने के अधिकार का फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) के अधिकारों के साथ उस के सम्बन्ध पर जोर दिया। उसने यह मत व्यक्त किया : "विदेश में और देश में ज्ञान प्राप्त करने का, दूसरों के साथ बातचीत करने का, उनसे परामर्श करने का, सामाजिक, भौतिक, राजनैतिक और अन्य बातों का पालन करने का अधिकार, व्यक्ति के स्वातन्त्र्य और प्रेस के स्वातन्त्र्य को अर्थ तथा सार प्रदान करता है और उसके बिना फर्स्ट अमेन्डमेंट के अधिकार प्रभावित होंगे, तथा उसने यह भी मत व्यक्त किया

---

[1] 357 यू० एस० 116; 2 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 1204.

[2] 378 यू० एस०-500, 12 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 992.

कि विदेश में यात्रा करने का स्वातन्त्र्य ऐसा अधिकार है जो "फर्स्ट अमेंडमेंट की गारंटियों के उपभोग के लिए परिमीय है ।" उसने यह मत व्यक्त करते हुए अपनी बात समाप्त की कि "यात्रा करने का अधिकार फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) की परिमा के भीतर है ।" और इसी कारण से "शांतिकाल में यात्रा करने के अधिकार पर जो निर्बन्धन लगाए जाते हैं, उनका उल्लेख विशिष्ट रूप से इस प्रकार किया जाना चाहिए कि फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) का अधिकार उसके द्वारा प्रवारित नहीं होता ।" स्पष्टतया, बहुमत द्वारा किए गए विनिश्चय से पिटीशनर को कोई भी सहायता प्राप्त नहीं होती है । बहुमत ने ठीक तरह से ही यह मत व्यक्त किया था कि **कैण्ट** बनाम **डल्लस**[1] और **अपथेकर** बनाम **सैक्रेटरी ऑफ स्टेट**[2] वाले मामलों में, पासपोर्ट को विधिमान्य ठहराने के सम्बन्ध में इन्कार करके संस्था के स्वातन्त्र्य में सीधे ही हस्तक्षेप किया गया था, क्योंकि अपीलार्थी से इस बात की अपेक्षा की गई थी कि वह संगठन की सदस्यता उस दशा में छोड़ दे, यदि वह पासपोर्ट का विधिमानयीकरण चाहता है । **जेमेल** बनाम **रस्क**[3] वाले मामले में ऐसी बात नहीं थी और बहुमत का विचार यह था कि यही कारण है कि फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) का अधिकार उसमें अन्तर्ग्रस्त नहीं था । स्पष्ट रूप से बहुमत का यह मत था कि यदि पासपोर्ट के वंचित किए जाने के कारण फर्स्ट अमेन्डमेंट (प्रथम संशोधन) के अधिकार पर, जैसे कि अभिव्यक्ति का या संस्था बनाने का स्वातन्त्र्य है, प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है, जैसे कि **कैण्ट** बनाम **डल्लस**[1] और **अपथेकर** बनाम **सैक्रेटरी ऑफ स्टेट**[2] वाले मामले में था, तो वह सांविधानिक रूप से अविधिमान्य होगा। बहुमत ने यह दलील स्वीकार नहीं की कि जानकारी एकत्र करने के लिए यात्रा करने का अधिकार स्वयं ही फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) का अधिकार है । जस्टिस डगलस ने विदेश में यात्रा करने के अधिकार को फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) वाले अधिकार के रूप में नहीं माना था, किन्तु यह अभिनिर्धारित किया था कि वह फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) में दी गई गारण्टियों के उपभोग के लिए परिमीय है, क्योंकि वह फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) के अधिकारों को अर्थ और सार प्रदान करता

---

1 357 यू० एस० 116; 2 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 1204.

2 378 यू० एस० 500; 12 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179.

3 381 यू० एस० 1; 14 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179.

है और उसके बिना, इन अधिकारों पर प्रभाव पड़ेगा। यही कारण है कि उसने अन्त में यह मत व्यक्त किया कि यात्रा करने के अधिकार पर लगाए गए निर्बन्धनों का उल्लेख विशिष्ट रूप से इस प्रकार किया जाना चाहिये जिससे कि प्रथम संशोधन का अधिकार प्रवारित न हो जाए या अन्य शब्दों में प्रथम संशोधन के अधिकार का प्रत्यक्ष अतिलंघन न हो। यदि ऐसा है, तो वे निर्बन्धन अब सांविधानिक रूप से अविधिमान्य होंगे, किन्तु अन्यथा नहीं। यह स्पष्ट है कि जस्टिस डगलस का अभिप्राय: यह अधिकथित करने का कभी भी नहीं था कि ऐसा अधिकार, जो कि फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) की परिमा में हैं, था यदि इसी बात को संक्षेप में व्यक्त किया जाए, वह परिमीय अधिकार है, प्रथम संशोधन के अधीन स्वयं गारण्टीकृत अधिकार ही है। विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित नहीं किया कि विदेश में यात्रा करने का अधिकार फर्स्ट अमेंडमेंट (प्रथम संशोधन) का अधिकार है। दोनों, बहुमत तथा जस्टिस डगलस के अनुसार भी, प्रत्येक मामले में जो प्रश्न पूछा जाना चाहिये वह यह है: यात्रा करने के अधिकार पर जो निर्बन्धन लगाया गया है, क्या वह ऐसा है जो कि प्रथम संशोधन के अधिकार में प्रत्यक्षतः हस्तक्षेप करता है? और यही वह कसौटी है जिसे न्यायालय ने मूल अधिकार का अतिलंघन अवधारित करते समय लागू की थी।

82. अतः हम इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि ऐसा परिमीय या सहवर्ती अधिकार, जो कि उल्लिखित मूल अधिकार के प्रयोग को सुविधाजनक बनाता है या उसे अर्थ और सार प्रदान करता है या उसके प्रयोग को प्रभावी बनाता है, ऐसा गारण्टीकृत अधिकार है जो कि उल्लिखित मूल अधिकार के भीतर आता है। इतनी सी बात, असंदिग्ध अर्थान्वयन के तौर पर, स्पष्ट है, किन्तु इसके अलावा इस न्यायालय का यह भी विनिश्चय है जो कि स्पष्टतः और इन शब्दों में इस निष्कर्ष का समर्थन करता है। वही विनिश्चय **आल इण्डिया बैंक एम्पलाइज एसोसिएशन** बनाम **नेशनल इण्डस्ट्रियल ट्राइब्युनल**[1] वाले मामले में किया गया था। वह विधान, जिसकी उस मामले में चुनौती दी गई थी, बैंककारी कम्पनी अधिनियम की धारा 34(क) था और उस पर इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि वह अनुच्छेद 19(1)(ग) का अतिक्रमण करती है।

---

[1] (1962) 3 एस० सी० आर० 269.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

धारा 34(क) का प्रभाव यह था कि कोई भी अधिकरण लेखा की किन्हीं पुस्तकों या अन्य दस्तावेजों को पेश करने या उसके निरीक्षण के लिए विवश नहीं कर सकता या किसी बैंक से यह अपेक्षा नहीं कर सकता कि वह कोई ऐसा कथन या जानकारी दे या प्रकट करे, यदि बैंककारी कम्पनी का यह दावा है कि ऐसे दस्तावेज या कथन या जानकारी ऐसी गोपनीय प्रकृति की है जो कि गुप्त आरक्षणों से या डूबे हुए तथा संदिग्ध ऋणों के लिए किए गए उपबन्ध से सम्बन्धित हो। यदि कोई विवाद लम्बित था और प्रश्न यह उत्पन्न हुआ था कि क्या आरक्षणों या अन्य उपबन्धों में से किसी रकम को किसी अधिकरण द्वारा विचार में लिया जाना चाहिए, तो अधिकरण ऐसा मामला भारत के रिजर्व बैंक को निर्दिष्ट कर सकता था, जिसके प्रमाण-पत्र को जो कि उस रकम के सम्बन्ध में था जिसको कि विचार में लिया जा सकता था, अन्तिम और निश्चायक बनाया गया था। यह स्वीकार किया गया कि धारा 34(क) कर्मकारों को संघ (यूनियन) बनाने से निवारित नहीं करती है या यह कि उनको ऐसा करने में कोई भी बाधा उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 19(1) (ग) के अधीन संरक्षित संस्था बनाने के अधिकार के साथ-साथ हीं यह गारण्टी भी है कि संस्था इस प्रयोजन को जिसके लिए वह बनाई गई थी, ऐसे आधार पर जो कि अनुच्छेद 19(4) में उपवर्णित सार्वजनिक व्यवस्था और सदाचार के परिरक्षण से सुसंगत हों हस्तक्षेप करने के सिवाए विधि द्वारा हस्तक्षेप किए बिना, प्रभावी रूप से सिद्ध करेगी। अन्य शब्दों में, दलील यह थी कि संघ (यूनियन) बनाने के स्वातन्त्र्य के साथ-साथ यह सहवर्ती अधिकार भी है कि ऐसे संघों (यूनियनों) को उस उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ होना चाहिये जिसके लिए उन्हें बनाया गया था। इस न्यायालय की न्यायपीठ ने सर्वसम्मति से इस दलील को अस्वीकार कर दिया। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि संघ (यूनियन) कर्मकारों तक ही निर्बन्धित नहीं है, यह कि नियोजकों के संघ भी लाभ कमाने की दृष्टि से बनाए जा सकते हैं और यह कि संघों (यूनियनों) के प्रभावी रूप से कार्य करने के लिए दी गई गारण्टी के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकलता है कि लाभ कमाने के उनके अधिकार पर निर्बन्धन, सार्वजनिक व्यवस्था या सदाचार के हितों में ही लगाए जा सकते हैं। ऐसा अर्थान्वयन अनुच्छेद 19 की युक्ति के और अनुच्छेद 19 (1) (ग) (6) के उपबन्ध के आधारिक रूप से प्रतिकूल होगा। संस्था बनाने के अधिकार पर जो

निर्बन्धन लगाए जा सकते थे, वे सार्वजनिक व्यवस्था और सदाचार के हित में लगाए गए निर्बन्धनों तक ही सीमित थे। किसी व्यापार, कारोबार वृत्ति या उपजीविका चलाने के अधिकार पर जो निर्बन्धन अधिरोपित किए जा सकते थे, वे सार्वजनिक हित में युक्तियुक्त निर्बन्धन थे और यदि किसी संस्था के प्रभावी रूप से कार्य करने के लिए दी गई गारण्टी उस अधिकार का भाग थी, तो किसी संस्था के कारोबार पर निर्बन्धन सार्वजनिक हित में अधिरोपित नहीं किए जा सकते थे। कर्मकारों की संस्था सामूहिक सौदेबाजी के अधिकार का और हड़ताल करने के अधिकार का दावा कर सकती है, किन्तु फिर भी हड़ताल करने के अधिकार को, विवक्षा द्वारा, संस्था बनाने के अधिकार के भाग के रूप में नहीं माना जा सकता था, क्योंकि यदि उसे ऐसा माना जाएगा, तो सार्वजनिक हित में उस अधिकार पर निर्बन्धन लगाना सम्भव नहीं होगा, जैसाकि औद्योगिक विवाद अधिनियम द्वारा किया जाता है, जो निर्बन्धन अनुच्छेद 19(6) के अधीन अनुज्ञेय होंगे, किन्तु अनुच्छेद 19(4) के अधीन अनुज्ञेय नहीं होंगे। अतः न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 19(1)(ग) द्वारा गारण्टीकृत संघ (यूनियन) बनाने के अधिकार के साथ-साथ यह सहवर्ती अधिकार नहीं है कि इस प्रकार से बनाए गए संघों (यूनियनों) को वह प्रयोजन सिद्ध करने में समर्थ होना चाहिए, जिसके लिए उन्हें अस्तित्व में लाया गया है, जिससे कि प्रयोजन के इस प्रकार से सिद्ध करने में विधि द्वारा किया गया कोई भी हस्तक्षेप असांविधानिक होगा, जब तक कि उसे अनुच्छेद 19(4) के अधीन न्यायोचित न ठहराया जा सके।

83. अतः विदेश जाने के अधिकार को इस प्रकार नहीं माना जा सकता कि वह परिमीय या सहवर्ती के अधिकार के सिद्धांत पर, अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत है। इस सिद्धांत को **आल इंडिया बैंक एम्पलाईज एसोसिएशन वाले मामले**[1] में बहुत जोर देकर अस्वीकार कर दिया गया है और हम उसे पुनरुज्जीवित करने की कोई भी कोशिश करने का साहस नहीं कर सकते हैं क्योंकि उससे अनुच्छेद 19(1) की युक्ति पूरी तरह से गड़बड़ा जाएगी तथा **आल इण्डिया एम्पलाईज एसोसिएशन वाले मामले**[1]

---
[1] (1962) 3 एस० सी० आर० 269.

में न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति राजगोपाल आयंगर के शब्दों को उद्धृत करना उचित होगा, अर्थात् यह कि "सहवर्ती अधिकारों के रूप में संकेन्द्रीय वृत्तों का सदैव विस्तार करने के तथा तत्प्रकार के परिणामस्वरूप अजीब स्थिति उत्पन्न होगी। इसी प्रकार के अन्य कारणों से, विदेश जाने के अधिकार को अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन गारण्टीकृत व्यापार, कारोबार, वृत्ति या उपजीविका चलाने के अधिकार के भाग के रूप में नहीं माना जा सकता। विदेश जाने का अधिकार अनुच्छेद 19(1) के किसी भी खण्ड के अधीन गारण्टीकृत अधिकार रूप से नहीं है, और धारा 10(3)(ग) के जिसके अधीन पासपोर्ट जब्त करके विदेश जाने के अधिकार पर निर्बन्धन अधिरोपित करने के लिए प्राधिकृत किया गया है, बारे में यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि वह इसलिये शून्य है, क्योंकि उससे अनुच्छेद 19(1)(क) या (छ) का अतिक्रमण होता है, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रभाव विदेश जाने के अधिकार पर पड़ता है, न कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य अधिकार पर या व्यापार, कारोबार, वृत्ति या उपजीविका चलाने के अधिकार पर पड़ता है।

धारा 10(3)(ग) के अधीन किसी देश की सांविधानिक अपेक्षा

84. किन्तु इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि धारा 19(3)(ग) के अधीन किया गया आदेश अनुच्छेद 19(1)(क) या (छ) का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने वाले आक्षेपित आदेश की सांविधानिक विधिमान्यता का विवेचन करते हुए, हमें यह मत व्यक्त करने का अवसर मिलेगा कि जहां कार्यवाही करने के लिए किसी प्राधिकारी को सशक्त करने वाला कानूनी उपबन्ध सांविधानिक रूप से विधिमान्य है वहां भी उसके अधीन की गई कार्यवाही मूल अधिकार के विरुद्ध हो सकती है, और उस स्थिति में, यद्यपि कानूनी उपबन्ध विधिमान्य है, तथापि वह कार्यवाही शून्य हो सकती है। अतः, यद्यपि धारा 10(3)(ग) विधिमान्य है, तथापि यह प्रश्न सदैव शेष रहेगा कि क्या उसके अधीन किया गया आदेश इस प्रकार से अविधिमान्य है जो कि मूल अधिकार का उल्लंघन करता है। किसी पासपोर्ट को जब्त करने वाले आदेश का प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रभाव, किसी विशिष्ट मामले में, यह हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप वह वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्

को या वृत्ति करने के अधिकार को न्यून करता है या छीनता है । और जहां ऐसा मामला है वहां वह आदेश तब तक अविधिमान्य होगा जब तक कि उसे अनुच्छेद 19(2) या अनुच्छेद 19(6) का संरक्षण प्राप्त न हो । उदाहरण के लिए ऐसे पायलट का मामला लीजिए, जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय उड़ान करने की अनुज्ञप्ति हो। अन्तर्राष्ट्रीय उड़ान उसकी वृत्ति है और यदि उसका पासपोर्ट जब्त किया जाता है, तो वह उसकी वृत्ति चलाना के अधिकार में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करना होगा और जब तक कि उस आदेश को अनुच्छेद 19(6) के अधीन सार्वजनिक हित के आधार पर न्यायोचित नहीं ठहरांया जाता, तब तक वह इस आधार पर शून्य होगा कि वह अनुच्छेद 19(1)(छ) के विरुद्ध है । दूसरा उदाहरण बाइबिल के ऐसे प्रचारक का लिया जा सकता है जिसने समस्त संसार में सभी लोगों को अपने धर्म का प्रचार करने के लिए अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया है और उस प्रयोजन के लिए उसने भिन्न-भिन्न देशों में संस्थाएं स्थापित की हैं। यदि उसके पासपोर्ट को जब्त करते हुए आदेश दिया जाता है, तो उससे वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ेगा और अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन उस आदेश की विधिमान्यता को दी गई चुनौती का उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकेगा, जब तक कि उसे अनुच्छेद 19(2) का संरक्षण प्राप्त न हो। हमने मात्र व्याख्या के तौर पर ही दो उदाहरण दिए हैं। अनेक ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जिनमें अधिरोपित निर्बन्धन स्पष्टतया विदेश जाने के अधिकार पर ही हो सकते हैं, किन्तु उसका प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य में या वृत्ति चलाने के अधिकार में हस्तक्षेप करना हो सकता है। एक संगीतज्ञ गाने के लिए, नृतक नृत्य करने के लिए, विजिटिंग प्रोफेसर अध्यापन के लिए और एक विद्वान् सम्मेलन और संगोष्ठी में भाग लेने के लिए विदेश जाना चाह सकता है। यदि ऐसे मामले में उसे उसके पासपोर्ट से वंचित किया जाता है या उसे जब्त किया जाता है, तो वह वाक् और अभिव्यक्ति के उसके स्वातन्त्र्य में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करना होगा। यदि किसी समाचार-पत्र के संवाददाता को विदेश में कोई काम सौंपा जाता है और उसे पासपोर्ट देने से इन्कार किया जाता है या उसका पासपोर्ट जब्त कर लिया जाता है तो यह उसकी वृति चलाने के उसके स्वातन्त्र्य में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होगा। अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं, किन्तु मुख्य मुद्दा यह है कि यद्यपि विदेश जाने का अधिकार मूल अधिकार नहीं होता

1978(1) eILR(PAT) SC 6

है, तथापि विदेश जाने के अधिकार से वन्चित करना, सत्यता और वस्तुतः वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य या उसकी वृत्ति चलाने के स्वातन्त्र्य को इस प्रकार निर्बन्धित करना हो सकता है जिससे कि अनुच्छेद 19(1)(क) या 19(1)(छ) का उल्लंघन होता है। ऐसे मामले में पासपोर्ट देने से इन्कार करना या उसे जब्त करना तब तक अविधिमान्य है जब तक कि उसे यथास्थिति अनुच्छेद 16 (2) या अनुच्छेद 19 (6) के अधीन न्यायोचित न ठहरा दिया जाए। पासपोर्ट धारा 10(3)(ग) के अधीन उस दशा में जब्त किया जा सकता है, यदि पासपोर्ट प्राधिकारी भारत की प्रभुसता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा, किसी विदेशी राज्य से भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में या साधारण जनता के हित में ऐसा करना आवश्यक समझता है। प्रथम तीनों प्रवर्ग वही हैं जो कि अनुच्छेद 19(2) में दिए गए हैं और उनमें से प्रत्येक, यद्यपि पृथक रूप से उल्लिखित है, "जन साधारण के हित में" मुख्य शीर्ष के भीतर उपशीर्ष है। "जन साधारण के हित में" अभिव्यक्ति विस्तृत अभिव्यक्ति है जिसके अन्तर्गत भारत की प्रभुसत्ता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा और विदेशी राज्य के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित सहित, साधारण जनता के सभी प्रकार के हित उसकी परिधि के भीतर आते हैं। अतः जब कि धारा 10(3)(ग) के अधीन कोई ऐसा आदेश किया जाता है जो कि उस उपबन्ध के निबन्धन के अनुरूप है, तो वह साधारण जनता के हित में होगा और यदि वह कोई वृत्ति चलाने के स्वातन्त्र्य को निर्बन्धित करता है, तो भी उसे अनुच्छेद 19(6) की संरक्षा प्राप्त होगी। किन्तु यदि धारा 19(3)(ग) के अधीन किया गया कोई भी आदेश वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का निर्बन्धन करता है, तो यह पर्याप्त नहीं होगा कि वह साधारण जनता के हितों में किया गया है। उसे उस अनुच्छेद की संरक्षा प्राप्त करने के लिए अनुच्छेद 19(2) के निबन्धनों के भीतर अवश्य ही आना चाहिए। यदि वह भारत की प्रभुसत्ता और अखण्डता के हित में या भारत की सुरक्षा के हित में या किसी विदेशी राज्य के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में किया जाता है, तो वह अनुच्छेद 19(2) की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है किन्तु यदि वह "सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार" के हित में किए जाने के सिवाय, साधारण जनता के किन्हीं अन्य हितों के लिए किया जाता है, तो उसे अनुच्छेद 19(2) की संरक्षा प्राप्त नहीं होगी। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि सार्वजनिक

व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित "जन साधारण के हित" हैं और वह धारा 10(3)(ग) के अन्तर्गत आएंग किन्तु "जनसाधारण के हित" अभिव्यक्ति, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, अधिक विस्तृत अभिव्यक्ति है और इसी कारण से इस दृष्टि से कि ऐसा कोई आदेश जो कि वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य को निर्बन्धित करते हुए धारा 10(3)(ग) के अधीन किया गया है, अनुच्छेद 19(1)(क) के विरुद्ध न हो, यह आवश्यक है कि ऐसे आदेश के सम्बन्ध में, धारा 10(3)(ग) में आई हुई "जनसाधारण के हित" अभिव्यक्ति का अर्थान्वियन इस प्रकार से किया जाए जिससे कि वह सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हितों तक ही सीमित रहे। यदि धारा 10(3)(ग) के अधीन किया गया कोई आदेश वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य को निर्बन्धित करता है, तो उसे विस्तृत अर्थ में साधारण जनता के हित में नहीं किया जाना चाहिए बल्कि अन्य तीन प्रवर्गों अर्थात् भारत की प्रभुसत्ता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा और किसी विदेशी राज्य के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में करने के अलावा, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार और सदाचार के हित में किया जाना चाहिए। यदि ऐसे आदेश के बारे में यह दर्शित नहीं किया जा सकता है कि वह सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में किया गया है, तो वह न केवल अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिलंघन करेगा, बल्कि धारा 10(3)(ग) द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के बाहर भी होगा।

आक्षेपित आदेश की सांविधानिक विधिमान्यता

85. अब हम इस विवेचन की रोशनी में इस बात पर विचार कर सकते हैं कि केन्द्रीय सरकार द्वारा पिटीशनर के पासपोर्ट को धारा 10(3)(ग) के अधीन जब्त करते हुए किए गए आक्षेपित आदेश में कोई सांविधानिक या विधिक कमजोरी है। इस आक्षेपित आदेश की विधिमान्यता के विरुद्ध आक्षेप करने का प्रथम आधार यह था कि वह "दूसरे पक्ष को भी सुनो" उक्ति में समाविष्ट नैसर्गिक न्याय के नियम का उल्लंघन करते हुए किया गया है और इसी कारण से वह अकृत और शून्य है। अनुच्छेद 21 के प्रति निर्देश करते हुए धारा 10(3)(ग) की सांविधानिक विधिमान्यता का विवेचन करते हुए हमने इस आधार की परीक्षा पहले ही कर ली है और यह दर्शित कर दिया है कि भारत सरकार की ओर से

विद्वान् महान्यायवादी ने जो कथन किया है, उसने इस आक्षेपित आदेश को "दूसरे पक्ष को भी सुनो" नियम के अनुपालन की बुराई से मुक्त कर दिया है। इसके बारे में और अधिक कहना आवश्यक नहीं है। पिटीशनर की ओर से चुनौती देने के जिस दूसरे आधार पर जोर दिया गया वह यह था कि आक्षेपित आदेश का प्रभाव यह है कि उसे अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन पिटीशनर को गारण्टीकृत वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के अधिकार पर और अनुच्छेद 19(छ) के अधीन प्रदत्त किसी पत्रकार की वृत्ति चलाने के अधिकार पर भी अयुक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित हो जाता है, क्योंकि उसमें पिटीशनर के पासपोर्ट को समय की किसी सीमा के बिना न्यायाधिपति जे० सी० शाह की अध्यक्षता में गठित जांच आयोग के सम्बन्ध में उसकी जरूरत पड़ने की मात्र संभावना के आधार पर जब्त करने की कोशिश की गई है। यह दलील दी गई कि केन्द्रीय सरकार के लिए इस बात के सम्बन्ध में अपनी राय व्यक्त करना सक्षम नहीं था कि क्या जांच आयोग के समक्ष चलने वाली कार्यवाही के सम्बन्ध में पिटीशनर की जरूरत पड़ने की सम्भाव्यता है। वह जांच आयोग के निर्णय के भीतर का एक मामला होगा और यह विनिश्चित करना जांच आयोग पर पूर्णतया निर्भर होगा कि क्या उसकी उपस्थिति आयोग के समक्ष चलने वाली कार्यवाही में आवश्यक है या नहीं। पिटीशनर का पासपोर्ट, केन्द्रीय सरकार के मात्र इस मत के आधार पर कि जांच आयोग के समक्ष चलने वाली कार्यवाही के सम्बन्ध में पिटीशनर की आवश्यकता पड़ने की सम्भाव्यता है, पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने वाला आक्षेपित आदेश, इन परिस्थितियों में, स्पष्टतया अयुक्तियुक्त है और इसी कारण से वह अनुच्छेद 19(1)(क) और (छ) का अतिक्रमण करता है। चुनौती के इस आधार पर पिटीशनर की ओर से बहुत ही गम्भीरता के साथ बल दिया गया और वही बात आदिलशहरयार की ओर से भी कही गई जिसने इस पिटीशन की सुनवाई के समय मध्यक्षेप किया था, किन्तु हम यह नहीं समझते हैं कि उसमें कोई सार है। यह सच है कि हमें सीधे ही यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मात्र इसलिए कि किन्हीं विनिर्दिष्ट परिस्थितियों में कार्यवाही करने के लिए किसी प्राधिकारी को सशक्त करने वाला कानूनी उपबन्ध सांविधानिक रूप से विधिमान्य है, वह किसी मूल अधिकार के विरुद्ध नहीं है, उस प्राधिकारी को तब तक ऐसा आदेश, जैसा कि वह पसन्द करता है, करने के लिए असीमित अधिकार नहीं देता

है जब तक कि वह कानूनी उपबन्ध द्वारा अधिकथित परिधि के भीतर है। कानूनी उपबन्ध के अधीन किए गए प्रत्येक आदेश को कानूनी उपबन्ध द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के भीतर अवश्य ही होना चाहिए, किन्तु उसे मूल अधिकारों की कसौटी पर भी खरा उतरना चाहिए। संसद् के बारे में यह उपधारणा नहीं की जा सकती है कि उसका आशय मूल अधिकारों का उल्लंघन करते हुए कार्य करने वाले किसी प्राधिकारी को शक्ति प्रदान करना था। शक्ति के प्रत्येक कानूनी अनुदान में अन्तर्निहित आधारिक सांविधानिक उपधारणा यह है कि ऐसे प्राधिकारी को, जिसको शक्ति प्रदत्त की गई हो, सांविधानिक रूप से कार्य करना चाहिए, और उसे किसी भी मूल अधिकार का अतिक्रमण करते हुए कार्य नहीं करना चाहिए। यह बात आवश्यक नहीं है किन्तु यदि आवश्यकता हो, तो वह **नरेन्द्र कुमार और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय में मिल सकता है। जो यह प्रश्न उस मामले में उत्पन्न हुआ था कि क्या नान फेरस मेटल कंट्रोल आर्डर (अलौहीय धातु नियंत्रण आदेश), 1958 के जो कि आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 की धारा 3 के अधीन किया गया था, खण्ड (3) और (4) सांविधानिक रूप से विधिमान्य थे। पिटीशनरों की ओर से जिस दलील पर जोर दिया गया, वह यह थी कि इन खण्डों द्वारा अनुच्छेद 19(1)(च) और (छ) के अधीन गारण्टीकृत मूल अधिकारों पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित किए गए थे और इस दलील के उत्तर में उसके गुणागुण के अलावा सरकार की ओर से प्रारम्भिक प्रकृति की यह दलील पेश की गई "कि चूंकि पिटीशनरों ने आवश्यक वस्तु अधिनियम की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी है और उन्होंने केन्द्रीय सरकार की इस शक्ति को स्वीकार किया है कि वह अधिनियम की धारा 3 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए आदेश कर सकते हैं, इसलिए न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह इस बात पर विचार करे कि क्या अलौहीय धातु नियंत्रण करने में सरकार द्वारा बनाई गई विधि संविधान के अधीन मूल अधिकारों में से किसी का अतिक्रमण करती है।" इस बात पर जोर दिया गया कि जहां तक कि आदेश अधिनियम की धारा 3 के उपबन्धों के परे नहीं जाते हैं, वहां तक "उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह वैध विधि है और संविधान के अधीन मूल अधिकारों के

---

1 (1960) 2 एस० सी० आर० 375.

अतिलंघन के किसी भी प्रश्न पर विचार करना मुद्दे से पूर्णतया परे है।" न्यायाधिपति दास गुप्ता ने न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए इस दलील के बारे में यह मत व्यक्त किया था कि वह "अतिशयोक्ति पूर्ण दलील" है और यह कहा गया कि "ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण दलील अस्वीकृत किए जाने मात्र के लायक है"। विद्वान न्यायाधीश ने इस दलील को अस्वीकृत करने के लिए निम्नलिखित शब्दों में कारण बताते हुए यह मत व्यक्त किया था--

> "यदि यह सोचने के लिए कोई कारण था कि अधिनियम की धारा 3 केन्द्रीय सरकार को ऐसी बात करने की शक्ति प्रदत्त करती है जो कि संविधान के विरुद्ध है या ऐसी बात करने की शक्ति प्रदत्त करती है जो कि संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में से किसी का अतिक्रमण करती है, तो मात्र वह तथ्य यह अभिनिर्धारित करने के लिए पर्याप्त और अनाक्षेपणीय आधार होगा, कि धारा स्वयं ही शून्य है क्योंकि वह संविधान के अधिकारातीत है। जब कि इस मामले में कोई ऐसी चुनौती नहीं दी गई है कि अधिनियम की धारा 3 संविधान के अधिकारातीत है, तो वह इस धारणा पर आधारित है कि उसके द्वारा अनुदत्त शक्तियां संविधान का अतिक्रमण नहीं करतीं हैं और केन्द्रीय सरकार को ऐसी कोई बात करने की शक्ति नहीं देती है जिसे संविधान प्रतिषिद्ध करता है। यह उपधारण करना न्यायसंगत और उचित है कि इस अधिनियम को पारित करते समय, इन शब्दों का प्रयोग करने में अर्थात् 'उसके उत्पादन, प्रदाय और वितरण को विनियमित या प्रतिषिद्ध करने के लिए तथा व्यापार और वाणिज्य को विनियमित करने या प्रतिषिद्ध करने के लिए आदेश द्वारा उपबन्ध कर सकेगा', संसद् का कदाचित् यह आशय नहीं हो सकता था कि उसके अन्तर्गत ऐसे उपबन्ध करने की शक्ति आती हैं, भले ही वह संविधान का उल्लंघन क्यों न करती हो। यह तथ्य कि 'संविधान के अनुच्छेदों के उपबन्धों के अनुसार' शब्दों का उपयोग इस धारा में नहीं किया गया है, किसी महत्व का नहीं है। संविधान के प्रवृत्त होने के बाद किसी भी दिन संसद् द्वारा किए गए प्रत्येक उपबन्ध और बनाई गई प्रत्येक विधि में आवश्यक विवक्षा द्वारा, इन शब्दों का अर्थान्वयन उसी प्रकार से किया जाना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि जब

धारा 3 किसी आवश्यक वस्तु के उत्पादन, प्रदाय और वितरण के विनियम या प्रतिषेध के लिए उपबन्ध करने की शक्ति प्रदत्त करती है, तो किसी विनियमन या प्रतिषेध करने की ऐसी शक्ति वहां तक देती है, जहां तक कि ऐसा विनियमन या प्रतिषेध भारत के संविधान तथा अनुदत्त मूल अधिकारों में से किसी का भी अतिक्रमण नहीं करता है।"

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि आक्षेपित आदेश धारा 10 (3)(ग) के पदों के भीतर हो सकता है तथापि उसे किसी भी मूल अधिकार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए और यदि वह ऐसा करता है, तो वह शून्य होगा। यदि पासपोर्ट को जब्त करने वाला आदेश सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में किया जाता है, तो उसके द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन उतना विस्तृत अतिक्रमपूर्ण या उस रिष्टि या बुराई का अननुपातिक हो सकता है जिसे दूर करने की कोशिश की गई है, यह कि उसे अयुक्तियुक्त माना जा सकता है और उस स्थिति में यदि उस आदेश का प्रत्यक्ष और आवश्यक परिणाम वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य को न्यून करना या छीनना है तो उससे अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण होगा और उससे अनुच्छेद 19(2) का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा और वही स्थिति वहां भी होगी जहां वह आदेश जनसाधारण के हित में है किन्तु वह किसी वृति के चलाने सम्बन्धी स्वातन्त्र्य का प्रत्यक्षतः और आवश्यक रूप से अतिलंघन करता है। दूसरी दशा में, वह अनुच्छेद 19(1)(छ) का उल्लंघन करेगा और उसे अनुच्छेद 19(6) में अधिनियमित उपबन्धों की संरक्षा नहीं प्राप्त होगी।

86. किन्तु हम यह नहीं समझते हैं कि प्रस्तुत मामले में आक्षेपित आदेश न तो अनुच्छेद 19(1)(क) और न ही अनुच्छेद 19(1)(छ) का अतिक्रमण करता है। आक्षेपित आदेश जो बात करता है, वह पिटीशनर के पासपोर्ट का जब्त करना है और उसके द्वारा वह उसे विदेश जाने से निवारित करता है और उस तारीख को जब कि आक्षेपित आदेश किया गया था, ऐसा दर्शित करने के लिए कोई बात मौजूद नहीं है कि पिटीशनर का, वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार का या पत्रकार के रूप में अपनी वृति चलाने के अधिकार का प्रयोग करने के प्रयोजन के लिए विदेश जाने का आशय था। आक्षेपित आदेश का प्रत्यक्ष और आवश्यक

परिणाम विदेश जाने के उसके अधिकार के प्रयोग में बाधा उत्पन्न करना था, न कि वाक् और अभिव्यक्ति के उसके स्वातन्त्र्य में या अपनी वृत्ति चलाने के उसके अधिकार में हस्तक्षेप करना। किन्तु हमें यह मत व्यक्त करने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं है कि यदि भविष्य में किसी भी समय पिटीशनर वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के अधिकार का प्रयोग करने के प्रयोजन के लिए या पत्रकार के रूप में अपनी वृत्ति चलाने के लिए विदेश जाना चाहती है और वह केन्द्रीय सरकार से पासपोर्ट निर्मुक्त करने के लिए आवेदन करती है तो निश्चित रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि क्या प्रथमतः निर्मुक्त करने से इन्कार करने की बात या, अन्य शब्दों में, पासपोर्ट की जब्ती को बनाए रखने की बात सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में है, और द्वितीयतः साधारण जनता के हित में है, और इस प्रकार से अधिरोपित निर्बन्धन ऐसे युक्तियुक्त हैं जिससे कि वे अनुच्छेद 19(2) और अनुच्छेद 19(6) के संरक्षण के भीतर आ जाएंगे। किन्तु इस समय वह प्रश्न हमारे समक्ष नहीं है।

87. हम यह मत व्यक्त कर सकते हैं कि यदि पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने वाला आपेक्षित आदेश उसके वाक् और अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के अधिकार का या पत्रकार के रूप में उसकी वृत्ति चलाने के उसके अधिकार का अतिक्रमण करता है, तो उसे अनुच्छेद 19(2) या अनुच्छेद 19 (6) की संरक्षा प्राप्त नहीं होगी, किन्तु अनिश्चितकाल के लिए पासपोर्ट की ज़ब्ती स्पष्ट रूप से अयुक्तियुक्त निर्बन्धन होगी। भारत संघ की दलील यह थी कि यद्यपि वह कालावधि जिसके लिए आक्षेपित आदेश को प्रवृत्त होना था, स्पष्ट शब्दों में विनिर्दिष्ट नहीं की गई थी, तथापि यह बात स्पष्ट थी कि उसका आशय यह था कि वह जांच आयोग की अस्तित्वावधि की सहविस्तारी है, क्योंकि जब्त करने का कारण यह था कि पिटीशनर की उपस्थिति जांच आयोग के समक्ष चलने वाली कार्रवाईयों के सम्बन्ध में अपेक्षित होना सम्भाव्य थी और क्योंकि जांच आयोग की अवधि, 31 दिसम्बर, 1977 तक ही सीमित थी, इसलिए पासपोर्ट की जब्ती उस तारीख के बाद जारी नहीं रह सकती और इसी कारण से यह नहीं कहा जाएगा कि आक्षेपित आदेश को अनिश्चित समय तक के लिए प्रवृत्त रहना था। यह सब सच है कि पिटीशनर का पासपोर्ट इस आधार पर ज़ब्त नहीं किया गया था कि जांच आयोग के समक्ष चल रही कार्रवाईयों के सम्बन्ध में उसकी उपस्थिति का अपेक्षित होना सम्भाव्य

है और यह कि जांच आयोग को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए जो प्रारम्भिक समय-सीमा निश्चित की गई थी, उस तक उसे रिपोर्ट देनी थी किन्तु सरकार समय की सीमा कभी भी बढ़ा सकती थी और यह कि पिछले 25 वर्षों के दौरान इस देश में स्थापित किए गए अनेक जांच आयोगों के अनुभव से यह बात स्पष्ट है कि कोई भी जांच आयोग प्रारम्भ में निश्चित समय के भीतर अपनी पूर्ण रिपोर्ट देने में समर्थ नहीं हुआ है। न्यायाधिपति शाह की अध्यक्षता में जांच आयोग की अस्तित्वावधि के सम्बन्ध में जो भी आशा उस समय रही हो जब कि वह आक्षेपित आदेश किया गया था, यह बात अब स्पष्ट है कि 31 दिसम्बर, 1977 तक, जो कि प्रारम्भ में समय-सीमा निश्चित की गई थी, उसे अपनी रिपोर्ट पूरी करनी सम्भव नहीं है और वास्तव में उसकी अवधि बढ़ाकर 31 मई, 1978 कर दी गई है। जिस कालावधि के लिए पासपोर्ट जब्त किया गया है, उसे इन परिस्थितियों में, सीमित और निश्चित नहीं कहा जा सकता, और उसे अनिश्चित समय तक बढ़ाया जा सकता है। उससे आक्षेपित आदेश स्पष्ट रूप से अयुक्तियुक्त हो जाएगा और केन्द्रीय सरकार की ओर से उपसंजात विद्वान महा न्यायवादी ने इसी कारण से यह कथन किया कि उस दशा में यदि केन्द्रीय सरकार पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने का विनिश्चय की पुष्टि पिटीशनर की सुनवाई करने के बाद कर देती है, तो "जब्ती की अस्तित्वावधि को विनिश्चय की तारीख से जो कि पिटीशनर के अभ्यावेदन पर किया जाए, छह मास की कालावधि से अधिक नहीं होगी।" केन्द्रीय सरकार के प्रति न्याय करते हुए यह अवश्य ही कहना पड़ेगा कि यह आधार अपनाना बहुत ही युक्तियुक्त था। क्योंकि विधि के नियम द्वारा शासित किसी भी लोकतान्त्रिक समाज में सरकार से यह आशा की जाती है कि उसे न केवल सांविधानिक और वैध रूप से कार्य करना चाहिए बल्कि नागरिक के प्रति उचित रूप से और न्यायसंगत रूप से भी कार्य करना चाहिए। हमें आशा और विश्वास है कि भविष्य में भी जब कभी किसी व्यक्ति का पासपोर्ट धारा 19 (3) (ग) के अधीन जब्त किया जाएगा, उस समय वह जब्ती केवल उस विनिर्दिष्ट कालावधि तक के लिए ही होगी, जो कि अयुक्तियुक्त रूप से लम्बित कालावधि न हो, भले ही किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करने की बात उसमें अन्तर्ग्रस्त न हो।

88. इस अन्तिम दलील में भी, कि आक्षेपित आदेश, अनुच्छेद 19 (1) (क) और (छ) से संगत रहते हुए, केन्द्रीय सरकार की मात्र इस राय पर आधारित नहीं हो सकता था कि पिटीशनर की उपस्थिति जांच आयोग के समक्ष चलने वाली कार्रवाईयों के सम्बन्ध में अपेक्षित होना सम्भाव्य है, कोई बल नहीं है। यह सच है कि अन्ततः यह विनिश्चित करना जांच आयोग पर निर्भर है कि क्या पिटीशनर की उपस्थिति उसके तथ्य-अन्वेषण के उद्देश्य में सहायता करने की दृष्टि से अपेक्षित है, किन्तु केन्द्रीय सरकार, जिसने जांच-आयोग गठित किया है और उसके निर्देश-निबन्धन अधिकथित किए हैं, युक्तियुक्त पूर्वानुमान के साथ निश्चित रूप से यह कहने में समर्थ होगी कि क्या उसके लिए जांच-आयोग द्वारा अपेक्षित किया जाना सम्भाव्य है। यह बात कि क्या वह वास्तव में अपेक्षित है, विनिश्चित करना जांच आयोग पर निर्भर होगी, किन्तु इस बात का निर्णय कि क्या उसका अपेक्षित होना सम्भाव्य है, केन्द्रीय सरकार निश्चित रूप से कर सकती है। जबकि केन्द्रीय सरकार जांच आयोग नियुक्त करती है, तो वह शून्यता में कार्यवाही नहीं करती है। वह अपने समक्ष कुछ ऐसी सामग्री रखने के लिए आबद्ध है जिसके आधार पर वह यह विनिश्चय करती है कि लोक महत्व की ऐसी निश्चित सामग्री मौजूद है जिसकी जांच होने की आवश्यकता है, और वह उस प्रयोजन के लिए जांच-आयोग नियुक्त करती है, अतः केन्द्रीय सरकार यह कहने की स्थिति में होगी कि क्या पिटीशनर का जांच आयोग के समक्ष चलनेवाली कार्यवाही के सम्बन्ध में अपेक्षित होना सम्भाव्य है। यह सम्भव है कि अन्ततः जब कि जांच आयोग इस जांच में आगे कार्यवाही करता है, तो वह यह निष्कर्ष निकाले कि यह सम्भाव्यता मात्र के प्रक्रम में होगा और यह कि वह बात केन्द्रीय सरकार के निर्णय पर ही न्यायसंगत रूप से छोड़ी जा सकती है, अतः आक्षेपित आदेश की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता है और अनुच्छेद 19 (1) (क) और (छ) पर आधारित चुनौती को अवश्य ही असफल होना चाहिए।

क्या आक्षेपित आदेश धारा 10(3) (ग) की शक्तियों के भीतर आता है?

89. जिस अन्तिम प्रश्न पर विचार करना रह गया है, वह यह है कि क्या आक्षेपित आदेश धारा 10 (3) (ग) द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के भीतर है, आक्षेपित आदेश स्पष्टतया, प्रत्यक्ष रूप से, सार्वजनिक हित में

अर्थात् साधारण जनता के हित में किया जाना तात्पर्यित है, और इसी कारण से उसकी विधिमान्यता के सम्बन्ध में उसी आधार पर निर्णय किया जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि धारा 19 (3) (ग) के स्पष्ट स्वाभाविक अर्थान्वयन के आधार पर, यह अवधारित करने की बात पासपोर्ट प्राधिकारी पर छोड़ दी गई है कि क्या साधारण जनता के हित में पासपोर्ट जब्त करना आवश्यक है। किन्तु पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा पासपोर्ट जब्त करते हुए किया गया आदेश इस आधार पर न्यायिक पुर्नावलोकन के अध्यधीन है कि वह आदेश दुर्भावनापूर्ण है या यह कि आदेश करने के जो कारण बताए गए हैं, वे असंगत हैं या यह कि उनकी साधारण जनता के हित से कोई भी संगति नहीं है या यह है कि वे कदाचित साधारण जनता के हित में उस आदेश के करने की बात को समर्थन नहीं दे सकते हैं। संघ की ओर से इस सम्बन्ध में कोई भी विवाद नहीं उठाया गया और वास्तव में धारा 10 की उपधारा (5) को देखते हुए विवाद किया भी नहीं जा सकता था कि, कतिपय आपवादिक मामलों में किए जाने के सिवाए, जिनमें से यह मामला स्वीकारतः एक था, पासपोर्ट प्राधिकारी पासपोर्ट जब्त करते हुए, आदेश करने के लिए कारण बताने के लिए आबद्ध है और यद्यपि प्रस्तुत मामले में, केन्द्रीय सरकार ने प्रारम्भ में यह दावा करते हुए कारण बताने के सम्बन्ध में अनिच्छा प्रकट की थी कि ऐसा करना साधारण जनता के हित में नहीं है, फिर भी उसने उस समय यह महसूस किया कि यह स्थिति पूरी तरह से अस्वीकार्य है, जब कि उसने उत्तर में शपथ-पत्र फाइल किया और वे कारण प्रकट किए जो कि उस समय अभिलिखित किए गए थे, जब कि आक्षेपित आदेश पारित किया गया था। ये कारण ये थे कि केन्द्रीय सरकार के मतानुसार, पिटीशनर ऐसे मामले में अन्तर्वलित है जो कि आपात-कालीन स्थिति के दौरान की गई ज्यादतियों के और मारुति से सम्बन्धित मामलों के सम्बन्ध में तथा उसकी सहयोजित कम्पनियों की जांच के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार द्वारा गठित जांच आयोग की परिधि के भीतर आते हैं और केन्द्रीय सरकार का मत यह था कि पिटीशनर को इन आयोगों के समक्ष साक्ष्य देने के लिए भारत में उपलब्ध होना चाहिए। और उसे उन जांच आयोगों के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर होना चाहिए और केन्द्रीय सरकार द्वारा उस दिन प्राप्त रिपोर्ट के अनुसार, उसका भारत छोड़ना सम्भाव्य था। पिटीशनर की दलील यह थी कि ये कारण

1978(1) eILR(PAT) SC 6

साधारण जनता के हित में आक्षेपित आदेश करने की बात को न्यायोचित नहीं ठहराते हैं क्योंकि इन कारणों का धारा 10 (3) (ग) में यथाप्रयुक्त उस अभिव्यक्ति के अर्थान्तर्गत साधारण जनता के हित से कोई भी युक्ति-युक्त सम्बन्ध नहीं है। पिटीशनर की दलील यह थी कि "साधारण जनता के हित" अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन कानून की दृष्टि से उस सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए और चूंकि पासपोर्ट जारी करने की शक्ति ऐसी शक्ति है जो कि विदेश कार्य से सम्बन्धित है, इसलिए "साधारण जनता के हित" अभिव्यक्ति को इस प्रकार से समझा जाना चाहिए मानो कि वह ऐसे विषय के प्रति निर्देश करती है जिसका विदेश कार्य से कुछ सम्बन्ध हो और उसे अधिक विस्तृत अर्थ नहीं दिया जा सकता है। अतः "साधारण जनता के हित" अभिव्यक्ति की परिधि के भीतर ऐसी स्थिति नहीं आती है जिसमें कि किसी व्यक्ति की उपस्थिति जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए अपेक्षित होती है। यह दलील स्पष्टतया गलत है क्योंकि उसके द्वारा "साधारण जनता के हित" अभिव्यक्ति के विस्तार और परिधि को न्यून करने की कोशिश की गई जो कि ऐसी अभिव्यक्ति है जैसा कि मान्यता प्राप्त विधिक अर्थव्याप्ति है जो कि अनुच्छेद 19(5) तथा अनुच्छेद 19 (6) में मौजूद है। जैसा कि इस न्यायालय ने **रोहतास इण्डस्ट्रीज लिमिटेड** बनाम **एस० डी० अग्रवाल और एक अन्य**[1] वाले मामले में मत व्यक्त किया था, यह सच है कि "सदैव ऐसी दृष्टि सीमा होती है जिसके भीतर किसी कानून का प्रवर्तन आशयित होता है।" उससे किसी कानून का ऐसी रीति में अर्थान्वयन करने की बात न्यायोचित नहीं ठहरती है, जो कि उनकी भाषा के द्वारा या ऐसी परिसीमा लागू करके, जिसका न तो भाषा में और न ही कानूनी उपबन्ध के सन्दर्भ में कोई आधार है, उसके विस्तार और अर्थ को संकुचित करना उचित नहीं है। इसके अलावा धारा 10 (3) के खण्ड (घ), (ङ) और (ज) से स्पष्ट है कि इस धारा में अनेक ऐसे आधार मौजूद हैं जिनका सम्बन्ध विदेश कार्य से नहीं, अतः हम यह नहीं समझते कि पिटीशनर का "साधारण जनता के हित" अभिव्यक्ति को विदेश कार्य से सम्बन्धित मामले तक ही सीमित करने की कोशिश करना न्यायोचित है।

90. इसके बाद पिटीशनर ने यह दलील दी कि यह अपेक्षा कि उसे जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए उपलभ्य रहना चाहिए,

---

1 (1969) 3 एस० सी० आर० 108=[1969] 3 उम० नि० प० 462.

"जनसाधारण के हित में" अभिव्यक्ति आक्षेपित आदेश करने की बात को न्यायोचित नहीं ठहराती । पिटीशनर के मतानुसार, धारा 10 (3) में खण्ड (ङ) और खण्ड (ज) अन्तर्विष्ट थे जिनमें ऐसे मामलों के सम्बन्ध में विनिर्दिष्ट रूप से उपबन्ध किया गया है जिनमें कोई व्यक्ति किसी विधिक कार्यवाही के सम्बन्ध में अपेक्षित होता है और इन दो विनिर्दिष्ट उपबन्धों की अधिनियमिति में स्पष्ट रूप से यह विधायी आशय दर्शित होता था कि "जनसाधारण के हित" आधार के अधीन धारा 10 (3) (ग) में साधारण शक्ति से यह अभिप्रेत नहीं था कि उसका प्रयोग ऐसे मामलों में पासपोर्ट जब्त करने के लिए किया जाना चाहिए जिनमें कोई व्यक्ति किसी विधिक कार्यवाही के सम्बन्ध में अपेक्षित होता है । अतः केन्द्रीय सरकार पिटीशनर के पासपोर्ट को इस आधार पर जब्त करने के प्रयोजन के लिए धारा 10 (3) (ग) के अधीन इस साधारण शक्ति का सहारा लेने की हकदार नहीं है, कि जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए उसकी अपेक्षा है । ऐसे मामलों में पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त करने की शक्ति या तो धारा 10 (3) (ज) के अधीन प्राप्त हो सकती है या उसका बिल्कुल ही अस्तित्व नहीं है । यह दलील भी कायम किए जाने के योग्य नहीं है और उसे अवश्य ही अस्वीकृत किया जाना चाहिए । इसमें "एक बात का वर्णन कर देने से दूसरी बात विवक्षित रूप से अपवर्जित हो जाती है" *(expressio uniusest exclusio ulterius)* वाले का अवलम्ब लेने की कोशिश की गई है और वह इस बात पर आधारित है कि धारा 10 (3) के खण्ड (ङ) और (ज) उन मामलों के सम्बन्ध में सर्वांगीण हैं जिनमें कोई व्यक्ति किसी ऐसी कार्यवाही के सम्बन्ध में, चाहे वह न्यायालय के समक्ष या जांच आयोग के समक्ष हो, अपेक्षित है, और ऐसे मामले में जिनमें कोई व्यक्ति जांच आयोग के समक्ष चलने वाली कार्यवाही के सम्बन्ध में अपेक्षित है, धारा 10 (3) (ग) के अधीन साधारण शक्ति का सहारा नहीं लिया जा सकता है । किन्तु इस बात की ओर ध्यान रखा जाना चाहिए कि यह मामला नहीं है जिसमें यह सिद्धान्त "एक बात का वर्णन कर देने से दूसरी बात विवक्षित रूप से अपवर्जित हो जाती है" लागू होता है । धारा 10 (3) (ग) में ऐसे मामलों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है जिसमें कार्यवाहियां किसी दण्ड न्यायालय के समक्ष लम्बित हों, जब कि धारा 10 (3) (ज) में ऐसी स्थिति के सम्बन्ध में

अनुध्यात हैं जिसमें पासपोर्ट के धारक के उपसंजात होने के लिए वारण्ट या समन या गिरफ्तारी के लिए वारण्ट किसी न्यायालय द्वारा जारी किया गया है या ऐसा आदेश जो कि पासपोर्ट के धारक के भारत से प्रस्थान करने की बात को प्रतिषिद्ध करता है ऐसे न्यायालय द्वारा किया गया है। इन उपबन्धों में से किसी में भी ऐसे मामले के सम्बन्ध में उपबन्ध नहीं किया गया है जिसमें कोई कार्यवाही जांच आयोग के समक्ष लम्बित हो और आयोग ने पासपोर्ट के धारक की हाजिरी के लिए समन या वारण्ट अभी भी जारी न किया हो। दलील के प्रयोजन के लिए हम यह मान सकते हैं कि जांच आयोग धारा 10 (3) (ज) के प्रयोजन के लिए 'न्यायालय' है, किन्तु फिर भी, इस प्रकार का मामला धारा 10 (3) (ज) के अन्तर्गत नहीं आएगा और धारा 10 (3) (ङ) किसी भी स्थिति में लागू नहीं होगी। ऐसा मामला धारा 10 (3) (ग) के अधीन साधारण शक्ति के अधीन स्पष्ट रूप से उस दशा में आएगा यदि यह दर्शित किया जा सके कि जांच आयोग के समक्ष चलने वाली किसी कार्यवाही के सम्बन्ध में पासपोर्ट के धारक की आवश्यकता साधारण जनता के हित में है। निश्चित रूप से केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह आयोग के समक्ष पासपोर्ट धारक की हाजिरी के लिए, यथास्थिति समन या वारण्ट जारी करने के लिए जांच आयोग को आवेदन करे और यदि समन या वारण्ट इस प्रकार से जारी किया जाता है, तो यह सम्भव है कि केन्द्रीय सरकार धारा 10 (3) (ज) के अधीन पासपोर्ट जब्त करने की हकदार हो जाए। किन्तु उससे यह अभिप्रेत नहीं है कि समन या वारण्ट जारी करने की स्थिति आने से पूर्व, केन्द्रीय सरकार किसी व्यक्ति के पासपोर्ट को उस दशा में जब्त नहीं कर सकती है, यदि अन्यथा यह दर्शित कर दिया जाए कि ऐसा करना साधारण जनता के हित में है। धारा 10 (3) (ङ) और (ज) में विनिर्दिष्ट प्रकार की दो स्थितियों के सम्बन्ध में ही उपबन्ध किया गया है, किन्तु असंख्य ऐसी अन्य स्थितियां, जिनके बारे में पूर्वानुमान लगाना सम्भव नहीं हो सकता या ऐसे प्रवर्ग हो सकते हैं, जिनमें सार्वजनिक हित में यह अपेक्षा हो सकती है कि पासपोर्ट जब्त किया जाना चाहिए और ऐसी स्थितियों का मुकाबला धारा 10 (3) (ग) में अधिनियमित साधारण उपबन्धों के अधीन ही किया जाना चाहिए। यह सच है कि आधारिक मानव अधिकार में हस्तक्षेप करने सम्बन्धी यह शक्ति प्रचण्ड है, किन्तु यह याद रखना चाहिए कि विधान मण्डल ने यह शक्ति सार्वजनिक हित

1978(1) eILR(PAT) SC 6

में प्रदत्त की है और हमें इस सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं है कि इसका उपयोग बहुत ही कम किया जाएगा और वह भी बहुत ही सावधानी के साथ तथा सोच-विचार करने के बाद ही किया जाएगा और जहां तक संभव हो, किसी व्यक्ति के पासपोर्ट को मात्र इस आधार पर जब्त नहीं किया जाएगा कि वह किसी कार्यवाही के सम्बन्ध में अपेक्षित है, जब तक कि वह मामला धारा 10 (3) (ङ) या धारा 10 (3) (ज) की परिधि के भीतर न लाया जाए। धनी बनाम जोन्स[1] वाले मामले में लार्ड डेनिंग द्वारा की गई अन्तिम टिप्पणियों में जो विचार प्रगट किया जा सकता है जिसमें विद्वान मास्टर आफ रोल्स ने यह मत व्यक्त किया था "इंग्लैंड की विधि किसी व्यक्ति के संचरण की स्वाधीनता को इतना अधिक महत्व देती है कि कठोरतम आधारों पर करने के सिवाए, उसमें बाधा नहीं उत्पन्न की जानी है या उसे निवारित नहीं किया जाना है।" इस स्वाधीनता को हमारे देश में भी उसी प्रकार से महत्व दिया गया है और हमें विश्वास है कि आधारिक मानव मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध सरकार इसका सम्मान करेगी।

91. हमें पिटीशनर की दूसरी दलील के सम्बन्ध में विचार करना होगा, यद्यपि हम यह बात अवश्य ही स्वीकार करते हैं कि हमारे लिए उसे समझना कुछ कठिन है। पिटीशनर ने इस बात पर जोर दिया कि धारा 10 (3) (ग) के अधीन किसी पासपोर्ट को जब्त करने के लिए सार्वजनिक हित वर्तमान समय में वास्तव में विद्यमान होना चाहिए और भविष्य में उत्पन्न होने वाले सार्वजनिक हित की सम्भाव्यता मात्र पासपोर्ट को जब्त करने का कोई भी आधार नहीं होगी। हम पिटीशनर से पूरी तरह से सहमत हैं कि पासपोर्ट को जब्त करने वाला आदेश पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा केवल तभी किया जा सकता है यदि वास्तव में ऐसा करना जनसाधारण के हित में हो और यह पर्याप्त नहीं है कि आदेश के करने से भविष्य में जनसाधारण का हित साधन होना सम्भाव्य है। किन्तु प्रस्तुत मामले में मात्र जांच इस आधार पर कि जनसाधारण का भविष्य में हित साधन सम्भाव्य है, वह आदेश केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं किया गया था। आक्षेपित आदेश इसलिए किया गया था, क्योंकि, केन्द्रीय सरकार की राय में पिटीशनर की उपस्थिति जांच-आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए आवश्यक थी और केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त रिपोर्ट के अनुसार उसका

---

[1] (1970) 1 क्यू० बी० 693.

भारत से बाहर जाना सम्भाव्य था और यह कि उससे किसी सीमा तक उन जांचों के प्रयोजन समाप्त हो सकते थे या उसमें बाधा उत्पन्न हो सकती थी, जो कि जांच आयोग द्वारा की जा रही थी।

92. उसके बाद पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई कि विदेश मंत्री ने जिन्होंने केन्द्रीय सरकार की ओर से आक्षेपित आदेश किया था, अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं किया और इसी कारण से आक्षेपित आदेश अवैध है। हमें इस दलील के लिए कोई भी आधार या न्यायौचित्य दिखाई नहीं पड़ता है। उसके उत्तर में प्रस्तुत शपथ-पत्र में यह कथन किया गया है कि विदेश मंत्री ने सुसंगत सामग्री के प्रति और इस गोपनीय जानकारी के प्रति, जो कि आसूचना के स्रोतों से प्राप्त हुई थी, कि इस बात की सम्भाव्यता है कि पिटीशनर देश से बाहर जाने की कोशिश कर सकती है, अपनी बुद्धि का प्रयोग किया था और तभी विदेश मंत्री ने आक्षेपित आदेश किया था। वास्तव में गृह मंत्रालय ने विदेश मंत्रालय के पास 9 मई, 1977 को ही ऐसे व्यक्तियों की सूची प्रस्तुत कर दी थी जिनकी उपस्थिति उनके अन्तर्वलन या सम्बन्ध या परिस्थिति या विगत की पूर्ववृत्तियों को देखते हुए, जांच आयोग द्वारा की जाने वाली जांचों के सम्बन्ध में आपेक्षित होना सम्भाव्य था और पिटीशनर का नाम इस सूची में शामिल था। गृह मंत्रालय ने विदेश मंत्रालय को इस बात की सूचना भी दी थी कि चूंकि जांच आयोग सार्वजनिक हित में जांच कर रहा है, इसलिये सार्वजनिक हित की बात इस सूची में उल्लिखित व्यक्तियों के पासपोर्टों को जब्त करने के लिए धारा 10(3) (ग) का सहारा लेने के लिए न्यायोचित ठहराएगी। विदेश मंत्री ने गृह मंत्रालय की इस टिप्पण पर विचार किया था और उस टिप्पण में दिए गए इस सुझाव के बावजूद, इस सूची में उल्लिखित उन व्यक्तियों में से केवल 11 व्यक्तियों के पासपोर्टों को जब्त करने के आदेश दिए और पिटीशनर के पासपोर्ट के सम्बन्ध में कोई भी कार्यवाही नहीं की गई थी। पहली जुलाई, 1977 को ही, जब कि विदेश मंत्री को यह गोपनीय जानकारी प्राप्त हुई कि पिटीशनर का देश से बाहर जाने की कोशिश करना सम्भाव्य है, सुसंगत सामग्री के प्रति अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के बाद और इस गोपनीय जानकारी को विचार में लेते हुए उन्होंने यह आक्षेपित आदेश किया। अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि विदेश मंत्री ने अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं किया और आक्षेपित आदेश यंत्रवत् किया।

1978(1) eILR(PAT) SC 6

93. पिटीशनर ने अन्त में यह दलील दी कि यह कहना सही नहीं है कि पिटीशनर का जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए अपेक्षित होना सम्भाव्य है। यह कहा गया कि पिटीशनर का आपातकाल की किन्हीं ज्यादतियों से कोई भी सम्बन्ध नहीं था और यह कि उसका सम्बन्ध मारुति या उसके सहयोजित समुत्थानों से भी किसी भी प्रकार का नहीं था और इसी कारण से उसके पास जांच आयोग के समक्ष देने के लिए, कदाचित, कोई भी साक्ष्य नहीं हो सकता था। किन्तु यह ऐसा मामला नहीं है जिसका अन्वेषण करने के लिए न्यायालय से प्रार्थना की जा सकती है। यह विनिश्चित करना न्यायालय पर निर्भर नहीं है कि क्या पिटीशनर की उपस्थिति का जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए अपेक्षित होना सम्भाव्य है। सरकार, जिसने कि जांच आयोग गठित किया है, अपने समक्ष वाली सामग्री का ध्यान रखते हुए, यह जानने की स्थिति में सर्वाधिक होगी कि क्या पिटीशनर की उपस्थिति का अपेक्षित होना सम्भाव्य है। यह हो सकता है कि उसकी उपस्थिति अन्त में कतई अपेक्षित न हो, किन्तु इस प्रक्रम में प्रश्न मात्र यह है कि क्या उसकी उपस्थिति का अपेक्षित होना सम्भाव्य है और जहां तक कि उसका सम्बन्ध है, हम यह नहीं समझते हैं कि सरकार ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसे इतना अयुक्तियुक्त या विपर्यस्त माना जा सके कि हम उस पर आधारित आक्षेपित आदेश को यह कह कर अभिखण्डित कर दें कि ऐसा करना शक्ति का मनमाना प्रयोग है।

94. अतः हमें केन्द्रीय सरकार द्वारा किए गए आक्षेपित आदेश में हस्तक्षेप करने के लिए कोई भी कारण दिखाई नहीं पड़ता है। किन्तु हम, पासपोर्ट देने से इन्कार करने या उसे जब्त करने या रद्द करने की शक्ति का प्रयोग करते समय, पासपोर्ट प्राधिकारी को सावधान रहने के लिए कहना चाहते हैं। पासपोर्ट प्राधिकारी यह स्मरण करके अच्छा ही करेगा कि यह यूनिवर्सल डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइट्स (मानव अधिकार की विश्वव्यापी घोषणा) के अनुच्छेद 13 में ऐसा मान्यता प्राप्त आधारिक मानव अधिकार है, जिसमें पासपोर्ट प्राधिकारी उस समय हस्तक्षेप करता है जब कि वह पासपोर्ट देने से इन्कार करता है या उसे जब्त करता है या उसे रद्द करता है। यह ऐसा अत्यधिक मूल्यवान अधिकार है जो कि, मानव के आध्यात्मिक आयाम के पहलू के रूप में,

दैहिक स्वाधीनता का भाग है, और उसमें हलकेपन के साथ हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए । ऐसे मामले अज्ञात नहीं हैं जिनमें लोगों को उस विचार के कारण जो कि उनके थे, उन मतों के कारण जो कि उन्होंने व्यक्त किए थे या उन राजनैतिक विश्वासों या आर्थिक विचारधाराओं के कारण जो कि उनकी थीं, विदेश नहीं जाने दिया गया । यह आशा की जाती है कि ऐसे मामले ऐसी सरकार के अधीन जो कि स्वतन्त्रता और स्वाधीनता को कायम करने के लिए सांविधानिक रूप से प्रतिबद्ध है, दुबारा नहीं होंगे किन्तु सभी समयों पर यह याद रखना उचित है कि शाश्वत सतर्कता संविधान की कीमत है, क्योंकि इतिहास से यह दर्शित होता है कि सदैव ऐसे अमूर्त और मायावी अनधिकार ही जो कि ऊपर से अच्छे उद्देश्य के लिए किए जाते हैं अप्रत्यक्ष रूप से, किन्तु निश्चित रूप से स्वाधीनता की बुनियादों को खोखली बना देते हैं।

95. विद्वान महान्यायवादी ने जो कथन किया है, उसको देखते हुए, और जिसके प्रति निर्णय में पहले ही निर्देश किया जा चुका है, हम यह आवश्यक नहीं समझते हैं कि आक्षेपित आदेश में औपचारिक रूप से हस्तक्षेप किया जाए । तदनुसार, हम कोई औपचारिक आदेश पारित किए बिना रिट पिटीशन का निपटारा करते हैं । खर्चे के सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं दिया जाता है ।

न्यायाधिपति वी० आर० कृष्ण अय्यर के मतानुसार ।

न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर

96. अपने विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति भगवती के निर्णय में अन्तर्विष्ट बहस और निष्कर्ष के साथ मेरी सहमति ही इसे अनुपूरक समझने के लिए पर्याप्त है और यह निर्णय एक प्रकार से फालतू है । किन्तु दूसरे अर्थों में ऐसा नहीं है जहां कि विधि की विधिमान्यता, जो कि केन्द्रीय कार्यपालिका को व्यापक शक्तियां प्रदान करती है, जिनसे कि वे हमारे जैसी बहु प्रधान पद्धति में जनता को जीवन प्रदान करने वाली कुछ स्वाधीनताओं को सारगर्भित रूप से संकटापन्न बनाता है । जहां कि हमारी पद्धति आक्षेपणीय है और ऐसी दशा में तो और भी ऐसा होता है जब कि आधार नवीन हो और विषय जनता के लिए अधिक संख्या में संवर्धक महत्व का हो—जैसे-जैसे भारतीय, देश-देशान्तर में, भ्रमण करने

की आदतों को ग्रहण करते हैं और विदेशी पर्यटन के लाभों का फ़ायदा उठाते हैं जिस प्रकार कि हमारे पैतृकों ने कार्यान्वित रूप से भारत को विश्व सम्बन्धी सांस्कृतिक तथा वाणिज्यिक मानचित्र पर रखा था। भारत इसलिए भारत है क्योंकि भारतीयों ने, जो हमारे पूर्वज थे, वाणिज्य, आध्यात्मवाद और तात्विकता के लिए व्यापक संसार का दौरा इस बात का ध्यान रखे बिना किया था कि हमारी भौतिक अथवा मानसिक सीमाएं क्या हैं। और जब विचारों तथा माल के सम्बन्ध में स्वतंत्र व्यापार की यह कीमती परम्परा, जिसके अन्तर्गत संगम तथा अभिव्यक्ति, बहिर्गमन तथा आगमन की पद्धति भी आती है, जो अब मूलभूत मानविक ऊंचाइयों के रूप में प्रस्फुटित हो चुकी है, उसके बारे में यह अभिकथन किया जाता है कि वह ह्यूबरिक प्राधिकार द्वारा शृंखलाबद्ध हो चुकी है, तो मेरी संवेदनशीलता मेरी निस्तब्धता के पर्दे को उठा देती है। जब वाक्-स्वातंत्र्य पर और बहिर्गमन के अधिकार पर अनुचित नियंत्रण अन्यायोचित हो, तो उन पर लगाया गया अन्यायोचित रूप से पकड़ने का आरोप पासपोर्ट को जब्त करके कार्यपालक शक्ति के द्वारा लगाया जाता है। तथापि, अपनी पृथक् राय में से केवल मोटे तौर पर पृष्ठभूमि का खाका खींचना चाहूंगा, और मोटे तौर पर ही बड़े-बड़े मुद्दों का संकेत करना चाहूंगा और मेरे विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति भगवती द्वारा सुचारु रूप से फोटोचित्र में इधर-उधर परिवर्तन करना चाहूंगा यदि मैं रंगीन और सादर रूप से उनके निर्णय का समर्थन कर सकूं।

97. इस बात को याद रखें कि गणतंत्रात्मक देशों ने भी एक ओर कार्यपालिक विधिविहीनता तथा स्वतंत्रता का आच्छादन महसूस किया है और दूसरी ओर बड़े-बड़े करोड़पतियों तथा गड़बड़ पैदा करने वाले व्यक्तियों ने इन स्वतंत्रताओं का दुरुपयोग किया है और तत्पश्चात् संविधान से न्यायाधीशों को प्राप्त होने वाले सम्मान, जो कि सरकार के प्रति आवश्यक आदर से भी ऊंचे होते हैं और जहां तक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है इसे देखते हुए तथा प्रभावशील कार्यवाही पर विचार करते हुए महान अधिकारों के उपभोग को नीचा दिखाना होता है। इस न्यायालय ने सांसारिक रूप से विधि अधिकथित की है।

98. हमारे समक्ष एक ऐसा विधान है जिसके द्वारा बाहर के देशों में यात्रा विनियमित की जाती है। प्रश्न यह है कि क्या यह भागतः

निबन्धनों को अध्यारोहित करती है ? विधिपूर्वक अवैधता नियम का रूप धारण कर लेती है यदि विधिविहीन विधान को दूर न किया जाए । हमारी न्याय-सम्बन्धी व्यवस्था में यदि कोई कानून शून्य हो तो क्या संविधान और उसका देख-रेख करने वाले चुपचाप बैठे रहेंगे अथवा क्या वैधता की रेखाएं स्पष्टतापूर्वक घोषित की जाएंगी जिससे कि विधिमान्य सिद्धान्तों का पालन सुगम तथा सुनिश्चित हो जाए ?

99. हमारा सम्बन्ध सीधे पिटीशनर के पासपोर्ट को अनिश्चित रूप से गतिहीन बना देने से है, जैसा कि पूर्ण रूप से श्री जस्टिस भगवती के निर्णय में पूर्णतया स्पष्ट किया गया है, और इस कार्यवाही का कारण विचित्र रूप से दोषी पर छाया हुआ है और साक्षात्कार के अधिकार का उत्तर सारवान रूप से उससे विधारित कर लिया गया है तथा इस विचित्र गोपनीयता को "लोक हित" (पब्लिक इंट्रैस्ट) का नाम दिया गया है । जहां तक अच्छी सरकारों का सम्बन्ध है कागजी पर्दे उसके साथ मेल नहीं खाते हैं । तथा कानून के रंग-रूप के अधीन किसी के आधारों को अत्यन्त व्यापक बनाना स्वतंत्र समाज एवं लोकप्रिय राज्य के लिए अत्यधिक रक्त-पीत कला है । जैसे ही हमने विद्वान् महा अटर्नी द्वारा बिना किसी हिचकिचाहट के प्रस्तुत की गई दलीलों को देखा वैसे ही प्रश्न पैदा हुआ : इसलिए इन बातों को छिपा दिया गया है । 'लोक हित' अभिव्यक्ति कभी-कभी एक उचित प्रलोभन के रूप में आती है जिससे कि जनता से ऐसी बातें छिपाई जाती हैं जबकि उन्हें यह जानने का अधिकार होता है जो कि अन्त में उचित प्रतीत होता है, किन्तु अन्ततः उनमें बदला लेने की भावना होती है । चूंकि पासपोर्ट विधि की शाखा में एकमात्र पासपोर्ट किसी न्यायालय की अधिकारिता के भीतर आता है जो कि आधारभूत स्वतंत्रता का भाग है, इसलिए प्रश्न यह है कि पासपोर्ट भाग 3 की आधारभूत स्वतंत्रता के भंग में क्या सम्बन्ध है ? पासपोर्ट ऐक्ट, 1957 के मूल उपबन्धों के वांच्छित प्रभाव तथा प्रत्यक्ष उद्देश्य की परिधि तथा विस्तार क्या है ? क्या वे असंवैधानिक अनुच्छेद 21, 19 तथा 14 द्वारा दी गई गारंटियों में से किसी गारंटी का उल्लंघन करते हैं ? क्या आक्षेपकृत धारा 10, विशेष रूप से धारा 10(3)(ग) ऐसे विहित की जा सकती है कि उसे संविधान के अनुकूल बनाया जा सके ? क्या कोई भाग अधिकारातीत है और यदि ऐसा है

तो क्यों ? अन्त में यह गारन्टी देते हुए कि अधिनियम साधार है क्या उल्लंघनकारी आदेश विधि-विरुद्ध है ? रिट पिटीशन में विवाद्यकों की परिधि क्या विधिज्ञ परिषद् में पुनः उठाई गई थी, क्या वह गम्भीर थी, अतिव्याप्त थी और तुलनात्मक ज्ञान द्वारा सजीव, और विनिश्चायक विद्वत्ता द्वारा युक्तियुक्त थी ? स्वतंत्रता के सीमांकन और उनका अन्त राष्ट्रीय अखण्डता की आवश्यकताएं और रुझान, अभिरक्षा और सार्वभौमिकता, जनसाधारण के हित, लोक व्यवस्था तथा इसी प्रकार के आंकड़े अवसरों पर विधि सम्बन्धी विवाद्यकों के रूप में होते हैं । और ऐसी स्थितियों में, न्यायालय का कोई दलील न देना राष्ट्र के लिए उथल-पुथल का केन्द्र बन जाता है । वास्तव में, जबकि कठिन मामलों में विधिविरोधी व्यवस्था बन्द हो जाती है, विधिविरुद्ध मामले उच्च विधि को धुंधला बना देते हैं और न्यायालयों को चाहिए कि वे उससे सतर्क रहें ।

100. जीवन और स्वतंत्रता के बारे में विधि सम्बन्धी वादविवादों में प्रक्रम का केन्द्र आवश्यक रूप से हमारे सर्वोपरि संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत साधारणतया आना चाहिए, जिसमें कि जोरदार रूप से तथा संक्षिप्त ढंग से एवं विधिकता पर बल देते हुए समादेश को इस प्रकार कहा गया है—

> "21. **अपराधों के लिए दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण**
>
> किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार से वंचित न किया जाएगा ।"

राष्ट्रीय मांग-पत्र में प्रयुक्त सूक्ष्म वाक्यांश विस्तृत अर्थों में विद्यमान होते हैं जिनके साथ आधारभूत विधि का ज्वलंत प्रकाश रहता है । हमारे प्रयोजनों के लिए मूल धारणाएं "दैहिक स्वाधीनता" और "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" हैं । अब हम दैहिक स्वाधीनता पर अनुज्ञेय निर्बन्धनों पर विचार करेंगे जिनमें से एक पहलू यह है कि देश से बाहर जाने का अधिकार है । दैहिक स्वाधीनता के विषय की उदात्त परिधि हमारे दायरे के अन्तर्गत आनी चाहिए यदि हमें सांविधानिक परिसीमा के साथ न्याय करना है जो कि सम्मत रूप से उसके प्रयोग पर अधिरोपित किये

जा सकते हैं। संक्षेप में ऐसी बात को कहते हुए हमारे आधारभूत दस्तावेज के (तथा उससे पूर्व आने वाले दस्तावेजों के) जिनमें से बहुत से राष्ट्र स्वतंत्रता के लिए लड़ाई में अग्रतम पंक्तियों में से थे उदात्त रूप से मानववादी थे और वे अत्यन्त आध्यात्मिक तथा अत्यन्त निरपेक्ष ऊंचे मूल्यों द्वारा भरपूर तथा क्रान्तिकारी भावनाओं को धारण किए हुए थे और सर्वोपरि अनुभवनात्मक रूप से वे इस बात से जागरूक थे कि भारतीय बहिर्गमन कर रहे हैं और उनकी उपनिवेशवादी रूप से जांच-पड़ताल करनी चाहिए और ऐतिहासिक रूप से स्वतंत्रता के लिए लड़ाई चूंकि विदेशी भूमियों से की जा रही है इसलिए स्वतंत्रता के लिए लड़ाई असंविदात्मक है और उनका दस्तावेज हमारी आस्ति के रूप में है।

101. यात्रा सम्बन्धी विधि का इतिहास क्या है जो कि तर्क द्वारा प्रज्वलित है ? हमारे भूतकाल की जड़ें उन यात्राओं तक पहुंची हुई हैं जो कि हमारी संस्कृति तथा वाणिज्य से भरपूर है और समुद्र पार जाना और पर्वतों को लांघना ऐसा है कि इससे भारत तथा व्यापक संसार के बीच परस्पर मेलजोल हो जाता है। यह परम्परा, जो कि उस देश के सम्बन्ध में थी जिसे सोने की चिड़िया कहा जाता था, भागतः भारत में यात्राओं के रूप में थी और भागतः भारत से बहिर्गमन के रूप में। यह दोतरफा आवागमन था जिसके बारे में नालंदा और बाहर के स्थानों पर ही नहीं बल्कि उलान डाटोर तक आवागमन होता था। हमारा साहित्य और हमारी कला हमारी यात्रा और विधि के बारे में भी अटूट साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं और यह सिलसिला 2000 वर्षों से चला आ रहा है, इसमें बाहर के देशों में यात्राओं का सिलसिला था। उदाहरणार्थ कौटिल्य के दिनों में (321-290 ईस्वी पूर्व) पासपोर्ट अधीक्षक हुआ करता था जो कि प्रति माशा एक पासपोर्ट की दर पर पासपोर्ट जारी किया करता था। इसके अलावा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पासपोर्ट सम्बन्धी विधि के बारे में अतिरिक्त ब्यौरे दिए गए हैं।

102. वास्तव में, इस विषय को भूगोल-सांस्कृतिक तथा विधिक नृशास्त्रविज्ञान तथा आधुनिक इतिहास, आने-जाने की स्वतंत्रता तथा तत्सम्बद्ध बातों--पासपोर्ट की संख्या--यूनानी, रोमक, इजराइली, चीनी, फारसी और अन्य सभ्यताओं के दृष्टिकोण से प्रवृत्त रही हैं। उनके विचार में, प्रत्येक का यह अधिकार है कि वह अपने देश को दैहिक

स्वाधीनता के तत्व के रूप में देखे। उन्होंने विधि का सारांश इस प्रकार दिया था —

> "हम प्रत्येक एथनवासी को उस स्वाधीनता से, जो हम उसे अनुज्ञात करते हैं, यह भी घोषित करते हैं कि जब वह वयस्क हो चुका हो और उसने देश के तौर-तरीके देख लिए हों, हमारे बारे में जानकारी प्राप्त कर ली हो, तो वह जहां चाहे वहां जा कर रह सकता है और अपने साथ अपना माल मत्ता ले जा सकता है। हमारी विधियों में से कोई भी विधि उसे न तो प्रतिषिद्ध करेगी और न ही उसमें हस्तक्षेप करेगी। जो कोई भी व्यक्ति हमें पसन्द नहीं करता है और न ही हमारे नगर को, वह किसी ऐसे उपनिवेश में चला जाए जहां अथवा किसी ऐसे नगर में जाकर इच्छानुसार रह सकता है और अपनी सम्पत्ति को अपने पास रख सकता है।" (प्लैटो, डायालाग्स)

रनीमेड की चरागाहों में 1215 ईस्वी से लेकर जब महाविशेषाधिकार (मैगनाकार्टा) द्वारा साम्राज्य की सीमाओं से बाहर जाने की स्वतंत्रता की पुष्टि हो गई थी ब्लैक स्टोन के समय तक जबकि सामान्य विधि द्वारा प्रत्येक मनुष्य को यह इजाजत थी कि वह किसी भी ऐच्छिक कार्य हेतु साम्राज्य से बाहर चला जाए, और इसके लिए सम्राट की इजाजत भी अभिप्राप्त न करे। लॉर्ड डिपलाक ने डी० ए० पी० बनाम भगवान[1] में पृष्ठ 74-वी पर यह कथन किया था कि 1962 से पूर्व किसी भी ब्रिटिश निवासी को सामान्य विधि के अनुसार यह अधिकार प्राप्त था कि वह संयुक्त साम्राज्य में किसी हिचकिचाहट अथवा रुकावट के बिना जहां भी चाहे चला जाए और वहां उतनी देर तक बसा रहे जब तक कि उसकी इच्छा हो (इन्टरनेशनल एण्ड कम्पेरेटिव लॉ क्वार्टरली, खण्ड 23, जुलाई 1974, पृष्ठ 646)। गनी बनाम जोन्स[2] वाले मामले के विनिश्चय पर्यन्त लॉर्ड डैनिंग ने यह प्रकथन किया था; "किसी भी व्यक्ति के स्वच्छन्दतापूर्वक आने-जाने के बारे में इंगलैंड की विधि द्वारा इतना अधिक महत्व दिया जाता है कि उसे तब तक न तो रोका जा सकता है और न ही निवारित किया जा सकता है जब तक कि उसके लिए

---

1 (1972) ए० सी० 60.

2 (1970) क्यू० बी० 693, 709.

कोई सुनिश्चित आधार विद्यमान न हों।" (आई० एण्ड सी० एल० क्वार्टरली, पूर्वोक्त, पृष्ठ 646) "फ्रीडम अन्डर दि लॉ" नामक पुस्तक में लॉर्ड डेनिंग ने 'दैहिक स्वाधीनता' (पर्सनल फ्रीडम) नामक उपशीर्षक के अधीन यह सम्प्रेक्षण किया है—

> "पहले तो मैं अपने पदों की परिभाषा बतला दूं। दैहिक स्वाधीनता से मेरा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक विधि का अनुसरण करने वाला नागरिक जो भी सोचेगा वह उसके बारे में कहेगा और किसी हिचकिचाहट अथवा रुकावट के बिना अपने विधिपूर्वक अवसरों पर एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जहाँ चाहे जाएगा। जो बड़े-बडे परिवर्तन अन्य स्वाधीनताओं में हुए हैं उनके बावजूद उनमें यही स्वाधीनता हमारे देश में बराबर बनी हुई है।"

'फ्रीडम, दि इंडिवीजुअल एण्ड दि लॉ' नामक पुस्तक में प्रोफेसर स्ट्रीट ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया था। प्रोफेसर एच० डब्ल्यू० आर० वाडे और प्रोफेसर हुड फिलिप्स ने इस उदारपूर्वक दृष्टिकोण को दोहराया है (देखिए इन्टरनेशनल एण्ड कम्पैरेटिव लॉ क्वार्टरली पूर्वोक्त 646)। और न्यायाधिपति डगलस ने पिछले दशक में उदात्तपूर्ण भाषा में जो कि **अपथेकर के मामले**[1] में विधिशास्त्र सम्बन्धी यात्रा के आधार (बेसिक्स आफ ट्रैवल जूरिसप्रूडेन्स) को परिष्कृत करते हुए पुनः कथन किया था—

> "आने-जाने की स्वतंत्रता हमारे स्वतंत्र समाज के लिए अत्यावश्यक है, अन्यथा वह एक दूसरे से पृथक रहेगा। एकत्रित होने के अधिकार तथा संगम के अधिकार के समान वह प्रायः अन्य सभी अधिकारों को सार्थक बनाता है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, अध्ययन, विचार-विमर्श, खोज, परिवर्तन, सम्प्रेषण और विचार भी आ जाते हैं। यदि एक बार यात्रा सम्बन्धी अधिकार में रुकावट डाल दी जाए तो इससे अन्य सभी अधिकारों को हानि होगी जैसे कि किसी व्यक्ति पर करफ्यू लगाना अथवा गृह-निरोध (होम डिटैन्शन) का लगाया जाना।

1 378 यू० एस० 500- 12 लॉयर्स इडिशन, सैकेण्ड 992.

निस्संदेह, अमेरिका प्रभुता-सम्पन्न देश है, किन्तु उसकी प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीय तन्तु में बुनी हुई है जिससे कि वह राष्ट्रों के कुटुम्ब का रूप धारण कर लेता है। सभी द्वीपों के साथ सम्बन्ध निकट हैं, चाहे वे वाणिज्यिक हों अथवा सांस्कृतिक। हमारे सम्बन्ध ग्रह सम्बन्धी हैं जो कि सूर्योदय और सूर्यास्त से परे हैं। नागरिकता में ऐसी समस्याओं और जटिलताओं में तथा घरेलू कार्यों में बांध लेते हैं। बाहरी देशों में यात्रा करने के अधिकार के बिना सांसारिक क्षेत्र में नागरिकता का प्रयोग तथा उपभोग हम इसके अभाव में नहीं कर सकते।"

और भारत में **सतवन्त वाले मामले**[1] में उतना ही ऊंचा दृष्टिकोण न्यायाधिपति सुब्बाराव द्वारा प्रकट किया गया है। हालांकि **ए० के० गोपालन के मामले**[2] तथा तत्पश्चात् आए बहुत से मामलों में यह महसूस किया गया था कि दैहिक स्वाधीनता में कमी कर दी जानी चाहिए, जहां तक कि बाहरी मुल्कों में भ्रमण करने का सम्बन्ध है। मुख्य न्यायाधिपति ताम्बे ने **ए० जी० काजी वाले मामले**[3] में खण्ड न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए विधि के क्षेत्र में व्यापक सर्वेक्षण किया था तथा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया था —

"हमारी राय में, अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त भाषा से भी यह उपदर्शित होता है कि 'दैहिक स्वाधीनता' न केवल शारीरिक निर्बन्धन से मुक्त है बल्कि उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण आचरण आता है जो कि कोई व्यक्ति विधि के क्षेत्र में अनुसरण करने के लिए स्वतंत्र है, उदाहरणार्थ वह जो भी खाए और पिए, जिन किन्हीं व्यक्तियों से मेल-मिलाप रखे जो कोई उसे भाते हों, जो भी चाहे पढ़े, जब चाहे सोए और जब तक चाहे सोता रहे, जहां कहीं भी वह यात्रा करना चाहे करे, जहां चाहे जाए, किसी ऐसी उपजीविका अथवा वृत्ति या कारबार का अनुसरण करे जिसे वह पसन्द करता हो; निस्संदेह यह सब रीति में और उस हद तक होगा जिसकी इजाजत विधि में दी गई है।" (पृष्ठ 240)

---

1 (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

2 (1950) एस० सी० आर० 88.

3 ए० आई० आर० 1967 मुम्बई 235.

103. संयुक्त राज्य अमेरिका में पासपोर्ट सम्बन्धी नियमित परिवर्तन यह साबित करता है कि अच्छे-भले व्यक्तियों के भाग्य में इस कारण परिवर्तन हो गया था क्योंकि उन्हें विदेश जाने के इस महान अधिकार से वंचित कर दिया गया था। ये व्यक्ति हैं लीनस पालिंग, जो कि नोबल पुरस्कार विजेता थे, चार्लिस चैपलिन, जो कि सर्वोत्तम चित्रपट अभिनेता थे, पॉल रोबेसन, जो सांसारिक गायक थे, आर्थमेलर जो महान ग्रन्थकार थे तथा उनके अन्तर्गत विलियम्स एल० क्लार्क भी हैं जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यायालयों के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति थे और इसी प्रकार के अन्य महान व्यक्ति भी इसमें आते हैं। न्यायाधिपति क्लार्क ने पासपोर्ट सम्बन्धी इस मामले तथा दूत की भूमिका के बारे में निम्नलिखित रूप में टिप्पण किया था —

> "यह कहना मूर्खता होगी कि डॉ० कोनेंट कुछ लोगों पर किसी प्रकार के सेंसर का प्रयोग कर सकता है जिनके बारे में वह यह चाहता हो कि वे उसके देश में अधिकार-पत्र लेकर आएं या न आएं। किसी भी दूत का यह कृत्य कदापि नहीं रहा। (पृष्ठ 275, 20 क्लैब एस० टी० एल० आर० 2 मई, 1971)

104. साम्यवादी प्रवृत्तियों की आशंका रखने वाले व्यक्तियों को किसी समय पासपोर्ट ग्रहण करने का अवसर कदाचित् ही प्राप्त हो सकता था; और उस देश में सत्तारूढ़ राजनीतिक चरम सीमा तक आ पहुंचे हैं कि उन्होंने अपने देश के एक सबसे बड़े मुख्य न्यायाधिपति पर यह लांछन लगा दिया था कि वह लगभग साम्यवादी है। अर्लवारन ने अपनी आत्म-कथा में यह अभिलिखित किया था —

> "सैनेटर जोसफ एम० कार्थी ने एक बार सीनेट के अन्तर्गत यह कहा था, मैं यह नहीं कहूंगा कि अर्लवारन साम्यवादी है, किन्तु मैं यह कहूंगा कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका में साम्यवाद का सबसे बड़ा मित्र है।"

पासपोर्ट इतिहास के सम्बन्ध में अमेरिकी विधिक साहित्य के बारे में अत्यन्त सुन्दर वर्णन विद्यमान है जिसके प्रति मैं बाद में निर्देश करूंगा। ब्रिटिश राज्य ने भारतीय देशभक्तों के बारे में, जिन पर यह आशंका की गई थी कि उन पर संदेह किया जा सकता है, विदेशी यात्राओं पर अत्यन्त क्रोध

1978(1) eILR(PAT) SC 6

दर्शित किया था और ब्रिटिश-इंडियन अध्याय में से ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

105. इसी प्रकार बहुत से देशों में स्थापन (एस्टेब्लिशमेंट) द्वारा पासपोर्ट और वीजा पद्धति को जाने-माने लेखकों, महान राजनीतिज्ञों, मानविक पादरियों और विख्यात वैज्ञानिकों को निषिद्ध करने के लिए शक्तिशाली पत्र के रूप में प्रयोग किया गया है यदि यह पाया जाता है कि वे अपने देश के विचारों से विसम्मति रखने वाले व्यक्ति हैं जिससे कि वे अपने राष्ट्र की सीमाओं को पार न कर सकें। विधिसम्बन्धी प्रहरियों के अभाव में, जनता के लिए अस्वाभाविक नहीं है कि उसे जनता के नाम के आधार द्वारा प्रदत्त शक्ति से प्रतिषिद्ध किया जा सके। पासपोर्ट सम्बन्धी राजनीति द्वारा प्रायः यह कोशिश की गई है कि वैयक्तिक आवागमन सम्बन्धी विधिशास्त्र में परिवर्तन करके उसके हितों की रक्षा की जा सके। यह आवश्यक है कि स्वतंत्रता का धुंधला प्रकाश ऐसा होना चाहिए कि उससे न्यायाधीशों की विचारधारा पर प्रभाव पड़ सके।

106. समय की प्रगति में परिवर्तन आ चुका है, सांसारिक जानकारी में वृद्धि हो चुकी है और वह धीमी रोशनी का स्थान ग्रहण कर चुकी है। मानविक अधिकारों पर यूरोपीय प्रसंविदा तथा दो देशों में आपसी सूझबूझ अग्रसर हो चुके हैं जिससे कि दैहिक स्वाधीनता से सम्बद्ध समष्टि के रूप में बाह्य देशों में गमन करने की स्वतंत्रता को अधिक व्यापक बनाया जा चुका है (चतुर्थ प्रोटाकोल) और मानविक अधिकारों की सर्वमान्य घोषणा में यह अनुच्छेद 13 में प्रख्यापित किया गया है —

> "(1) प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक राज्य की सीमाओं के भीतर आने-जाने और निवास करने की स्वतंत्रता का अधिकार है।
>
> (2) प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने देश सहित किसी भी देश को छोड़ सके और पुनः अपने देश में वापिस आ सके।"

यह अधिकार अभी अधूरा है और केवल आधार अधिकथित करता है। किन्तु आशवान रूप से ऊंचे से ऊंचे स्तम्भ धरातल से ही ऊपर हो जाते हैं। और विनाशकारी युद्धों तथा शोषक व्यापार, जातियों की घृणाओं तथा प्रारम्भिक झगड़ों, औपनिवेशिक अधीनताओं एवं तानाशाही

1978(1) eILR(PAT) SC 6

घटनाओं के बावजूद यह संसार अग्रसर होता रहा है जिसका कारण यह है कि इसमें ऐसे भद्र व्यक्ति भी बसते हैं जो सदैव आगे बढ़ने की कोशिश करते रहते हैं और अपने साथ अपने विचारों तथा भावनाओं को आध्यात्मिक स्तर पर ले जाते हैं। यह मानविक संसार हमारा एकमात्र गृह है, हालांकि भौगोलिक दृष्टि से विचित्रशील है, सांस्कृतिक रूप से विविध है, राजनीतिक दृष्टि से समष्टिवादी है। विज्ञान और तकनीक प्रतियोगिता और सहकारिता कलाओं और जीवन के उपायों में एक सौष्ठव चित्रकारी है और इससे भी अधिक इसमें सार्वभौम जागरूकता है जिसका सम्बन्ध एकता तथा आत्मनिर्भरता से हो, ओतप्रोत है। यह उदात्त सिद्धान्त सांस्कृतिक अन्तक्रिया, बौधिक परसंसेचन सैद्धान्तिक एवं धार्मिक प्रक्रियाओं तथा सामाजिक पद्धतियों का सामंजस्य तथा समेकन है, और इसका स्रोत मनुष्य की वह इच्छा है जिसके अनुसार वह भ्रमण करता रहना चाहता है और उसकी विचित्र भावना समेकित मानव व्यवस्था के प्रति अग्रसर होती है, जो कि मनुष्य के आधारों पर स्थित है। मनुष्य की प्रगति प्राक्-इतिहास की कालावधियों के माध्यम से अग्रसर होती रही है और इतिहास उसके सह-सम्बन्धियों से प्रोद्भूत होता रहा है तथा संसार बाहर से आए हुए व्यक्तियों के प्रति स्वाधीनता, क्रान्ति, वैज्ञानिक खोज तथा कलात्मक सर्वोत्तमता के लिए उसके प्रति दायी है। इस सृजनात्मक प्रगतिशीलता को यदि तानाशाही आदेश द्वारा रोक दिया जाए तो सभी समाज एवं संस्कृतियां निश्चल पड़ जाएंगी और अन्तर्राष्ट्रीय जागरूकता, जो कि समबुद्धिमान व्यक्तियों को कायम रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, सर्वथा समाप्त हो जाएगी। कार्यपालक निर्देश अथवा विधायी निषेध के अधीन यात्रा सम्बन्धी अधिकारों के मनमाने निषेध के सम्बन्ध में बहस करना भावी आघात को आमंत्रित करना तथा उसे बढ़ावा देना होगा। यदि हम पासपोर्ट के इस अधिकार को व्यापक अर्थों में देखें और उसके आधारों पर विचार करें, तो यह व्यापकतर पृष्ठभूमि आवश्यक है। केवल विधि ही नहीं बल्कि यह जीवन का सार भी है। यह कोई प्रायिक सुविधा नहीं बल्कि स्वतंत्रता का सार है।

107. एक अन्य दृष्टिकोण से देखते हुए, बाहर के देशों में यात्रा करना सांस्कृतिक ज्ञानवर्धन है जो कि अच्छे प्रकाश के प्रति स्वयं अपने देश के ज्ञान को बढ़ावा देता है। इस प्रकार, यह राष्ट्र हित का पालन

करता है जिससे कि उसके निवासी अन्य देशों को देख सकें और अपने देश के बारे में तुलनात्मक पैमाने पर निर्णय दे सकें। रुडयार्ड क्रिपलिंग ने उचित रूप से, हालांकि साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से, यह कहा था —

> "संसार की हवाएं जवाब देती हैं। वे इधर से उधर विचरती रहती हैं। और जो व्यक्ति केवल इंगलैंड के बारे में ही जानते हैं वे भला क्या जानते हैं ? (आंग्ल झंडा)

108. संसार भर में यात्रा करने का अधिकार भला मानविक अधिकार तथा सांविधानिक स्वतंत्रता क्यों है ? यदि ऐसा न होता, तो मानविक परम्परा कहीं बदतर होती, मानव कुटुम्ब कहीं अधिक विभाजित होता, मानविक व्यवस्था अधिक अस्थायी होती और मानविक भविष्य और भी धुंधला होता।

109. प्रवास के प्राचीन काल से लेकर प्रवंधकों का आना जाना भारतीय दृष्य पटल पर अनिश्चितता की खोज करने की इच्छा की अभिव्यक्ति है, इससे संसार के अर्थयोग के संबन्ध में बढ़ावा मिलता है मानव विशेषज्ञों के बहिर्गमन तथा प्रत्येक स्रोत में विकास होता है। इस प्रकार यदि प्राचीन राजाओं ने और मध्यकालीन शासकों ने विदेशी यात्रा को समाप्त कर दिया होता जैसा कि हमारे साम्राज्यवादी मालिकों ने लगभग कर ही दिया था तो देशभक्ति का नम्र घमंड समाप्त हो जाता। और डिस्कवरी ऑफ इण्डिया तथा डेस्टनी आफ इण्डिया अथवा आत्मा और गरिमा का दैवत्व, जो कि संविधान की उद्देशिका में उच्च-पद प्राप्त व्यक्ति की गरिमा जो कि असम्यक् रूप से पिछले कुछ वर्षों में अथवा अस्पष्ट संकेतों के अनुसार जिनके द्वारा वर्तमान भय उत्पन्न हो गये हैं, सांविधानिक सिद्धांत में विचित्र प्रयोग है।

110. इस प्रकार, व्यावहारिक दार्शनिकों तथा विधिशास्त्रियों एवं नीतिशास्त्रियों के सार्वभौम पर्यवेक्षण तथा हिरासत से प्राप्त नीति की भावनात्मक पृष्ठभूमि, जिन्होंने कि हमारे गणतन्त्र का महान दस्तावेज तैयार किया था, उनके लिए वह आवश्यक है कि वे उसे अनुच्छेद 21, 19 तथा 14 के सूत्रों को स्पष्ट करें। द्वितीय महायुद्ध के अधिनायकवादी भय द्वारा हमारे नेताओं में वह ज्वाला प्रज्वलित हो गई थी कि हमारे संविधान के अन्तर्गत अमिट रूप से उन मूल्यों को आवश्यक रूप

से लिखा जाए जिनके बिना मनुष्य की गरिमा सर्वथा समाप्त हो जाती है। मनुष्य के अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा, अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे का उत्थान, प्रजातन्त्रों के अन्तर्गत भी स्वतन्त्रताओं को आघात पहुंचना तथा शान्तिपूर्वक एवं प्रगतिशील रूप से आने-जाने के लिए 'एक संसार' (वन वर्ल्ड) को जो कि एकीकृत तथा संयत रूप से प्रतिक्रियात्मक रूप से शीघ्रतापूर्वक विकासशील था, उनकी विचार सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर निर्बन्धन लगाया था। बर्तानवी राज्य, जिसके द्वारा स्वराज्य को पांवों तले रौंद दिया गया था, से उद्भूत भावना—क्योंकि स्वराज्य प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार है—उसके मनाए जाने पर प्रभाव पड़ा था। प्रत्येक मनुष्य में प्रच्छन्न गरिमा-सृजनात्मक रूप से हमारे प्राचीन पूर्वजों की विचारधाराओं पर प्रभाव डालती थी। प्राचीन स्मरणशक्ति के धुंधले सूत्र तथा पृथ्वी की अभेद्यता के आधुनिक भाग, प्रान्तवाद का निदान, सामन्तवादी पिछड़ापन, अत्यन्त असमानता तथा रक्त से रंजित जातिवाद, पर्यटन की प्रोन्नति जिससे कि जानकारी होती है और ली जाती है और बाहर जाकर अध्ययन किया जाता है और दूर-दराज देशों से विद्वानों को आमंत्रित किया जाता है—ये और अन्य वास्तविक विचार उन देदीप्यमान मानविक अधिकारों को समपहृत कर लेते हैं और समपहरण भाग 3 के अभेद्य उपबन्धों द्वारा मजबूत बनाया जाता है। स्वामी विवेकानन्द जो कि एक महान संत क्रान्तिकारी थे, ने पूर्व और पश्चिम का दौरा किया था तथा पिछली शताब्दी के राष्ट्रीय पतन पर विचार की पुष्टि करते हुए यह कहा था—

> "राष्ट्रीय पतन के मुख्य स्वर के बारे में मेरा विचार यह है कि हम अन्य राष्ट्रों से नहीं मिलते—यही एकमात्र कारण है। हमें एक-दूसरे से अपने विचारों की तुलना करने का सर्वथा अवसर प्राप्त नहीं हुआ। हम कूपमंडूक बने रहे।"

* * * *

> "भारत की दुर्दशा और ह्रास के मुख्य कारणों में से एक कारण यह रहा है कि उसने अपने-आपको संकुचित कर लिया था, वह सीपी के अन्तर्गत प्रवेश कर गया था, जैसे घोंघा प्रवेश कर जाता है, और उसने मानव जाति के अन्य वर्गों को अपने हीरे तथा कोश देने से इन्कार कर दिया था तथा आर्य क्षेत्र

1978(1) eILR(PAT) SC 6

से बाहर वाले राष्ट्रों को जीवन देने वाले सत्यों का प्रदान करने से इन्कार कर दिया था जो कि उनके लिए तरस रहे थे। यह एक महान कारण रहा है कि हमने बहिर्गमन नहीं किया, कि हमने अन्य राष्ट्रों के साथ विचार-विमर्श नहीं किया—यही हमारे पतन का महान कारण रहा था और आप में से प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि वह साधारण सी उथल-पुथल, जिसे आप साधारण जीवन के रूप में भारत में देखते हैं, उस समय से प्रारम्भ होती है जब राजा राम मोहन राय ने अकेलेपन की दीवारों को तोड़ दिया था। उस दिन से लेकर भारत के इतिहास ने एक नया मोड़ ले लिया है और अब वह उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। यदि पूर्व में छोटी-छोटी नदियां बह रही हों, बाढ़ आ रहे हों, तो उन्हें कोई भी रोक नहीं सकता है। इसलिए, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम बाहर जाएं और जीवन का गुप्त मंत्र आदान-प्रदान के रूप में है। क्या हम सदैव मांगते ही रहेंगे और पश्चिमी देशों के चरणों में बैठकर प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक धर्म को सीखते ही रहेंगे? हम उनसे मशीनरी के बारे में सीख सकते हैं। किन्तु हमें उनको भी कुछ सिखाना होगा ....

इसलिए यह आवश्यक है कि हम दूसरे देशों में जाएं और अपनी आध्यात्मिकता का प्रदान उन्हें करके बदले में उनसे कुछ भी ग्रहण करें जिसे वे हमें दे सकते हैं, आत्मा के क्षेत्र की अद्भुत बातों के बदले में हम भौतिकवाद के क्षेत्र से अद्भुत बातों को ग्रहण करेंगे ....

सहायता के बिना मित्रता नहीं हो सकती है और जब एक पक्ष सदैव सिखाने वाला हो और अन्य पक्ष हमेशा उसके चरणों में बैठकर सीखता रहे, तो समानता नहीं हो सकती.........

यदि आप अंग्रेजों या अमेरिकियों के समतुल्य बनना चाहते हैं, तो आपको प्रशिक्षण भी ग्रहण करना होगा और सिखाना भी होगा और आपके पास शताब्दियों पर्यन्त संसार को सिखाने के लिए बहुत कुछ विद्यमान है।"

111. तुलनात्मक विधि के दृष्टिकोण से भी स्थिति सुस्थिर है। कारण यह था कि, जैसा प्रो० श्वार्थस ने कहा है, नागरिकता के

1978(1) eILR(PAT) SC 6

आवश्यक तत्वों में से एक तत्व आने-जाने की स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्र रूप से आने-जाने का अधिकार दैहिक स्वाधीनता का एक मार्मिक तत्व है। स्वतन्त्र रूप से आने-जाने के अधिकार के अन्तर्गत बाह्यय देशों में यात्रा करने का भी अधिकार आता है। भारतीय तथा आंग्ल-एवं-अमेरिकी विधि में पाठ्य पुस्तकों में इतनी शिक्षा तो सर्वसाधारण है। चूंकि पासपोर्ट की वैधता ऐसी स्वतन्त्रताओं पर प्रभाव डालती है। जो नाजुक तथा ऐसी होती है कि उन पर आघात पहुंचाया जा सकता है और साथ ही साथ वे हमारे समाज में अत्यन्त मूल्यवान हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि उनके द्वारा कार्यपालिक अनुकम्पा पर मूल अधिकारों के प्रयोग के लिए नाजुक निर्भरता को दूर करने हेतु न्यायिक सतर्कता को प्रोत्साहन दिया जाए। यह विषय इतना महत्वपूर्ण है कि किसी पुलिस राज्य तथा ऐसी सरकार के बीच, जो जनता द्वारा चलाई जाती है, अन्तर भागतः वर्तमान पासपोर्ट नीति पर निर्भर कर सकता है। हालांकि मैं इस विषय में जागरूक हूं कि वातावरण सम्बन्धी पहलुओं का ऐसा विस्तृत विवेचन व्यर्थ है, तथापि हमारे संविधान के आपातकालीन उपबन्ध, कठोरता की चरम सीमाएं, जिनका अनुभव राष्ट्र ने किया है तथा विजय प्राप्त करने के लिए सत्ता की झुक जाने की प्रवृत्ति इस बात को आवश्यक बनाती है कि उन महत्वपूर्ण मूल्यों को भलीभान्ति समझाया जाए जो कि सूक्तिबद्ध सांविधानिक शब्दावली में अभिव्यक्त किए गए हैं।

112. महान गारण्टीकृत अधिकारों के अन्तर्गत, जीवन और स्वाधीनता समान तत्वों में सर्वप्रथम हैं, जिनका अर्थबोध सर्वमान्य है जो उदात्त मानव व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण है और सांविधानिक कवच द्वारा संरक्षित है। यदि अनुच्छेद 21 में स्वाधीनता को उपघात के रूप में विघटित किया जाए तो अन्य अनेक स्वतन्त्रताएं स्वतः विनष्ट हो जाएंगी। न्यायाधिपति डगलेस ने, जो कि अत्यन्त सर्वोच्च और ऐसे न्यायाधिपति थे जिन्होंने कि संसार भर में सबसे अधिक यात्रा की है, पद्य-गद्य में तथा काल्पनिक वास्तविकता के रूप में यात्रा सम्बन्धी अधिकार की कृत्यशील आवश्यकता को स्वाधीनता के भाग के रूप में प्रस्तुत किया है। जोर देने हेतु मैं ऐसे प्रयोग को उद्धृत करूंगा जो कि किन्चित् रूप से वाद को दोहराता है—

"यात्रा सम्बन्धी अधिकार स्वाधीनता का एक भाग है जिससे कि नागरिक को पांचवें संशोधन के अधीन विधि की

सम्यक् प्रक्रिया के बिना वंचित नहीं किया जा सकता........ आंग्ल-सेक्सन विधि में वह अधिकार कम-से-कम उस समय उद्भूत हो गया था जिस समय कि महा-मांग-पत्र (मैगना कारटा)..... बाहर के देशों में यात्रा, देश के भीतर यात्रा के समान, उप-जीविका के लिए आवश्यक हो सकता है। यह किसी व्यक्ति के हृदय के इतनी निकट हो सकती है जैसा कि उसका इस बारे में चयन कि मैं क्या खाऊंगा, क्या पहनूंगा अथवा क्या पढूंगा। स्वतन्त्रता का आन्दोलन हमारे मूल्यों की स्कीम के अन्तर्गत आधारभूत है।"

(कैण्ट **बनाम** डल्लस, 357 यू० एस० 116-2, लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 1204, 1958)

"आने-जाने की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत भी महान सामाजिक मूल्य विद्यमान है। जैसा कि उहाफसे ने कहा था—'सार्वजनिक कार्यकलाप सम्बन्धी भाषणों के बारे में विख्यात विदेशी संवाददाताओं को ऐसी प्राथमिक जानकारी होनी चाहिए। वैज्ञानिक तथा विद्वान् अन्य देशों में अपने सहयोगियों के साथ परामर्श करके अत्यन्त ज्ञानवर्धन करते हैं। विद्यार्थी विदेशी विश्वविद्यालयों में शिक्षा द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिक उपयोगी वृत्तियों को अपनाते हैं।

इसके अलावा, व्यक्तिगत जीवन विवाह, कुटुम्बों को पुनः एकीकृत करने, पुराने मित्रों के साथ बैठकर समय बिताने के अन्तरंग भाग के निकटवर्ती कारण मौजूद हैं। अन्त में बाह्य देशों में यात्रा अमेरिकी नागरिकों को यह समझने के योग्य बनाती है कि उन्हीं प्रकार के लोग यूरोप में रहते हैं और उनकी इस बारे में सहायता करती है कि उन्हें सार्वजनिक विवाद्यकों के बारे में अच्छा ज्ञान प्राप्त हो। कोई ऐसा अमेरिकी जिसने समुद्र पार कर लिया हो इस बात के लिए आबद्ध नहीं है कि वह केवल इससे हमारी विदेश नीति के बारे में अपनी राय बनाएं जिसके बारे में हमारी सरकार के अधिकारियों द्वारा अथवा वाणिज्यिक समाचार-पत्रों के कुछ संवाददाताओं द्वारा उसे बताया गया हो। उसके अलावा, घरेलू प्रश्नों के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण में

1978(1) eILR(PAT) SC

परिवर्तन हो जाता है जब वह यह देखता है कि विदेशी किस प्रकार समरूप समस्याओं को हल करने की कोशिश कर रहे हैं। बहुत से विभिन्न तरीकों से अन्य देशों के साथ सीधा सम्पर्क घरेलू मसलों पर अधिक सुस्थिर विनिश्चय, पर्याप्त कारणों में मदद देता है। वास्तव में यात्रा करने सम्बन्धित स्वतन्त्रता नागरिक की स्वाधीनता का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

(केण्ट **बनाम** डल्लस)

देश के भीतर और बाहर आने जाने की स्वतन्त्रता, नौकरी और कारबार के अवसरों के लिए-सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक कार्य-कलाप के लिए—इस रूप में महत्वपूर्ण है कि उससे सामाजिक प्राणी आपस में मिलकर प्रसन्नता का उपभोग करते हैं। स्वतन्त्र रूप से आने-जाने सम्बन्धी अधिकार को धारण करने वाले समय-समय पर इसका प्रयोग ऋष्टिकारक प्रयोजनों के लिए करते हैं। किन्तु वह बात बहुत सी स्वाधीनताओं के बारे में सत्य है जिनका उपभोग हम करते हैं। तथापि हम उनमें अपनी आस्था निहित करते हैं और निरोध के विरुद्ध यह जानते हुए आश्वस्त रहते हैं कि दण्डनीय आचरण को अधिकार देने के लिए स्वाधीनता के दुरुपयोग का जोखिम इस स्वाधीनता समाज के लिए उस मूल्य के रूप में हमें चुकाना पड़ता है जिसका संदाय हम करते हैं। [अपथेकर **बनाम** सैक्रेटरी ऑफ स्टेट : 378 यू० एस० 500—12 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 992 (1964)] न्यायाधीश विजान्सकी ने यह कहा—

यह यात्रा अभिव्यक्ति के अन्य बहुत से प्रयोगों से भिन्न नहीं है—जैसे कि वाणी, लेखन, पत्र-व्यवहार, जनता को एकत्रित होने और पिटीशन करने का अधिकार इत्यादि।"

(विजान्सकी फ्रीडम टु ट्रेवल एटलांटिक मन्थली, अक्टूबर, 1952, पृष्ठ 66, 68)

113. एक प्रकार से अमेरिकी न्यायालयों ने स्वाधीनता के उस पहलू पर सांविधानिक रूप से विचार किया है जिसका सम्बन्ध

बेरोकटोक यात्रा से है । **कैन्ट,**[1] **अपथोकर**[2] और **जेमल**[3] इस विषय में प्रमुख मामले हैं और अमेरिकी विधिशास्त्र आज स्वाधीनता के मूलभूत भाग के रूप में (5वां संशोधन) यह अभिनिर्धारित करता है कि किसी भी नागरिक को पासपोर्ट निर्बन्धनों के बिना सीमाओं को पार करने की स्वतन्त्रता है, किन्तु वह निस्संदेह सुपरिभाषित आवश्यक अपवादों के अध्यधीन है । मूलभूत रूप से ब्लैटस्टोन की अभियुक्ति आज भी लागू होती है ;

> "दैहिक स्वाधीनता आने-जाने की शक्ति में निहित है जिसके अन्तर्गत विचलन करने अथवा अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कहीं भी जाने की वांच्छा होती है ।"

114. सारांश यह है कि दैहिक स्वाधीनता मानव के व्यक्तित्व के वास्तविक मूल्य के लिए आधार स्वरूप है । यात्रा स्वाधीनता को सुयोग्य बना देती है । जीवन एक सांसारिक अवसर है जिसके द्वारा व्यक्तित्व को उजागर किया जाता है जिससे कि वह उच्चतर हैसियत प्राप्त कर सके, नवीन स्थलों में प्रवेश कर सके, वास्तविकता तक पहुंच सके जिससे कि हमारी भौगोलिक यात्रा एक सही पूर्ति बन सके, न कि ऐसी कहानी, जो किसी बुद्धिहीन व्यक्ति द्वारा सुनाई गई हो जिसके अन्तर्गत ध्वनि और उद्वेलन विद्यमान हो जो कुछ भी सूचित न करता हो, किन्तु वह एक उत्तम भावना है जो आकाश तथा भूमि के बीच विचरती है । मनुष्य की भावना अनुच्छेद 21 की जड़ है । स्वाधीनता के बिना अन्य स्वतन्त्रताएं गतिहीन बन जाती हैं ।

115. जबकि यह विवाद्यक है और सांविधानिक ध्वनियों को सूचित करता है, इसका मूल्यांकन ऐसी दशा में मानविक गहराई तक पहुंच जाता है जब सांसारिक पर्यवेक्षण तथा मातृभूमि के ईर्दगिर्द आन्तरिक अन्तराल तथा बाह्य अन्तराल, जिसका सम्बन्ध मनुष्य से है, के बीच यात्रा के विस्तारशील स्थल का अर्थबोध देखने में आता है ।

116. मेरे विद्वान् बन्धु न्यायाधिपति भगवती द्वारा, विनिर्दिष्ट रूप से, जिस रूप में व्यवहार किया गया है, उसके प्रति अतिव्याप्त

---

1 357 यू० एस० 116 ; 2 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 1204.

2 378 यू० एस० 500; 12 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 992.

3 381 यू० एस० 1; 14 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179.

अनुपूरक के तौर पर दैहिक स्वाधीनता की अवधारणा पर विचार-विमर्श के इस अध्याय का निष्कर्ष देते हुए, 1969 में समाप्त हुए विधिशास्त्रियों के बंगलौर स्थित सम्मेलन द्वारा भारतीय विधि सम्बन्धी विषय का सुस्थिर कथन किया गया था, जो कि निस्संदेह व्यावृत्तियों तथा अपवादों के बारे में था जो उस निष्कर्ष की सामान्यता में से निकाले गए थे—

> "अपने देश में या अपने देश से बाहर जाते समय दूसरे देशों का दौरा करते हुए तथा अपने देश में प्रविष्ट होते हुए मनुष्य के आने-जाने सम्बन्धी स्वतन्त्रता एक मार्मिक मानविक स्वाधीनता है, चाहे ऐसा आना-जाना मनबहलाव, शिक्षा, व्यापार अथवा नियोजन के लिए हो या फिर वह ऐसे वातावरण में से बहिष्कार करने हेतु को जिसमें कि उसकी अन्य स्वाधीनताओं को दबाया गया हो या उनसे आतंकित किया गया हो । इसके अलावा, परस्पर निर्भर संसार में जिसके अन्तर्गत भावी शान्ति तथा प्रगति अन्तर्राष्ट्रीय अर्थबोध का सदा उत्तरोत्तर बढ़ाने वाला अध्युपाय है, उसमें यह वांछनीय है कि विभिन्न राष्ट्रों के देशों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क किया जाए और उनकी प्रगति पर सभी अन्यायोचित निर्बन्धनों को हटा लिया जाए जो ऐसी संविदाओं में बाधा डालते हैं ।"

117. दैहिक स्वाधीनता के बारे में तथा उसके यात्रा सम्बन्धी पहलू के सम्बन्ध में इतना कह देना काफी होगा । अब हम अनुच्छेद 21 में आधारभूत खण्ड को प्रस्तुत करेंगे जो विधि द्वारा सुस्थिर हो चुका है और यह पहले तो सामान्य रूप से और तत्पश्चात् **ए० के०, गोपालन वाले मामले**[1] के प्रति निर्देश से और उसके बाद आने वाले मामलों पर ध्यान रखते हुए किया जाएगा । इसके अलावा, मैंने सापेक्ष संक्षिप्तता का पालन किया है क्योंकि मैं अपने विद्वान् बन्धु भगवती के साथ पूर्णतया सहमत हूं ।

118. यदि अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत विदेश यात्रा की स्वतन्त्रता आती है तो क्या उसका प्रयोग विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया से इस प्रकार नियंत्रित या प्रतिषिद्ध किया जा सकता है ? वास्तव में, ऐसा हो सकता है । इसलिए प्रश्न यह है कि 'प्रक्रिया' क्या है ? 'स्थापित' से हमारा

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

क्या अभिप्राय है ? और विधि क्या है ? कोई भी औपचारिक, विधायी रूप से प्रसंस्कृत हालांकि वह निरर्थक या मनमाना हो ? जीवन व स्वाधीनता के प्रति श्रद्धा के बारे में यह निश्चित है कि वह इस निरर्थक निष्कर्ष को आच्छादित कर ले । अन्तिम विश्लेषण के रूप में विधिक निर्वचन निर्णय मूल्य है । विषय-वस्तु की अत्यन्त गम्भीरता--जीवन और स्वाधीनता द्वारा विधि के लिए आवश्यकता की वांच्छा की जाती है जो युक्ति के रूप में नहीं होती । विधि के रूप में विधि, जब वह सामान्य रूप से समाज की सम्पत्ति पर अन्तःकरण द्वारा विधिसम्मत ठहराई जाए। कोई ऐसा सनकपूर्ण समादेश जो युक्तियुक्त रूप से सामान्यतया समाज के उच्च वर्ग द्वारा धार्मिक या विधि के रूप में माना गया हो और जो व्यापक तौर पर अन्य मानक स्तरों के समरूप न हो, जो कि इस देश में दाण्डिक अथवा तत्समान प्रक्रिया को विनयमित करते हैं, ऐसा समादेश नहीं होता है । प्रायः यह एक विधायी कार्य होता है, किन्तु यह कृत्यशील अथवा युक्तिपूर्वक होना चाहिए ।

119. केवल यह तर्क-पद्धति अनुच्छेद 21 के खण्डों को एक-दूसरे के अनुकूल बनाएगी, जब कि प्रक्रिया सम्बन्धी मशीनरी सारवान भाग को मूलभूत रूप से विनष्ट न करती हो । सांविधानिक मानविकता तथा जीवन और स्वाधीनता में पूर्ण आस्था की उपधारणा इतनी निरर्थक अथवा खण्डशः नहीं हो सकती कि कोई अस्थायी विधायी बहुमत, जो अल्पमत के मुकाबले में डावांडोल स्थिति में हो, अध्यापेक्षित 'कोरम' द्वारा तीन शीघ्रातिशीघ्र किए गए विधेयक के पठन कई अयुक्तियुक्त रूप विहित कर सकती है और तद्द्वारा उदात्तपूर्ण समादेश को विनष्ट नहीं कर सकती है । 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' अपनी, घातक शक्ति सहित, जीवन और स्वतन्त्रता को नाजुक खिलौने का रूप दे देगी यदि हम उन महत्वपूर्ण शब्दों के अन्तर्गत आवश्यकता ऐसा अर्थ अन्तःस्थापित न करते जो विधि के अन्तर्निहित नियम के अनुकूल हो जो कि सारवान् रूप से सुसभ्य हो, जिसका अतरंग भाग उचित हो और प्रक्रिया सम्बन्धी संरक्षण के उन आज्ञापक तत्वों को नियत करता हो जिन्हें प्रक्रिया सम्बन्धी अनुलग्नक अधिष्ठायी शीर्षक का रूप प्रदान कर सके । क्या मानव अधिकार का पुनीत सार, जिसे प्राप्त करने के लिए मरने मारने सम्बन्धी देश भक्ति के विषय में स्वाधीनता हेतु आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था, उसे औपचारिक तथा

शाब्दिक विनिधानों द्वारा शोषित कर लिया जाए जब कि आवश्यक मानकों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है । कोई अधिनियमिति अविर्भाव एक सांविधानिक ढंग हैं । प्रक्रियागत न्याय अनुच्छेद 21 में स्पष्ट रूप से निहित है । विधान के माध्यम से प्रसंस्कृत अनुचित अनुष्ठान द्वारा प्रवंचना करना अत्यन्त गम्भीर बात होगी ।

120. अतः मैं आश्वस्त हो गया हूं कि अनुच्छेद 21 किसी औपचारिक विशेषणात्मक कानून का अवलम्ब लेकर, चाहे उसके उपबन्ध कितने ही निरर्थक अथवा विचित्र क्यों न हों, संविधान द्वारा अन्तर्निहित उपबन्धों को छीनना होगा । अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत आने वाली साम्यताओं पर विचार करने सम्बन्धी प्रक्रिया, जिनका सम्बन्ध उन्हें विनियमित, निर्बन्धित अथवा रद्द करने का हो, उचित होना चहिए, न कि निरर्थक, व सावधानता से परिकल्पित होना चाहिए ताकि स्वयं अधिष्ठायी अधिकार को प्रभारी रूप दिया जा सके, न कि उसे निष्फल बनाया जा सके । इस प्रकार समझे जाने पर 'प्रक्रिया' में से कोई भी ऐसी वस्तु बहिष्कृत हो जाएगी जो, मनमानी, विचित्र अथवा अनियमित हो । कोई मूल्यवान् सांविधानिक अधिकार केवल सभ्यतापूर्वक प्रक्रियाओं द्वारा सारणीबद्ध किया जा सकता है । आप इस बात का दावा नहीं कर सकते कि यदि अग्नि की शिथिल परीक्षा अथवा किन्हीं अन्य विचित्र अथवा अस्पष्ट पद्धतियों को अपनाया जाता है तो वह विधिक प्रक्रिया है । और न ही यह ऐसी दशा में मान्य है यदि जीवन जांच सम्बन्धी कठोर अथवा संक्षिप्त प्रक्रिया द्वारा छीन लिया जाता है । मूलभूत धारणाएं जीवन और स्वाधीनता हैं । प्रक्रिया सम्बन्धी बात उसके प्रयोग की रीति है । प्रक्रिया के सम्बन्ध में स्थिति उसकी विद्यमानता की रीति है । प्रक्रिया में औचित्य की समानता पर 'स्थापित', जिससे कि सुदृढ़ रूप से सन्नद्ध अभिप्रेत है, न कि मनमाने तौर पर या सनकपूर्वक, रूपी प्रबल शब्द द्वारा जोर दिया गया है । यदि इसे समाज की विधिक जागरूकता में सन्नद्ध रखा जाता है, तो यह स्थिर प्रक्रिया बन जाती है । और 'विधि' द्वारा इस बारे में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता है कि यह ऐसे सिद्धांतों से मिलकर बनी है जो न्यायोचित मानी जाती है क्योंकि विधि माध्यम है और न्याय उद्देश्य है ।

121. क्या इस युक्ति के लिए कोई समर्थक न्यायिक विचार विद्यमान है ? हम **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में विद्वान् न्यायाधीशों के महत्वपूर्ण शब्दों तथा **आर० सी० कपूर के मामले**[2] से लेकर **एस० एन० सरकार वाले मामले**[3] तक के विनिश्चयों पर विचार करेंगे और इस निष्कर्ष के अनुप्रमाणित किए जाने पर ध्यान देंगे। और स्वयं अनुच्छेद 22 की विस्तृत प्रक्रिया इस दलील को प्रबल बनाती है कि अनुच्छेद 21 में 'जीवन तथा स्वाधीनता' अभिव्यक्ति सम्बन्धी दलील प्रबल रूप प्रदान करती है। उस अभिव्यक्ति को भ्रामक विधायी प्रवृत्ति प्रदान नहीं की जा सकती थी। जैसे सुसंगत युक्तियुक्तता अनुच्छेद 14 और 19 को अतिव्याप्त करती है उसी प्रकार औचित्य का उपांग अनुच्छेद 21 में विवक्षित है। इस प्रक्रम पर, **गोपालन वाले मामले**[1] पर निकट रूप से ध्यान देना होगा जिससे कि दैहिक स्वाधीनता सम्बन्धी प्रक्रिया की गुणिता को महत्व प्रदान किया जा सके।

122. प्रक्रिया सम्बन्धी रक्षोपाय स्वाधीनता का अपरिहार्य सार है। वास्तव में, दैहिक स्वाधीनता का इतिहास व्यापक है, प्रक्रियागत रक्षोपायों तथा सुनवाई का अधिकार मानसिक अधिकार का क्षेत्र है। भारत में निर्धनता और निरक्षरता के कारण लोग अपने अधिकारों की संरक्षा करने में तथा प्रतिरक्षा करने में अयोग्य हैं। मूलभूत अधिकारों का पालन सुनीति नहीं माना जाता और उनका व्यतिक्रमण कुनीति माना जाता है। मैं कभी-कभी चिन्तनशील होकर इस बात पर विचार करता हूं कि अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में जनता की विपरीत जागरूकता सरकारी आदर तथा प्रत्युत्तर के सांविधानिक आश्वासन का सुनिश्चित रूप है, बजाए प्रश्नकाल के शोरगुल और तनाव के तथा न्यायालय के रिट का मंद-मंथर तथा अनिश्चित परिदान, जो समाजवाद जागरूकता तथा भारतीय संविधान द्वारा देखने में आता है और जो बहुत से क्षेत्र में समाजशास्त्रीय सुसंगति के लुभावने विषय में है।

✓123. सारांश के रूप में, अनुच्छेद 21 में प्रक्रिया से उचित न कि प्रारूपिक प्रक्रिया अभिप्रेत है। विधि एक युक्तियुक्त विधि है न

---

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

2 (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

3 (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

कि अधिनियमित भाग। जैसे कि अनुच्छेद 22 विनिर्दिष्ट रूप से प्रतिषेधात्मक तथा दण्डात्मक निरोध के लिए प्रक्रियागत रक्षोपायों को उल्लिखित करता है। इसी प्रकार ऐसे निरोधों के लिए व्यवस्था करने वाली विधि अनुच्छेद 22 के अनुकूल होनी चाहिए। यह उचित ही कहा गया है कि दैहिक स्वाधीनता का भाग गठित करने वाले अन्य अधिकारों के लिए अनुच्छेद 21 में अन्तर्निहित प्रक्रिया सम्बन्धी रक्षोपाय उपलभ्य है। अन्यथा जैसे कि अनुच्छेद 21 में अन्तर्विष्ट प्रक्रिया सम्बन्धी रक्षोपाय केवल ऐसे मामले में उपलभ्य होगी, निषेधात्मक और दण्डात्मक निरोध के विषय हों, वहां जीवन सम्बन्धी अधिकार, जो कि किसी भी अन्य निरोध से अधिक मूलभूत हो और जो दैहिक स्वाधीनता का भाग गठित करता हो तथा व्यक्ति को प्रसन्नता, गरिमा और मूल्य के लिए सर्वोपरि हो, किसी भी प्रक्रिया सम्बन्धी रक्षोपाय के लिए हकदार नहीं होगा, सिवाए ऐसी दशा के जिसका चयन विधान मण्डल द्वारा किया गया हो। **कोचीन वाले मामले**[1] में न्यायालय ने **गोपालन वाले मामले**[2] के सही होने पर इस विषय में सन्देह करते हुए यह कहा था कि—

> "यदि यह प्रश्न अभिन्न अंग होता तो हम में से कुछ न्यायाधिपति फजल अली द्वारा अभिव्यक्त किए गए विसम्मत दृष्टिकोण से सहमत होते।"

124. **गोपालन वाले मामले**[2] में "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" पर कुछ प्रकाश डाला था। न्या० पातंजलि शास्त्री ने इसे दाण्डिक प्रक्रिया के वर्तमान सिद्धान्तों के समतुल्य रखा था जो कि भारतीय-आंग्ल दाण्डिक विधि द्वारा दीर्घ समय से लेकर विवेकपूर्ण माने जाते रहे हैं। विद्वान न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था—

> "दूसरी ओर मध्यवर्ती की ओर से महा अटर्नी द्वारा जिस निर्वचन का सुझाव दिया गया है अर्थात् यह कि इस अभिव्यक्ति से किसी सक्षम विधानमण्डल द्वारा बताई गई किसी विधि द्वारा वह प्रक्रिया मात्र अभिप्रेत है जो कदाचित् सुचारु रूप से ग्राह्य नहीं है। उनके कथनानुसार, 'स्थापित' से 'विहित' मात्र अभिप्रेत है और यदि संसद् अथवा किसी राज्य का विधानमण्डल ऐसी

1 ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 1080, 1093.

2 (1950) एस० सी० आर० 88.

प्रक्रिया को अधिनियमित करता है जो चाहे कितनी भी नवीन तथा निष्प्रभावी हो ताकि अभियुक्त व्यक्ति को अपनी प्रतिरक्षा करने का सुचारु अवसर प्राप्त हो सके, तो वह किसी व्यक्ति को उसके जीवन अथवा दैहिक स्वाधीनता से वन्चित करने के लिए पर्याप्त होगा।" (पृष्ठ 201—203)

"महा-न्यायवादी ने जिस अर्थान्वयन का सुझाव दिया है उसे स्वीकार करने में मुझे जो मुख्य कठिनाई महसूस होती है वह यह है कि यह सर्वथा अनुच्छेद 13(2) और वस्तुतः मूल अधिकार की धारणा को समाप्त कर देता है.................. यदि संविधान के निर्माताओं का यह आशय होता कि जीवन तथा 'दैहिक स्वाधीनता' के अधिकतम महत्वपूर्ण मूल अधिकार विधायी बहुमत की अनुकम्पा पर होने चाहिएं क्योंकि प्रभावी रूप में यदि वे स्थापित किए जाएं तो उनसे 'विहित' मात्र अभिप्रेत होगा। दूसरे शब्दों में, जैसा कि एक अमेरिकी न्यायाधीश ने ऐसे ही सन्दर्भ में कहा था क्या अनुच्छेद 13(3) में सांविधानिक प्रतिषेध की कोटि में आता है कि 'आप किसी के जीवन अथवा दैहिक स्वाधीनता को तब तक नहीं छीनेंगे जब तक कि आप उसे छीनना नहीं चाहेंगे' जो कि मात्र शब्दाडम्बर है........ ....यह कहा गया है कि अनुच्छेद 21 अधिष्ठायी दाण्डिक विधि के क्षेत्र में सक्षम विधायी कार्यवाही के विरुद्ध कोई संरक्षा प्रदान नहीं करेगा क्योंकि न्यायिक पुनर्मूल्यांकन के लिए कोई उपबन्ध युक्तियुक्तता के आधार पर या अन्यथा ऐसी विधियों के बारे में नहीं किया गया है जैसा कि अनुच्छेद 19 में प्रगणित अधिकारों के विषय में किया गया है। यदि यह मान भी लिया जाए कि ऐसा ही है तो भी विद्वान् महा-अटर्नी के अर्थान्वयन का प्रभाव प्रक्रिया सम्बन्धी संरक्षा को सर्वथा निष्प्रभावी तथा भ्रामक बनाने का ही होगा जिसका प्रदान किया जाना निस्सन्देह अनुच्छेद द्वारा अभिकल्पित था।" (पृष्ठ 202) (रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

"इस मामले पर ध्यानपूर्वक और सतर्कता से विचार करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि इस समस्या के केवल

1978(1) eILR(PAT) SC 6

दो ही सम्भाव्य हल हैं एक तो दोनों आत्यंतिक स्थितियों के बीच समाधान पद उपाय ढूढ निकाला जाए जिनकी दलील दोनों पक्षकारों की ओर से दी गई है और इस सम्बन्ध में निष्कर्ष 'स्थापित' शब्द पर जोर देकर निकाला जा सकता है जिससे दृढ़ता, स्थायित्व तथा सामान्य ग्राह्यता विवक्षित है जब कि कानून के द्वारा सूत्रपात् किया जाना अपवर्जित नहीं है। 'द्वारा स्थापित प्रक्रिया' से सुचारू रूप से वही अर्थ लगाया जा सकता है जो कि किंग एम्परर बनाम बनवारी लाल शर्मा वाले मामले में 'साधारण तथा सुस्थापित दाण्डिक प्रक्रिया' के रूप में निर्दिष्ट किया गया था, अर्थात् वे स्थिर प्रयोग तथा समान्य कार्यवाही की पद्धतियां जिनकी मज़दूरी दण्ड प्रक्रिया संहिता द्वारा की गई हो जो कि देश भर में दण्ड प्रक्रिया सम्बन्धी सामान्य विधि है।" (पृष्ठ 205)

न्यायाधिपति फ़ज़ल अली ने अनुच्छेद 21 के प्रक्रिया सम्बन्धी सारवान होने के बारे में विघ्न प्रस्तुत किए जाने पर नाराजगी प्रकट की थी और उसके अन्तर्गत नैसर्गिक न्याय के उन आवश्यक तत्वों का परिशीलन किया था जिनके द्वारा प्रक्रिया सम्बन्धी विधि मानव का रूप देती है। विद्वान् न्यायाधीश ने बहस करते हुए यह कहा था—

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्त में ऐसी कोई क्रान्तिकारी बात नहीं है कि 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के अन्तर्गत निश्चित रूप से वे जैसे सिद्धान्त आने चाहिएं जो प्रो० विलीस की पुस्तक में दिए गए हैं और जिनके बारे में मैंने पहले ही कह दिया है कि वे एक ही सिद्धान्त के विभिन्न पहलू हैं और उनके अन्तर्गत कोई अस्पष्टता या अनिश्चितता नहीं है। जैसा कि विद्वान् ग्रन्थकार ने कहा है और जैसा नजीरों से दर्शित होता है यह सिद्धान्त आत्यन्तिक रूप से कठोर सिद्धान्त नहीं है बल्कि वे कुछ सीमाओं के अन्तर्गत प्रत्येक मामले की परिस्थितियों में अनुकूलनीय हैं। मुझे मात्र इतना और कहना है कि इस बात का गम्भीरतापूर्वक विरोध नहीं किया गया है कि विधि से किंचित निश्चित कार्यवाही सम्बन्धी नियम अभिप्रेत

हैं, न कि कोई ऐसी बात जो प्रक्रिया के लिए बहाना मात्र हो ।
(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

संक्षेप में औचित्यपूर्ण विशेषणात्मक विधि जीवन, स्वाधीनता सम्बन्धी मूल अधिकार का प्राण है । (अनुच्छेद 21), न कि विधानमण्डल की तानाशाही सार्वभौमिकता । न्यायाधिपति महाजन ने इससे सुसंगत मत व्यक्त किया था——

"मेरी राय में अनुच्छेद 21 में ऐसी अधिष्ठायी विधि का अधिकथन किया गया है जिसके द्वारा ऐसी दशा में जीवन और स्वाधीनता की संरक्षा प्रदान की गई है क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर इन्हें वंचित नहीं किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में, इससे यह अभिप्रेत है कि इससे पूर्व कि किसी व्यक्ति को उसके जीवन या उसकी स्वाधीनता को पुरोभाव्य शर्त के रूप में वंचित किया जाए कोई अधिष्ठाई विधि विद्यमान होनी चाहिए जो ऐसा करने के लिए प्राधिकार प्रदान करती हो और विधि में आगे यह उपबन्ध किया जाना चाहिए जिसमें कि इस प्रकार वंचित किये जाने के लिए प्रक्रिया की पद्धति हेतु उपबन्ध विद्यमान हो । यह अनुच्छेद तानाशाही शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध कार्यपालिका द्वारा पूर्ण उन्मुक्ति प्रदान करता है । इसके अलावा वह अविधिमान्य विधियों के विरुद्ध उन्मुक्ति प्रदान करता है जो संविधान का उल्लंघन करती हों । तत्पश्चात् यह इस बात की अतिरिक्त गारन्टी भी देता है कि उसकी वास्तविक अवधारणा में कार्यवाही होनी चाहिए; पूर्व इसके कि किसी व्यक्ति पर उसके जीवन अथवा उसकी स्वाधीनता की बाबत लांछन लगाया जा सके । यह विचित्र, मनमानी तथा विवश्यक कार्यवाहियों के रूप की भी अवहेलना करता है ।" (रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

125. सारांश में न्यायाधिपति फ़ज़ल अली ने यह अवधारणा प्रस्तुत की जो कि न्यायोचित प्रक्रिया की पद्धति के अनुकूल है जहां स्वाधीनता पर दोषारोपण किया जा सकता है, हो सकता है कि विद्वान् न्यायाधीश ने उचित रेखा से इसे किंचित् अधिक विस्तृत कर लिया हो, किन्तु सारवान रूप से उसके सिद्धान्तों को मेरी सम्मति प्राप्त है ।

1978(1) eILR(PAT) SC 6

126. **जॉन** बनाम **रीत**[1] वाले मामले में वास्तविक नियम जैसे कि यह किसी विधि में विवक्षित है निम्नलिखित है—

> "यदि कोई सन्देह हो तो सिद्धान्तों का लागू किया जाना सन्देह लाभ प्राप्त करेगा।"

और लार्ड डैनिंग ने स्वाधीनता के विचार पर **स्मिद्त** बनाम **सेक्रेटरी ऑफ स्टेट**[2] वाले मामले में निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

> "जहां किसी लोक अधिकारी को उसकी स्वाधीनता या उसकी सम्पत्ति को वंचित करने की शक्ति प्राप्त हो वहां सामान्य सिद्धान्त यह है कि सुनवाई किये बिना ऐसा नहीं किया जाएगा।"

मानव अधिकार

127. उच्चतर सिद्धान्तों के लिए विवेचनात्मक आदर का यह एक महत्वपूर्ण स्थल है जिसे हमारो आधारशिला रखने वाले प्रमुख व्यक्तियों का जीवन और स्वाधीनता के मानविक अधिकारों को प्रभावित करने में उच्च स्थान दिया था जिससे कि अनुच्छेद 21 का परिशीलन इस प्रकार किया जाए कि इसके परिणामस्वरूप ऐसी मानविक व्यवस्था हो सके जिसमें मानव न्याय का पुट विद्यमान हो। और अनुच्छेद 1914 का पूर्णतया परिशीलन करने में विभिन्न वर्गों में युक्तियुक्त प्रक्रिया का सिद्धान्त आ जाता है। इस प्रकार अनुच्छेदों के अन्तर्गत कतिपय सैद्धान्तिक सामंजस्य प्राप्त हो जाता है और मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि अनुच्छेद 21 कें अन्तरंग भाग में उचित प्रक्रिया का अर्थान्वियन विद्यमान है जिसे विधायी रूप से मान्य बनाया गया है। कोई भी पासपोर्ट आफिसर न तो साधारण सीजर और न ही अन्तर्निहित रीति में मंत्री के रूप में सीजर ऐसी पद्धति में नहीं होगा जहां कि विधि का नियम सर्वोच्च हो।

128. अनुच्छेद 21 के बारे में मेरा स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि बाहर के राज्यक्षेत्र में जाने की स्वाधीनता को स्थापन द्वारा अन्यायोचित रूप से प्रतिषिद्ध नहीं किया जा सकता और यह आवश्यक है कि पासपोर्ट सम्बन्धी विधान प्रक्रिया सम्बन्धी उपबन्धों को जो कि उचित सिद्धान्तों

---

1 (1969) 2 आल इंगलैण्ड रिपोर्ट्स 274.

2 (1969), 2 चांसरी 149.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

के अनुकूल हों, जिन पर कोई बाहरी दवाव न पड़ता हो और मोटे तौर पर नैसर्गिक न्याय का अनुवर्तन करते हों। इकतरफा मनमानापन, पुलिस रिपोर्टों, निर्लज्ज रवैया जो कि सामग्रियों की पृष्ठभूमि में विद्यमान रहता है, टेढ़े-मेढ़े हेतुक तथा सामग्रियों का संवीक्षा न किया जाने वाला प्रत्यक्ष रूप, 'औचित्य' पूर्णता सम्बन्धी विधेयकों के विषय की पूर्ति नहीं करते। निस्सन्देह, ये न्यायोचित अपवादों तथा चिन्ताजनक सन्दर्भों को लागू होते हैं। यदि इस न्यूनतम कसौटी का परित्याग कर दिया जाए, तो पुलिस राज्य धीरे-धीरे हमारे सांविधानिक विधिशास्त्र के उत्तम सार को निचोड़ लेगा। हमारे गणतन्त्र राज्य का मुख्य आधार पक्षकार नहीं होता, बल्कि वह सिद्धान्त और नीति के रूप में होता है।

129. हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अनुच्छेद 21 जीवन को स्वाधीनता के साथ जोड़ता है और जब हम 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के वर्ण तथा अन्तर्वस्तु का निर्वचन करते हैं तो हमें इस बात से सजीव रहना चाहिए कि न्यूनतम प्रक्रियागत न्याय, विधायी कठोरता जिसके द्वारा सुनवाई की अवज्ञा की जाती है, और प्रतिरक्षा के उचित अवसर प्रदान नहीं किए जाने से वंचित रहते हुए जीवन के घातक जोखिम का ध्यान रखना चाहिए। और यदि यह विचार एक बार अनुज्ञात कर दिया जाता है, तो इसका प्रयोग उस समय तक बढ़ता चला जाएगा जब तक कि आधारभूत स्वतन्त्रता बहिष्कृत नहीं हो जाती। अब हम सार्वभौम घोषणा (यूनिवर्सल डिक्लेरेशन) के अनुच्छेद 10 पर पुनः ध्यान देते हैं ताकि हम यह महसूस कर सकें कि मानव अधिकार केवल शाब्दिक खोखलेपन से युक्त है, यदि 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' नामक संरक्षात्मक कवच को विलुप्त कर दिया जाता है। जब ऐसे अभिवचन व्यावहारिकता के जाने-माने नाम से प्रस्तुत किए जाते हैं, अथवा उनकी दुहाई सार्वजनिक हित अथवा राष्ट्रीय अभिरक्षा के नाम में दी जाती है, तो न्यायालय विचारण के अध्यधीन हो जाते हैं और उनके लिए यह आवश्यक है कि वे यह साबित कर सकें कि सिविल स्वाधीनताएं मात्र अलंकारिक सामग्री नहीं हैं जिनसे कि केवल दिखावा ही किया जा सके, बल्कि वे हमारी उस स्वाधीनता का वैवश्यक सार है जिसे हमने बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है। यदि हम किसी गणतन्त्र को कायम रख सकते हैं तो वह काउंसेल तथा न्यायालय के लिए चेतावनी का काम करेगी। और टाम

पेन ने 'फर्स्ट प्रिंसिपल्स ऑफ गवर्नमेण्ट' पर लिखे अपने शोध-निबन्ध में खतरे की घण्टी बजाई थी जब उन्होंने यह कहा था--

> "जो कोई भी व्यक्ति अपनी स्वाधीनता को अभिरक्षित करता है उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने शत्रु पर भी दबाव डाले जाने से उसे बचाए, कारण यह है, कि यदि वह इस कर्तव्य का अतिक्रमण करता है तो वह एक ऐसा पूर्वोदाहरण स्थापित करता है जो उसका अपना ही गला घोंट देगा।"

बनावटी स्वतन्त्रता निरर्थक है और हमारा यह विनिर्णय पिटीशनर तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह बुभुक्षा पीढ़ित नौकरी की खोज करने वालों, पारिव्राजिका (नन) और उपचारिका (नर्स), राजगीर तथा तरखान, झलाईगर (वेल्डर) और फिटर तथा इससे कहीं अधिक राजनीतिक विरोधियों को लागू होती हैं। अन्तिम कोटि, जिसकी कि अयुक्तियुक्त कहकर भर्त्सना की गई है, स्थापन की उस प्रवृत्ति की अवहेलना करता है जिससे कि वह अनुकूलता के माध्यम से उसे लागू कर सके किन्तु यह सामाजिक परिणाम का स्रोत है। जी० बी० शॉ ने यह कहा है--

> "कोई भी युक्तियुक्त व्यक्ति अपने आपको संसार के अनुसार ढाल सकता है; जहां तक अयुक्तियुक्त व्यक्ति का सम्बन्ध है, वह यह कोशिश करता है कि संसार को अपने विरुद्ध ढाला जाए। इसलिए समस्त प्रगति अयुक्तियुक्त मनुष्य पर निर्भर करती है। (जार्ज बर्नर्ड शॉ--'मैक्सिम फॉर रेवोल्यूशनिस्ट्स)"

पासपोर्ट सम्बन्धी कर्कशता एक वैवश्यक सम्भाव्यता है और इसलिए न्यायाधिपति जैकसन (यूनाइटिड स्टेट्स सुप्रीम कोर्ट) के शब्द यहां समुचित हैं--

> "भेदभाव व्यक्त करने की स्वतन्त्रता ऐसी बातों तक सीमित नहीं है जो अधिक महत्वपूर्ण न हो। यह तो मात्र स्वतन्त्रता का साया ही होगी। इसके तत्व की कसौटी यह है कि ऐसी बातों से विभेद प्रकट करने का अधिकार होना चाहिए जो कि वर्तमान व्यवस्था के अन्तरंग भाग को छूते हैं।"
>
> [**वैस्ट वर्जिनिया स्टेट बोर्ड ऑफ एजूकेशन** बनाम **बारनेट्टो**-- 319 यू० एस० 624 (1943)।]

130. हमारी सांविधानिक व्यवस्था के अधीन, जोरदार रूप से विमति प्रकट करने के फलस्वरूप पासपोर्ट समपहृत नहीं कर लिया जाएगा।

131. आक्षेपित विधान, विशेष रूप से धारा 5, 6 और 10 की परख अनुच्छेद 21 के अधीन भी उपर्युक्त अंकित व्यक्तियों के प्रति प्रक्रिया सम्बन्धी न्याय के सिद्धान्तों पर करनी होगी। सुनवाई करना लाजिमी है, और यह सुनवाई सार्थक, लचीली और वास्तविक तथा परिस्थितियों के अनुकूल होनी चाहिए, न कि औपचारिक तथा कठोर। आपवादिक दशाओं में तथा आपात्कालीन स्थितियों में अन्तरिम उपाय हाथ में लिए जा सकते हैं जिससे कि पासपोर्ट प्राप्त करने वाला युक्ति ऐसी रिष्टि को ग्रहण न कर ले जिससे कि वह सुनवाई किए जाने से पूर्व भाग निकले। नैसर्गिक न्याय का यह समादेश नहीं है कि जब घोड़ा चुरा लिया गया हो तो उसके पश्चात् अस्तबलों को बन्द कर दिया जाए। किन्तु आन्तरिक अभिग्रहण के शीघ्र पश्चात् एक युक्तियुक्त सुनवाई होना आवश्यक है जिससे कि प्रक्रियागत प्रतिकूल भावना को न्यूनतम स्वरूप प्रदान किया जा सके। और जब आवेदक अथवा पासपोर्ट-गृहीता के विरुद्ध तुरन्त अन्तिम आदेश दिया जाता है तो यह आवश्यक है कि लगभग सदैव, सिवाय उन खतरनाक मामलों के जिनमें कि राज्य को अप्रतिकार्य क्षति पहुंचना सुनिश्चित होगा, कारण प्रकट किए जाएं। कोई ऐसी सरकार जो कि जनता की स्वाधीनता के क्षेत्र में गोपनीयता विचरित है न केवल प्रजातन्त्रात्मक सौष्ठव के विरुद्ध कार्य करती है बल्कि वह अपने आपको दफनाने के कार्य में लग जाती हैं। यदि इतिहास से शिक्षा ग्रहण की जाए और स्मरण शक्ति से उपदेश दिया जाए और स्वाधीनता के पतन की ओर अनजाने में प्रयास न किया जाए, तो यह शिक्षा दृश्यमान रूप से हमारे सम्मुख आती है। यह सुनिश्चित है कि सार्वजनिक शक्ति भली भांति अपने अन्तरंग भाग को स्वतन्त्र समाज का तथा पद्धति में निहित करे।

132. अब मैं अनुच्छेद 14 को छोड़ दूंगा चूंकि मैं उस सब से पूर्णतया सहमत हूं जो मेरे विद्वान बन्धु न्यायाधिपति भगवती ने कहा है। उक्त अनुच्छेद में व्यापक प्रक्रियागत शक्ति तथा विविध गुणता विद्यमान है, सार की दृष्टि से वह समतावादी है और तानाशाही के प्रति वह तीव्रग्राहिता अथवा विभेदात्मक है। समता मनमानेपन के विरुद्ध है और

1978(1) eILR(PAT) SC 6

स्वयं प्राधिकारपूर्ण यह कहा गया है (एक्स केथेरा इप्से डीक्षित) कि जननायिकीय सत्तावाद का साथी है। यदि हम प्रचलित घिसी-पिटी अभिव्यक्ति का प्रयोग करें तो केवल कार्यपालिक अतिरेकों के नाइट ही तानाशाही सुन्दरता की देवी, चाहे वह विधायी हो या प्रशासनिक, से प्रेम कर सकते हैं। यदि यह न्यायालय यहां हार मान लेता है तो यह अदृश्य कल्पना का भी परित्याग कर देगा और इसलिए मैं मूलभूत स्वतन्त्रताओं की परिसीमाओं की प्रगति पर जोर देता हूं जिनसे विधि का नियम विवक्षित है। चाहे आप कितने ही बड़े क्यों न हों, विधि आप से ऊंची है।

133. एक छोटा सा भंवर उत्पन्न करने के लिए एक छोटा-सा पत्थर का फेंका गया था। सूक्ष्म रूप से यह सुझाव दिया गया था कि बाह्य देशों में भ्रमण करने को राज्य द्वारा गारण्टीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि उसे विदेशों में राज्यक्षेत्रातीत अधिकारिता प्राप्त नहीं है हमारे समक्ष जो मुद्दा उठाया गया है उसका यह एक निश्चल भ्रम है। किसी की भी यह दलील नहीं है कि भारतीयों को अन्य देशों में हस्तक्षेप करना चाहिए और न ही उनकी सार्वभौमिकता में कोई हस्तक्षेप करना चाहिए ताकि उन देशों में भारतीयों का स्वच्छन्द रूप से आना-जाना सुनिश्चित हो सके। अभिप्राय यह है कि भारत सरकार को किन्हीं भी शास्तियों द्वारा, जो कि उसे अपने नागरिकों पर प्राप्त है, किसी अन्य देश में भ्रमण करने के लिए उन्हें निवारित नहीं करना चाहिए, यदि वह अन्य देश अपने राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत उनके आने-जाने में कोई आक्षेप नहीं रखता है। यह समझना कठिन होगा कि प्रत्यक्ष बात को मिथ्या किस प्रकार समझा जा सकता है।

134. न्यायालय के समक्ष अनुच्छेद के आधार पर जो जटिल समस्या बार-बार विचार-विमर्श के रूप में प्रस्तुत की गई उसका किंचित न्यायिक उत्तर देना आवश्यक है हालांकि, अतिव्याप्ति से मुझे अपने समक्ष प्रस्तुत किए गए सभी या अन्य कुछ प्रश्नों का परित्याग करना पड़ा है स्वयं सिद्ध संहिता के अनुच्छेद 22 को कोश, या कोया बनाने से गोपालन वाले मामले[1] का अधिमत आर० सी० कूपर वाले मामले[2]

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

2 (1973) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

के विनिश्चय के परिणामस्वरूप असफल हो गया है। इतरोक्ति के रूप में मूलभूत सिद्धान्तों के परिवर्तनशील परिणाम जब कि श्रमजीवी और श्रमजीवी नीति द्वारा न्यायालय में प्रकथन किया गया है, आंशिक रूप से सामाजिक अनुसंधान को बढ़ावा देते हैं और हिचकिचाहट से कारकों की विचारधारा की उन अर्धचेतन शक्तियों को परिलक्षित करते हैं जो कि न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं जब चक्र क्रमानुसार दृष्टिकोण **केरल एजूकेशन बिल वाले मामले में**[1] तथा तत्पश्चात् **ऑल इंडिया बैंक इम्पलाइज एसोसिएशन वाले मामले** में और फिर **सकल न्यूज पेपर्स वाले मामले**[2] से होते हुए **कूपर वाले मामले**[3] तक **गोपालन वाले मामले**[4] से अग्रसर होता है और उसके बाद **बैनेट कोलमैन**[5] एवं **शम्भू नाथ सरकार वाले मामले**[6] आते हैं। चाहे जो भी हो, अब विधि सुस्थिर हो चुकी है, जैसा कि मेरा विचार है, कि भाग. 3 का कोई भी अनुच्छेद द्वीप के रूप में नहीं है बल्कि वह महाद्वीप के भागस्वरूप है तथा समस्त भाग का सारांश यह निदेश प्रदान करता है और वह संसंग देता है जिसकी आवश्यकता इन आधारभूत उपबन्धों को निर्वचनों के लिए आवश्यक है। मनुष्य का विभाजन विभिन्न उपांगों में नहीं किया जा सकता और इसी प्रकार सर्वांगीण संविधान के महत्वपूर्ण अधिकारों को भी विभाजित नहीं किया जा सकता जो कि मनुष्य को मानव बनाते हुए संश्लिष्ट करते हैं। यह प्रस्थापना निसंदिग्ध है कि अनुच्छेद 22 किसी विशिष्ट स्थिति में अनुच्छेद 19 को अपवर्णित नहीं करता है, यदि दोनों अधिकारों का भंग किया जाए।

135. अब हम संक्षेप में अनुच्छेद 19 पर विचार करेंगे और कुछ देर के लिए विभिन्न विचारधारा पर ध्यान देंगे। प्रश्न यह है कि क्या राज्य क्षेत्रातीत यात्रा को सुनिश्चित बनाने की स्वतन्त्रता जो कि भारतीय परपत्र का प्राथमिक कर्त्तव्य है वाक् स्वातन्त्र्य तथा अभिव्यक्ति का पहलू है जिसका सम्बन्ध जीविका अथवा उपजीविका से अनुच्छेद 19

---

1 (1962) 2 एस० सी० आर० 269.

2 (1962) 3 एस० सी० आर० 842.

3 (1973) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

4 (1950) एस० सी० आर० 88.

5 (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

6 (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

के अधीन आता है ? न्यायाधिपति भगवती के साथ मेरी पूर्ण सहमति पूर्वोदाहरणों तथा बहुत से मुद्दों के रूप में इस निर्णय का भार हल्का करती है और मुझे कुछ मूलभूत विभ्रम की सृष्टि प्राप्त होती है जिससे समस्त विस्तार स्पष्ट हो जाते हैं और उनसे निष्कर्ष विनष्ट हो जाता है । यह एक लाभदायक विचार है कि सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे सांविधानिक अधिकारों का निर्वचन इस रूप में नहीं करना चाहिए जो कि भाग 3 में सन्निविष्ट हैं जिससे कि उनका दम घुट जाए या वह ठंडा पड़ जाए । जो कि विधि की प्रक्रियाओं के कारण महत्वपूर्ण हैं, ऐसे शाश्वत मूल्यों को व्युत्सृत कर दिया जाए जो कि उन व्यक्तियों के हृदयों में ज्वाला उत्पन्न कर रहे हैं जिन्होंने हमारी स्वाधीनता प्राप्त की थी और हमारे आधारभूत दस्तावेज़ को बनाया था । हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब यह न्यायालय किसी विधि को अधिकथित करता है तो तदर्थ स्वरों की बजाए आवश्यक स्वरों को अधिकथित किया जाए, अस्थायी शोरगुल की बजाए उदात्त सच्चाइयों का वर्णन किया जाए जिससे कि संविधान के आधुनिक संगीत के प्राधिकारपूर्ण स्वरों को तैयार करने की न्यायिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में मार्गदर्शन प्रदान किया जा सके ।

136. विदेशों में भ्रमण करने की स्वतन्त्रता के मुकाबले में अनुच्छेद 19 की चर्चा करते हुए हमें एक आधारभूत सूचक का स्मरण रखना होगा । यह सही है कि उच्च सांविधानिक नीति अनुच्छेद 19(2) से (6) में अनुच्छेद 19(1) के अपवादों को विहित करके समग्र सामाजिक हित की सामंजस्यपूर्ण व्यष्टिगत स्वतन्त्रताओं के साथ मेल खाती है, तथापि आधारभूत वस्तु स्वतन्त्रता है, न कि उसका अपवाद । इससे भी एक महत्वपूर्ण यह है कि जहां तक निर्बन्धनों का सम्बन्ध है वे केवल इस हद तक अनुज्ञेय हैं कि उनका सम्बन्ध अनुमोदित विषय से है । उदाहरणार्थ, व्यापक रूप में 'सामान्य जनता' के हितों का पालन परिवार नियोजन प्रोग्राम द्वारा पूरा हो सकता है । किन्तु, इस बात पर जोर देना सांविधानिक रूप से अनुचित होगा कि यदि नसबन्दी प्रमाणपत्र पेश न किये जाएं, तो पासपोर्ट देने से इनकार कर दिया जाएगा । इसी प्रकार यह सार्वजनिक हित में होगा कि नगरों में सड़कों को चौड़ा किया जाए, किन्तु यदि उसे सड़क के पास रहने वाला व्यक्ति अपना

मकान गिरवाने से इनकार कर देता है जो कि उसकी सड़क की ओर बढ़ा हुआ हो तो उसके पासपोर्ट को छीन लेना बहुत भद्दी बात होगी। यह निश्चित है कि राज्य की अभिरक्षा एक सर्वोपरि विचार है किन्तु क्या सरकार तानाशाही तरीके से पार्टी को देश के समरूप रख सकती है और इस कारण यात्रा की दस्तावेजों को देने से इनकार कर सकती है, जब कि सम्बद्ध व्यक्ति बाहर गये हुए हों। वह सत्तारूढ़ दल की परस्पर-विरोधी नीतियों पर कटाक्ष कर सकती है अथवा उस समय विद्यमान सरकार की आयोजना सम्बन्धी नव व्यवस्था के बारे में आक्षेप कर सकती है? क्या यह सोचा जा सकता है कि कोई भारतीय इस कारण विदेश जाने के अपने हक से वंचित हो जाएगा क्योंकि उसके गलमुच्छे (साइड बर्न्स) अत्यधिक बढ़े हुए हैं अथवा उसकी केश-विधा या उसके कपड़े इतने विचित्र हैं कि किसी उच्च पदाधिकारी को उनसे ठेस पहुंच सकती है? निष्कर्ष यह है कि क्या स्वतन्त्रता केवल तभी कम की जा सकती यदि व्यावृत्ति उपखण्डों में सूचीबद्ध आधार सीधे विनिर्दिष्टतया, सारवान रूप से तथा निश्चित तौर पर लागू होते हैं ताकि आधारभूत अधिकार विनष्ट न किया जा सके। निर्बन्धन आवश्यक होते हैं और वे कानून द्वारा, विधिमान्य रूप से बनाए जाते हैं, किन्तु अत्यन्त व्यापक रूप से ब्रुश से चित्रित करना और ऐसी शक्ति प्रदान करना कि सर्वत्र विदेशों में जाया जा सके खुलमखुला अतिव्याप्ति है और अविधिमान्य रूप से अवैध है। जहां अनुपातक खतरा काबू में आ सकने वाला हो वहां 'भय सम्बन्धी विधि' लागू नहीं हो सकती। यह एक तुलनात्मक प्रक्रिया है जो किसी भी ओर अत्यन्त भारी नहीं है। तथापि, पर्यवेक्षण सुदृढ़ तथा उचित है। जहां आदेश विपरीत, अयुक्तियुक्त, असद्भावपूर्ण अथवा किसी भी तत्व द्वारा समर्थन प्राप्त न हो, वहां न्यायालयों को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। हमारी पद्धति के अधीन न्यायालय के रिट सरकार को नहीं चला सके क्योंकि ऐसी दशा में न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायिक राज्यक्रान्ति (कूप) का रूप धारण कर सकते हैं। किन्तु 'विधिविहीन' विधि तथा कार्यपालक अतिरेक को रोक दिया जाना चाहिए, अन्यथा संविधान में से उसकी शक्तियों को निकालकर न्यायाधीश की शक्ति को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। वी० जी०

राव वाले मामले[1] की भाषा में एक आज्ञापक मार्गदर्शन दिया गया हैं जिसके द्वारा न्यायालय—

> "निर्बन्धन की युक्तियुक्तता समाज में जीवन के मूल्यों, किसी विशिष्ट समय में उपलभ्य परिस्थितियों को, जब कि निर्बन्धन लगाया जाता है, नियंत्रित किए जाने वाले दोष का आकार और आकस्मिकता कितनी है तथा ऐसी और कौन सी बातें हैं।"

137. बहिर्गमन के अधिकार की विद्यमानता तथा उसके तिरोहित होने के लक्षण क्या हैं? क्या कोई ऐसा 'डरपोक' मनुष्य रहता है जिसकी आत्मा इतनी मृत है कि यदि वह अपने देश को छोड़कर चला जाता है, तो वह स्वदेश लौटना नहीं चाहेगा? तो भला क्यों कोई निर्बन्धन होना चाहिए? इस प्रकार जो प्रश्न साधारण रूप से प्रस्तुत किया गया है उसके अन्तर्गत तथापि अभिरक्षा, संवेदनशीलता प्रभुता, जटिलता एवं अन्य आन्तरिक तथा बाह्य तत्वों का पुट होना चाहिए और यही कारण है कि जिस मामले का विनिश्चय हम कर रहे हैं उसका आकार इतना व्यापक रूप से फैला हुआ है। न्यायालय में जो निवेदन किए गए थे उन से प्रस्फुटित एक गंभीर परिलक्षण को मैं व्यक्त करना आवश्यक समझता हूं और वह यह है कि नागरिक स्वाधीनता के बावजूद किसी लोक-प्रिय सरकार का विश्वास होना या न होना तथा निर्बन्धतात्मक विधान की सूक्ष्म शब्दावली पर ध्यान दिए बिना वरिष्ठ न्यायपालिका द्वारा सदा रहने वाली सतर्कता एवं उज्जवल कार्यकलाप, जो कि समाज के अंग होते हैं, प्रत्येक ऐसी स्वतंत्रता को कायम रखने के लिए जिसकी कि हम सराहना करते हैं सर्वदा चुकाने वाला मूल्य है। कारण यह है कि यदि उस पर नियंत्रण न लगाया जाए, तो जितनी ही बड़ी शक्ति होगी उतनी ही खतरनाक उस का दुष्प्रयोग होगा। यात्रा अथवा बहिर्गमन की स्वतंत्रता से इनकार करना जिसका सम्बन्ध किसी अमान्य व्यक्ति से हो उसके प्रति अथवा उसके समान जो बहिर्गमन के योग्य न हो उसे या उस प्रकार के बहुत से व्यक्तियों को इनकार करने की बाबत है और इसलिए किसी इच्छुक यात्री के बारे में 'हां' या 'न' कहना सरकार के अधिकारियों पर निर्भर नहीं करता है,

---

[1] (1952) एस० सी० आर० 597.

जब तक कि नम्रतापूर्वक तथा सादर 'सैंसर' सांविधानिक रूप से मंजूरशुदा विधायी सिद्धान्तों द्वारा न किया गया हो यदि स्वाधीनता की वास्तविकता समय के पागलपन अथवा शक्ति के अभिमान के अंतर्गत न आ जाए। इस बात को दोहराना कदापि उचित नहीं है कि जहां विधियां प्रारंभ होती हैं वहां कठोरता प्रारम्भ होती है, और विधि अवैध रूप धारण कर लेती है, भले ही वह तीन विधायी पाठ तथा सम्मति द्वारा विधिसम्मत बनती है। यदि वह सांविधानिक उपबन्धों के अनुकूल नहीं है, जो कि सरकार की दो न्यायपीठों द्वारा न्यूनीकरण से परे हो, 'अभिरक्षा,' 'लोकव्यवस्था, 'लोकहित' और 'मैत्रीपूर्वक विदेशी सम्बन्ध' जैसी जटिल अभिव्यक्तियों के संदर्भ में हमें इस बारे में सचेत रहना चाहिए कि शाब्दिक लेबलों की बजाए वास्तविक मूल्य सांविधानिक विनिधानों तथा अभिनिषेधों की छानबीन तथा न्याय-निर्णयन के अंतर्गत लागू होने वाले विचार होते हैं। सरकारें आती जाती रहती हैं, किन्तु जनता के मूल अधिकार समयानुसार राजनीतिक सरकारों के इच्छानुसार मूल्यों के अध्यधीन नहीं हो सकते।

138. विद्वान् महा अटर्नी ने यह दलील दी कि विदेश यात्रा करने का अधिकार अनुच्छेद 19(1)(क) (ख) (ग) (च) अथवा (छ) का अंग नहीं है और इसलिए अयुक्तियुक्त रूप से भी यात्रा पर रोक लगाना अनुच्छेद 19 के अंतर्गत नहीं आता है। इसके उपांग के रूप में तथा पृथक दलील के रूप में भी यह बहस की गई कि पासपोर्ट विधि का प्रभाव (और तदधीन इनकार किया जाना) वाक् स्वातंत्र्य, संगम अथवा वृत्ति पर कोई आघात नहीं है और इसलिए इसे अभिखण्डित नहीं किया जा सकता, भले ही यह अनुच्छेद 19(2)(4) और (6) को अतिव्याप्त करता हो। यह प्रस्तुतीकरण इस विवाद्यक को पेश करता है कि 'हमारी स्वतंत्र पद्धति का पहलू क्या है?' क्या वाक्स्वातंत्र्य आवागमन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है? क्या वृत्ति के स्वातंत्र्य की समाप्ति, ऐसी अवस्था में हो जाएगी जिसमें कि अनुच्छेद 19(च) के प्रति निर्देश से पासपोर्ट देने से इनकार कर दिया जाता है और विदेश में प्रस्तावित नौकरी को ग्रहण करने से निषिद्ध कर दिया जाता है? क्या संगम की स्वतंत्रता इतनी महत्वपूर्ण है कि अंतर्राष्ट्रीय वृत्तिक अथवा राजनीतिक संगठन की सदस्यता अनुच्छेद 19(4)

का पालन किए बिना कार्यपालक-विधायी उपबन्धों का अनुसरण न करके समाप्त की जा सकती है? यह चित्र स्वरूप विचारधारा संविधान द्वारा अनुप्रमाणित की गई है और वह उसके मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आती है। कोई अन्तर्राष्ट्रीय निदान हमारे राष्ट्रीय मांग पत्र पर प्रभाव नहीं डालेगा। मातृभूमि में निवास करने वाला प्राणी हमारे सार्वभौम सांविधानिक पर्यवेक्षण के अंतर्गत आता है (देखिए अनुच्छेद 51)

139. मेरे विचार में, कुछ स्थितियों में इधर-उधर आने-जाने के अंतर्गत आवश्यक रूप से विनिर्दिष्ट मूलभूत अधिकारों का प्रयोग सम्बद्ध अथवा सन्नद्ध अधिकार के रूप में है। साधारण यात्रा अनुच्छेद 19 से सम्बद्ध है और वह आवश्यक रूप से मूलभूत नहीं है। वाक् स्वातंत्र्य देश से बाहर न जाकर भी उचित रूप से कहा जा सकता है, हालांकि आत्म बोल-चाल और एकांत में किए गए गायन निस्तब्ध संतों और गेरूए वस्त्र पहनने वाले व्यक्तियों, भजनों और उत्सवों के इस प्राचीन देश में प्रचलित नहीं हैं। इसके अलावा हो सकता है कि यात्रा के अंतर्गत साधारणतया कार्यवाही मात्र की जाए और उत्सव किए जाते हैं। पुनः, यात्रा केवल साधारण रूप से 'कार्यवाही' और आनुषंगिक रूप से 'अभिव्यक्ति' यदि हम **जेवल वाले मामले**[1] की शब्दावली को ग्रहण करें।

140. देश के राज्य क्षेत्र में आने-जाने में आक्षेपकृत आदेश का आभास नहीं मिलता है, किन्तु इससे सारी बात समाप्त नहीं हो जाती है। कारण यह है कि यदि हमारे विचार समयानुसार हैं, तो यह सामान्य बात है कि संसार—जो कि राष्ट्रों का कुटुम्ब है—संचार करता है और मनुष्यों के समूह-गीत होते हुए बहिर्देशों में गमन करते हैं और उन में सामंजस्य भी रहता है जिसकी मात्रा का ज्ञान इतिहास को भी नहीं है। विचारधाराएं और आदतें इससे कहीं परे होती हैं। पर्यटक विमान सेवाओं में भीड़ लगाये रहते हैं, नौकरियों की खोज में व्यक्ति पासपोर्ट कार्यालयों में भागते फिरते हैं, भाषण-पर्यटन, सांस्कृतिक विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय धार्मिक सभाएं वैज्ञानिक तथा विधि सम्बन्धी अध्ययन तथा कर्मशालाएं और गोष्ठियाँ बढ़ती रहती हैं और अंतर्राष्ट्रीय संगमों का भरमार रहता है—यह सब संसार की शांति और मनुष्य की प्रगति के

---

1 381 यू० एस० 1; 14 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179.

लाभ के लिए है, सिवाए वहां के जहां प्रभुसत्ता को अत्यन्त जोखिम पहुंचती हो, राष्ट्रीय अभिरक्षा खतरे में हो और अन्य सारवान विचारधाराएं विद्यमान हों जिनके बारे में संविधानों तथा न्यायालयों ने आसानी से अभिज्ञात कर दिया है। हमारी स्वतंत्र पद्धति इतनी कमजोर अथवा लचीली नहीं है कि उसे बाह्य देशों में नागरिकों को रोकथाम लगाने के सम्बन्ध में आतंकित किया जाए सिवाए संचालित पर्यटनों अथवा संचालित दौरों के, जिनके बारे में बाहर के देशों में जाने के लिए मंजूरी केन्द्रीय कार्यपालिका द्वारा दी गई हो और जिसका सम्बन्ध अनुच्छेद 19 से न हो। इसके इलावा मूल प्रश्न यह उद्भूत होता है क्या बाह्य देशों में जाना वाक्स्वातंत्र्य वृत्ति सम्बन्धी स्वतंत्रता से काम-काज करना आदि का इतना महत्वपूर्ण भाग है कि पूर्वतर का प्रत्याख्यान करना शेष का उल्लंघन होगा—

141. मैं यह स्वीकार करता हूं कि केवल इस कारण कि भाषण देने के अंतर्गत अधिकर किञ्चित आना जाना पड़ता है, इसलिए कहीं भी यदि स्वतंत्र रूप से आने जाने से इनकार किया जाए तो वाक्स्वातंत्र्य नहीं हो सकता। सांविधानिक पंक्तियां इस रूप में रेखांकित की जानी चाहिएं कि मूल अधिकारों का समूह समाज की शांति, अभिरक्षा और परिशान्ति को अत्यन्त जोखिम के प्रति उच्छिन्न नहीं करता, यह वाक्स्वातंत्र्य का विस्तार इस रूप में नहीं कर सकता कि वह यात्रा का अभिन्न अंग बन सके।

142. टॉमस एमरसन ने अमेरिकी विधि का सारांश इस रूप में किया है कि वह भारतीय पद्धति में भी झंकृत होता है—

> "गणतंत्रात्मक नीति में अभिव्याति की स्वतंत्रता के मूल्य तथा कृत्य स्पष्ट हैं। अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य, निश्चित रूप से वैयक्तिक आत्मपूर्ति को सुनिश्चित बनाने का माध्यम है। मनुष्य का उचित ध्येय मानव के स्वरूप में उसके आचार और उसकी क्षमताओं की प्राप्ति है। इस आत्मप्राप्ति के लिए मस्तिष्क स्वच्छन्द होना चाहिए।"

पुनश्च

> "अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ज्ञान को बढ़ाने के लिए और सच्चाई को खोजने के लिए एक आवश्यक प्रक्रिया है। इसी

प्रकार गणतंत्रात्मक समाज में यह विनिश्चय करने हेतु सम्मिलित होने के लिए भी आवश्यक है। वास्तव में, स्वतंत्र अभिव्यक्ति एक-दूसरे के साथ झगड़ा करने की बजाए आपस में युक्तिसंगत बातचीत करके स्थिरता को अग्रसर करती है। वाक् स्वातंत्र्य के इस मूल्य तथा कृत्य को देखते हुए, परिसीमा सम्बन्धी ऐसे कौन से आधार हैं जो उन मूल्यों तथा कृत्यों में, जो सामाजिक उद्देश्यों में रुकावट डाले बिना अथवा सामाजिक हित को हानि पहुंचाये बिना उन मूल्यों और कृत्यों में किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित करेंगे? पासपोर्ट सम्बन्धी विधि के बारे में पासपोर्ट की समस्या पर हमें इस पृष्ठभूमि में विचार करना होगा। इस प्रश्न पर दो प्रकार से दृष्टिपात किया जा सकता है............एक तो स्वाधीनता के पहलू के रूप में, और दूसरे अभिव्यक्ति के पहलू के तौर, पर।" टामस एमरसन ने इन दो दृष्टिकोणों से पासपोर्ट के बारे में टिप्पण दिये हैं,

संभाव्य रूप से बाहरी देशों में यात्रा का वर्गीकरण "कार्यवाही" के रूप में किया जाना चाहिए, न कि "अभिव्यक्ति" के रूप में सामान्य शब्दों में, यात्रा विचारों के संचार की अपेक्षा शारीरिक रूप से आना-जाना है। यह सही है कि बाह्य देशों में यात्रा प्रायः अभिव्यक्ति का कारण होती है, जैसे कि जब उसे किसी पत्रकार द्वारा संवाद इकट्ठा करने के लिए किसी विद्वान् द्वारा भाषण देने के लिए किसी विद्यार्थी द्वारा मात्र किसी साधारण नागरिक के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए जिससे कि संसार के विषय में उसकी जानकारी में वृद्धि हो जाए। तथा विदेश यात्रा के कई अन्य पहलू होते हैं और कृत्य की दृष्टि से इसमें विभिन्न प्रकार के विनियम अपेक्षित हैं कि कम-से-कम सामान्य प्रस्थापना के रूप में इसे "कार्यवाही" समझना ही होगा। कार्यवाही के तौर पर यह ऐसी स्वाधीनता है जो चतुर्थ तथा चौदहवें संशोधन के सम्यक् प्रक्रिया खण्ड द्वारा संरक्षित है। प्रथम संशोधन अभी भी दो प्रकार से सुसंगत है—(1) विदेशी यात्रा में पर्याप्त अभिव्यक्ति सम्बन्धी तत्व विद्यमान हैं जिनसे कि प्रथम संशोधन

का संरक्षक प्रभाव लागू हो जाता है, जिसके द्वारा न्यायालयों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सम्यक् प्रक्रिया तथा अन्य सांविधानिक सिद्धांतों को विशेष सतर्कता से लागू करें, (2) विदेश यात्रा पर अधिरोपित शर्तें, जो ऐसे आचरण पर आधारित हैं जिसका वर्गीकरण अभिव्यक्ति के रूप में समझा जाता है, अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को हानि पहुंचाती है और इसलिए सीधे प्रथम संशोधन सम्बन्धी प्रश्नों को उठाती है।"

यात्रा वाणी की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है; यह ऐसी वाणी है जो आचरण से सम्बद्ध है। न्यायाधिपति डगलस के शब्दों में,—

"शान्ति के समय में यात्रा करने सम्बन्धी अधिकार पर निर्बन्धन इतने विशिष्टीकृत होने चाहिएं कि प्रथम संशोधन सम्बन्धी अधिकार तब तक प्रवारित न कर दिया जाए जब तक उसके प्राकथन के मार्ग में कोई स्पष्ट विरोधी राष्ट्रीय हित बाधा न डालता हो।"

143. मैं अपने भाग 3 की स्कीम में इसे पूर्णतया विधिमान्य नहीं समझता हूं किन्तु इसके प्रति प्रोज्जवल युक्ति के रूप में निर्देश करता हूं।

144. संविवाद का नाजुक किन्तु कठिन दौर उस समय उत्पन्न होता है जब वाक् स्वातंत्र्य तथा वृत्ति स्वातन्त्र्य विदेशी यात्रा के साथ आत्यन्तिक रूप से जुड़े हुए हों। पासपोर्ट अधिनियम के निबन्धनों के अनुसार अभिव्यक्ति को निषिद्ध नहीं किया गया था और उससे केवल कार्यवाही को विनियमित किया गया है—यह शब्दावली मुख्य न्यायाधिपति वारन द्वारा दिए गए **जेमल वाले मामले**[1] से ग्रहण की गई है। किन्तु हमें अन्तर्राष्ट्रीय यात्रा पर दृष्टिपात उसकी आसन्नता तथा उसे समाप्त करने के वास्तविक परिणाम के रूप में राज्य की शक्ति के माध्यम से करना होगा जिसका प्रयोग धारा 5, 6 और 10 के साथ पठित, पासपोर्ट अधिनियम की धारा 3 के अधीन किया जाना है। यदि कोई अधिकार अभिव्यक्त शब्दों में भाग 3 के अर्थान्तर्गत मूलभूत अधिकार नहीं है तो क्या वह अनुच्छेद 19 के विचारों के साथ पठित

[1] 381 यू० एस० 1; 14 लॉयर्स इडिशन सैकेण्ड 179.

अनुच्छेद 13 से बच सकता है, भले ही अव्यवहित प्रभाव, सारवान् भावना, निकटवर्ती अर्थबोध अथवा आवश्यक परिणाम वाक्स्वातंत्र्य अथवा किसी व्यक्ति की वृत्ति के निवारण के रूप में हो ? इसका उत्तर यह है कि सहयोजित अधिकार, जो सामूहिक रूप से एकीकृत हों, निश्चित रूप से ऐसे होने चाहिएं जो वैसी ही उन्मुक्ति प्राप्त करते हों अन्यथा नहीं।

145. यहां तीन प्रकार के मामलों पर विचार किया जा सकता है एक तो वे मामले जिन्हें कि विधायी उपबंध अथवा कार्यपालिक आदेश अभिव्यक्त रूप से पासपोर्ट अनुदत्त करते समय मूलभूत अधिकार के विदेशों में प्रयोग को प्रतिषिद्ध करता हो। दूसरे, ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें कि आदेश देखने में निर्दोष प्रतीत होता हो, तथापि विदेश जाने की अनुज्ञा सम्बन्धी इनकारी निश्चित और अव्यवहित रूप से वाक्स्वातंत्र्य तथा वृत्तिक कामकाज या कारबार का प्रत्याख्यान करती हो। तीसरे, हो सकता है कि स्वयं मूलभूत अधिकार आवागमन को राष्ट्रीय सीमाओं पर ध्यान दिए बिना प्रतिषिद्ध करता हो। द्वितीय तथा तृतीय मामले प्रायः संदिग्ध होते हैं और परस्पर अतिव्याप्त भी हो सकते हैं।

146 यहां प्रथम वर्ग का दृष्टांत दिया जा सकता है। यदि पासपोर्ट प्राधिकारी विनिर्दिष्ट रूप से अनुज्ञा के साथ इस निदेश की शर्त लगा देता है कि सम्बद्ध व्यक्ति बाहर जाकर सभाओं में भाषण नहीं दे सकेगा अथवा वह पत्रकार अथवा प्राध्यापक (प्रोफेसर) का पेशा विदेश में नहीं कर सकेगा तो ऐसा आदेश अनुच्छेद 19(1)(क) अथवा (च) का उल्लंघन करता है और वह ऐसी दशा में विधिशून्य होगा जिसमें कि अनुच्छेद 19(2) तथा (6) का पालन नहीं किया जाता है। द्वितीय वर्ग का स्पष्टीकरण तथा उसकी परीक्षा तृतीय वर्ग के पश्चात् की जा सकती है क्योंकि वह कम लागू होता है। यदि कोई व्यक्ति अंतर्राष्ट्रीय विमानचालक (पायलट), नक्षत्रयान चालक (एस्ट्रोनाट), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का न्यायाधीश, सांसारिक परिशान्ति परिषद का सचिव, अथवा इसी प्रकार के किसी निकाय का अध्यक्ष हो तो उसकी विशिष्ट वृत्ति न केवल इस बात की अपेक्षा करती है कि भारतीय राज्य क्षेत्र से बाहर जाकर यात्रा करके प्रशिक्षण ग्रहण किया जाए बल्कि स्वयं इसका सार ही अंतर्राष्ट्रीय यात्रा है। ऐसे क्षेत्र में बाहर जाने का कोई अधिकार न देना किसी वृत्ति या जीविका को सम्पन्न करने के विरुद्ध होगा। इसी प्रकार, कोई क्रिकेट अथवा टैनिस का खिलाड़ी भी, जिसे इस हेतु रखा गया हो, सांसारिक पर्यटन के बिना दक्षतापूर्वक

1978(1) eILR(PAT) SC 6

कार्य नहीं कर सकता । इसी प्रकार वाक्स्वातंत्र्यको ऐसी दशा में आघात पहुंचेगा जिसमें कि उपनिवेश वादी लोगों की स्वाधीनता के लिए अभियान चलाया जाता है अथवा मानव-वध के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संगठन के समक्ष मामला प्रस्तुत किया जाता है । ऐसे मामलों में विदेश यात्रा से इनकार करके और राष्ट्रीय पासपोर्ट न देकर गम्भीर आघात पहुँचाना होगा और इसका समाधान केवल तभी किया जा सकेगा जबकि अनुच्छेद 19(2),(4) अथवा (6) के सुसंगत व्यावृत्ति उपबन्धों का पालन किया जाए ।

147. मेरे विचार में, अभी तक मामला साधारण रूप धारण कर रहा है । किन्तु, द्वितीय प्रवर्ग के गम्भीर क्षेत्र के अन्तर्गत प्रवेश करना इतना सुगम नहीं है ।

148. मान लीजिए कि कोई अधिवक्ता या चिकित्सक-विशेषज्ञ अथवा निर्यातक, मिशनरी अथवा गुरु को वृत्तिक आधार पर अथवा भाषणमाला के समनुदेशन के आधार पर यात्रा करनी पड़ती है । यदि उसे पासपोर्ट देने से इनकार कर दिया जाए, तो उसे अपनी वृत्ति का निर्वहन करने में प्रभावी रूप से पंगु बना दिया जाएगा । ऐसी दशा में पासपोर्ट के अनुदान संबंधी रोकथाम (अथवा इसका पश्चात्वर्ती अभिगृहीत कर लिया जाना या प्रत्यासंहृत कर लिया जाना) अभिव्यक्ति अथवा वृत्ति के अधिकार का अतिक्रमण है और यह उसका प्रत्यक्ष प्रभाव, प्रत्यक्ष परिणाम, अव्यवहित प्रभाव होगा । ऐसा अतिक्रमण तब तक असांविधानिक होगा जब तक कि अनुच्छेद 19 (2) से (6) का पालन न किया जाए । मूलभूत स्वतंत्रता के संबंध में केवल सारवान् न्यायोचित विधि को अपवादों के अधीन रखेगा । निस्संदेह राष्ट्र अभिरक्षा, प्रभुसत्ता, लोक व्यवस्था और लोकहित निश्चित रूप से ऐसी उच्च कोटि के होने चाहिए कि उनसे भारी आतंक पहुंच सके । इन सिद्धान्तों का अवमूल्यन इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए कि उनसे कार्यपालिका की अत्यधिक संवेदनशीलता बनी रहे अथवा राज्य को न्यूनतम खतरे बने रहें । हमारा राष्ट्र इतना जटिल अथवा कमजोर नहीं है कि वह ऐसी दशा में धराशयी हो जाएगा यदि कुछ-एक गड़बड़ करने वाले व्यक्ति विदेशों से आकर उसके सुन्दर मुखड़े पर पथराव करेंगे । कुत्ते तो भौंकते रहेंगे, किन्तु कारवां गुजर जाएगा, और किसी पार्टी को, जो सत्तारूढ़ हो, खतरा वैसा खतरा नहीं है जिससे कि राज्य की अभिरक्षा अथवा प्रभुसत्ता को ठेस लगे । हो सकता है कि कभी-कभार, कोई भ्रष्टतापूर्वक सरकार जो कि निस्तब्धता को थोपती है दूर-दराज़ देश में रह कर आलोचना को प्रतिषिद्ध न कर

1978(1) eILR(PAT) SC 6

सके, भले ही यह सरकार की अच्छाई के लिए उचित हो। सभी सच्चे देशभक्त इस बात से सहमत हैं कि स्वतंत्र जनता के लिए सर्वत्र स्वछन्द विवेचन के क्षेत्र की सीमा सर विनस्टन चर्चिल द्वारा ऐतिहासिक संसर प्रस्ताव के समय हाउस ऑफ कॉमन्स में जोरदार शब्दों में मुखरित की गई थी जबकि ब्रिटेन हिटलर की फौजों के हाथों बुरी तरह से पिट रहा था—

> "अब यह विस्तृत विचार-विमर्श अन्तिम चरण पर पहुंच गया है। युद्ध के समय में हमारी संसदीय संस्थाओं की अनियमित स्वाधीनता का यह कितना अच्छा उदाहरण है। प्रत्येक ऐसी बात, जो विचारगत की जा सकती है अथवा जिसे प्रस्तुत किया जा सकता था, उसका प्रयोग सरकार में विश्वास को कमजोर बनाने के लिए किया गया है, उसका प्रयोग यह साबित करने के लिए किया गया है कि मंत्री निपुण नहीं है और इससे उनके आत्म विश्वास को कमजोर बना दिया गया है ताकि सेना नागरिक शक्ति से प्राप्त उस समर्थन में अविश्वास करे जो उसे मिल रहा है, कर्मकारों के विश्वास को भी उन हथियारों के बारे में शिथिल बना दिया गया है जिनका निर्माण करने के लिए वे इतना अधिक प्रयत्न कर रहे हैं। सरकार को एक ऐसी अस्तित्वहीन संस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिस पर प्रधानमंत्री का सम्पूर्ण कब्जा है और तत्पश्तात् उसे स्वयं अपने हृदय में अविश्वास दर्शित करने के लिए छोड़ दिया गया है और संभव तया राष्ट्र की नजरों में भी उसे गिरा दिया गया है। यह सब सामग्री तार और रेडियो द्वारा संसार के समस्त भागों में फैला दी गई है, जिससे कि हमारे सभी मित्रों को धक्का पहुंचा है और सभी शत्रु प्रसन्न हो गए हैं और मैं ऐसी स्वाधीनता के पक्ष में हूं जिसका प्रयोग कोई अन्य देश नहीं करेगा और न ही करने की हिम्मत ऐसे नाजुक खतरे के समय में करेगा जिसमें से हम गुजर रहे हैं।"

मैं इस बात से पूर्णतया सहमत हूं कि राष्ट्र के स्वास्थ्य, धन और सजीव बने रहने अथवा उसकी प्रभुता के लिए गुप्तचरों, गद्दारों, तस्करों और तोड़फोड़ करने वालों को पासपोर्ट नहीं दिया जाएगा जिससे कि वे विरोधी देश में जाकर सार्थक रूप से अपनी घिनौनी योजना में सफल न हो सकें। किन्तु पासपोर्ट ऐक्ट को लागू करते समय अतिव्यापक, अतिचिन्तनशील

समरूप भावना तथा राजनीतिक अविश्वास को मन के अन्तर्गत इस प्रकार बढ़ावा नहीं दिया जाएगा कि उससे अति कठोर अथवा स्नायु-दुर्बलता का प्रयोग करते हुए पासपोर्ट देने से इनकार न किया जाए और न ही उसे असीमित रूप से अधिहृत किया जाए अथवा अन्तिम तौर पर प्रत्यासंहृत कर लिया जाए––ये ऐसे तथ्य हैं कि यदि उनका निरपेक्ष रूप से मूल्यांकन किया जाए, तो हो सकता है कि वे अत्यंत साधारण रूप धारण कर लें। यही कारण है कि सांविधानिक दृष्टि से इन उपबंधों का अध्ययन किया गया है जो कि युक्तियुक्तता की कसौटी के अनुसार बनाई गई है और नैसर्गिक न्याय द्वारा उन्हें मानवीकृत किया गया है। यह अधिनियम तो बना रहेगा, किन्तु आदेश समाप्त कर दिया जाएगा जिसके लिए कारण न्या० भगवती ने पूर्णतया उपवर्णित किए हैं। और इस अर्थान्वयन के आधार पर सांविधान का वास्तविक मूल्य विविध सरकारी आदेशों के मुकाबले में सफलता प्राप्त करता है और वस्तुतः विद्वान् महा अटर्नी (तथा अपर महा सालिसिटर जो उनके साथ हाजिर हुए थे) ने विचक्षण तथा सराहनीय दृष्टिकोण दर्शित करते हुए स्वयं सैद्धान्तिक तथा प्रगतिशील वास्तविक वाद दिखाते हुए वर्तमान विवाद के सुचारु रूप से हल किए जाने के बारे में इस रीति में सहमति प्रकट की थी जो कि मेरे विद्वान् बन्धु के निर्णय में उपवर्णित है।

149. निष्कर्ष के आधार पर एक चेतावनी देना उचित होगा जिससे कि इस मामले से मेरे विचलित होने को विधिमान्यता प्राप्त होती है। हमारा देश, अपनी सभी आशाओं, अपनी सभी वेदनाओं तथा आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए कदापि इस बात को नहीं भूलेगा कि स्वाधीनता वर्ष प्रति-वर्ष पुनरुज्जीवित की जाती है, कि स्वाधीनता उस रूप में सामने आती है जिसमें कि उसका प्रयोग किया गया हो, कि हमने एक गणतन्त्र प्राप्त कर लिया है जिसे कायम रखना हमारा काम है और पुलिस राज्य और जनता के राज्य के बीच अंतराल भागतः उसकी पासपोर्ट संबंधी नीति में स्थित है। आज एक निर्धन व्यक्ति से निर्धन देश में पासपोर्ट को प्राप्त करने में इसलिए असफल रहता है क्योंकि इस सिल-सिले में सदैव पुलिस जांच की जाती है, सम्पत्ति संबंधी अपेक्षा पर जोर दिया जाता है और अन्य अपरिहार्य प्रक्रिया संबंधी बाधाएं उपस्थित की जाती हैं और यदि गोपनीय जानकारी देने वालों, पुलिस रिपोर्टों, निर्लज्य

कानाफूंसी करने वालों और राजनीति संबंधी मिथ्या लांछन लगाने वालों की पद्धति, जो कि 'लोक हित' में सिद्धान्तबद्ध तथा संस्थागत की गई है बनी रहती है, तो नागरिक स्वाधीनता को विधिक रूप से सांविधानिकता प्राप्त हो जाएगी--जो कि एक ऐसी अत्युच्च स्थिति है जिसका विरोध निरन्तर करना होगा। किसी विशिष्ट मामले के गुणागुण के अलावा बहिर्गमन अथवा प्रवेश के जनता के अधिकार को पुलिस शक्ति के अधीन रखा जाता है तो स्वाधीनता तब तक खतरे में रहेगी जब तक कि नीति सुनिश्चित संक्रियात्मक रूप से अभिज्ञात मूल्यों तथा लांछन लगाये जाने से पूर्णतया सुरक्षित हो। बर्टरन्ड रस्सल ने हमारा ध्यान एक ऐसे विषय के प्रति आकृष्ट किया है जिस पर प्रशासन को भली-भीति ध्यान देना होगा—

> "हम सब अच्छे और बुरे विचारों का सम्मिश्रण हैं जो कि उत्तेजित भीड़ के अन्तर्गत विद्यमान हैं। अधिकतर पुरुषों यह प्रवृत्ति रहती है कि वे उस समस्त विचारधारा का अनुसरण करते हैं जो भिन्न-भिन्न होती है। इसके अलावा किसी भी वरिष्ठता संबंधी दावे के प्रति घृणा भी होती है जो कि बहुधा मूर्ख व्यक्तियों को किंचित विलक्षण-बुद्धि लोगों के खिलाफ बना देती है। ऐसा हेतुक, जैसे कि साम्यवाद का भय, किसी भी प्रकार से अपवादात्मक प्रत्येक वस्तु के विरुद्ध गिरोह के समूह के लिए सौष्ठव नैतिक बहाना प्रतीत होने वाले बहाने को प्रदान करता है। मनुष्य के इतिहास में यह एक ऐसी विचारधारा है जो बार-बार आती है। जब कभी यह देखने में आता है, तो इसके परिणाम अत्यन्त घोर होते हैं।" (वरट्रैन्ट रस्सल द्वारा लिखित प्रस्तावना–फ्रीडम इज़ ऐज़ फ्रीडम डज़—सिविल लिबर्टीज़ टुडे–कारलिक्स लैमान्ट द्वारा लिखित, न्यूयार्क, 1956)

अनुच्छेद 14, 19 तथा 21 के शब्दों को कार्य रूप देते हुए तथा उनका निर्वचन करते समय हमें जे० बी० प्रीस्टले द्वारा दी गई चेतावनी को ध्यान में रखना होगा—

> "हमारी यह कल्पना नहीं है कि हम उन षड्यंत्रों में फंस जाएंगे जिन्हें बुरे लोग सदैव करते रहते हैं। शक्ति का तन्त्र बुद्धि-पूर्वक नियंत्रण से बाहर निकलता रहता है। अन्तिम विस्तार के अन्तर्गत कुछ सद्भावना रखने वाले लोग भी उस आवश्यक

1978(1) eILR(PAT) SC 6

मानवता को भूल जाते हैं जिसका अनुसरण इस तन्त्र द्वारा किया जाना चाहिए। वे अब स्नान करने के जल का परीक्षण, विश्लेषण और तत्संबंधी रिपोर्ट देने में इतने व्यस्त हैं कि उन्हें यह बात भी याद नहीं रह जाती कि उन्होंने शिशु को खिड़की में से बाहर फैंक दिया था (एच० एच० विलसन, एसोसिएट प्रोफेसर आफ पोलीटीकल साइंस, प्रिन्सेटन यूनीवर्सिटी—द्वारा लिखित प्रस्तावना, फ्रीडम इज़ ऐज़ फ्रीडम डज़; लेखक कार्लिस लैमान्ट, पूर्वोक्त, पृष्ठ 21).

मानविक यात्रा के वृत्तान्त की पृष्ठभूमि में मैंने यात्रा संबंधी सांविधानिकता से अत्यन्त विचलन किया है, हालांकि यह विस्तर भागतः इस मामले की यथार्थ आवश्यकताओं से बाहर है। किन्तु न्यायिक यात्रा, जैसे कि अन्य यात्राएं होती हैं, लगभग अन्य शताब्दियों तथा देशों के मनुष्यों के साथ बात-चीत करने के समान है।

150. मैं इस अनुपूरक टिप्पण के बावजूद, न्यायाधिपति भगवती से सहमत हूं।

न्यायाधिपति पी० एस० कैलाशम् के मतानुसार।

न्यायाधिपति कैलाशम्—

यह पिटीशन मेनका गांधी ने भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन भारत संघ तथा क्षेत्रीय पासपोर्ट अधिकारी के विरुद्ध, विशेष रूप से पासपोर्ट अधिनियम, 1967 (1967 का 15) की धारा 10(3)(क) के अधीन पिटीशनर का पासपोर्ट ज़ब्त करते हुए भारत संघ द्वारा किए गए तारीख 2 जुलाई, 1977 वाले आदेश सहित मामले के अभिलेख मंगवाने और उक्त आदेश को अभिलिखित करने के लिए उत्प्रेषण की रिट के लिए फाइल किया है।

152. पिटीशनर ने 4 जुलाई, 1977 को तारीख 4 जुलाई, 1977 वाला एक पत्र प्राप्त किया जिसमें उसे यह सूचित किया गया था कि भारत सरकार ने उसका पासपोर्ट जब्त करने का विनिश्चय किया है। वह पत्र इस प्रकार है:—

"आपको स्मरण होगा कि 1-6-1967 को इस कार्यालय ने आपको पासपोर्ट संख्या के—869668 जारी किया था। भारत

सरकार ने पासपोर्ट अधिनियम, 1967 की धारा 10 (3) (ग) के अधीन लोक हित में आपका उपरोक्त पासपोर्ट जब्त करने का विनिश्चय किया है।

इसके द्वारा आप से यह अपेक्षा की जाती है कि आप इस पत्र की प्राप्ति से सात दिन के भीतर अपना पासपोर्ट संख्या के—869668 इस कार्यालय को अभ्यर्पित कर दें।"

5 जुलाई, 1977 को पिटीशनर ने द्वितीय प्रत्यर्थी—क्षेत्रीय पासपोर्ट अधिकारी को एक पत्र लिखा जिसमें उससे आक्षेपकृत आदेश करने के लिए कारणों के कथन की एक प्रति पिटीशनर को देने का अनुरोध किया गया था। 7 जुलाई, 1977 को पिटीशनर ने विदेश मंत्रालय से निम्नलिखित संसूचना प्राप्त की—

"सरकार ने पासपोर्ट अधिनियम 1967 की धारा 10 (3) (ग) के अधीन जन साधारण के हित में आप का पासपोर्ट जब्त करने का विनिश्चय किया है। सरकार ने जन-साधारण के हित में ही यह भी विनिश्चय किया है कि पासपोर्ट अधिनियम, 1967 की धारा 10 (5) में यथा उपबन्धित रूप से ऐसा आदेश करने के कारणों के कथन की प्रति आपको न दी जाए।"

153. पिटीशनर ने यह निवेदन किया कि यह आदेश बिना अधिकारिता के है और 'जन साधारण के हित' में नहीं है। आदेश की विधिमान्यता को कई आधारों पर चुनौती दी गई थी। यह निवेदन किया गया था कि संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन हुआ है, नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण किया गया है, अधिनियम की धारा 10 (3) में यथा विवक्षित सुनवाई का कोई अवसर नहीं दिया गया है और धारा 10 (5) के अधीन आदेश के कारण विधारित करना विधि की दृष्टि से न्यायोचित नहीं है। 8 जुलाई, 1977 को पिटीशनर ने प्रत्यर्थियों के तारीख 2 जुलाई, 1977 वाले आदेश के प्रवर्तन को रोकते हुए एकपक्षीय तथा अन्तरिम आदेश के लिए और प्रत्यर्थियों की सुनवाई के पश्चात् रोक आदेश को आत्यन्तिक बनाने के लिए प्रार्थना की। भारत संघ की ओर से श्री एन० के० घोष, आई० एफ० एस०, निदेशक (पी० वी०), विदेश मंत्रालय ने एक प्रति-शपथ-पत्र फाइल किया था। प्रतिशपथपत्र में यह कथित किया गया था कि 11 मई, 1977 को विदेश मंत्री ने

11 व्यक्तियों के पासपोर्ट जब्त करने का अनुमोदन कर दिया था। 19 मई, 1977 को उन 11 में से 8 व्यक्तियों के पासपोर्ट जब्त करते हुए मंत्री द्वारा आदेश पारित कर दिया गया था, 1 जुलाई, 1977 को सम्बद्ध प्राधिकारियों ने विदेश मंत्रालय को यह सूचित किया था कि पिटीशनर और उसका पति 1 जुलाई, 1977 की दोपहर को मुम्बई पहुंचे हैं और यह सूचना मिली है कि इस बात की सम्भावना है कि पिटीशनर देश से बाहर जा रही है। प्राधिकारियों ने विदेश मंत्रालय से सम्पर्क स्थापित किया तथा मंत्री ने सुसंगत कागजातों को देखने के पश्चात् 1 जुलाई, 1977 अपराह्न पासपोर्ट अधिनियम, 1967 की धारा 10 (3) (ग) के अधीन जन-साधारण के हित में पिटीशनर के पासपोर्ट के जब्त किए जाने का अनुमोदन कर दिया। 2 जुलाई, 1977 को क्षेत्रीय पासपोर्ट अधिकारी ने भारत सरकार से अनुदेश प्राप्त होने पर पिटीशनर को यह सूचित कर दिया कि जन-साधारण के हित में उसका पासपोर्ट जब्त करने का केन्द्रीय सरकार ने विनिश्चय किया है और उससे अपना पासपोर्ट अभ्यर्पित करने का अनुरोध किया। प्रतिशपथ-पत्र में पिटीशन में किए गए विभिन्न अभिकथनों का खण्डन किया गया था और यह कथित किया गया था कि वह आदेश पूर्ण रूप से न्यायोचित था तथा पिटीशन में कोई सार नहीं है और उसे खारिज किया जाना चाहिए। पिटीशनर ने 16 जुलाई, 1977 को प्रत्युत्तर फाइल किया।

154. पिटीशनर ने अपने रिट पिटीशन के समर्थन में अतिरिक्त आधारों का तर्क देने की इजाजत के लिए एक आवेदन—1977 का सिविल प्रकीर्ण पिटीशन संख्या 6210 फाइल किया था और विदेश मंत्रालय की ओर से इस आवेदन का प्रत्युत्तर 18 अगस्त, 1977 को फाइल किया गया था।

155. आदिल शहरयार ने एक पिटीशन फाइल किया था जिसमें रिट पिटीशन में मध्यक्षेप करने की अनुज्ञा चाही गई थी और इस न्यायालय ने वह आदेश दे दिया था। रिट पिटीशन की सुनवाई के दौरान सरकार ने पासपोर्ट जब्त करने के कारण प्रकट करने वाला आदेश पेश किया था। उसमें ये कारण दिये गये हैं कि इस बात की आशंका थी कि पिटीशनर देश से बाहर जाने का तथा तद्द्वारा जांच आयोग के कृत्यों में बाधा डालने का प्रयास कर रही थी या उसके द्वारा ऐसा प्रयास किए जाने की

सम्भावना थी। सरकार के अनुसार पिटीशनर के श्री संजय गांधी की पत्नी होने के कारण इस बात की सम्भावना थी कि आयोग के कुछ पहलुओं की बाबत उससे पूछताछ की जाए। प्रतिशपथपत्र में यह भी अभिकथित किया गया था कि विदेशों में भी काफी अधिक साक्ष्य है और उसे तोड़ने या आयोग के लिए उसे अनुपलभ्य करने की सभावना को जो कि उस दशा में बड़ी सरलता से और प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है जबकि कोई हितबद्ध व्यक्ति विदेश में हो, नजरअंदाज कर देना अनुचित होगा। जहां तक इस अभिकथन का सम्बन्ध है, आदेश पारित करते समय उसे ध्यान में नहीं रखा गया था इसलिए रिट पिटीशन की सुनवाई के दौरान उसे छोड़ दिया गया था। केवल मात्र आधार जिस पर पिटीशनर के पासपोर्ट को जब्त कर दिया गया था यह था कि जांच आयोग द्वारा उसकी परीक्षा किए जाने की सम्भावना है और भारत में उसकी उपस्थिति अनिवार्य है।

156. विधि विषयक कई प्रश्न उठाए गए थे। यह निवेदन किया गया था कि पिटीशनर एक पत्रकार है और उसका आशय एक पत्रकार के रूप में अपने वृत्तिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में पश्चिमी जर्मनी जाने का है तथा उसे पासपोर्ट से वंचित करके न केवल विदेश यात्रा के उसके अधिकार का अपितु अनुच्छेद 19(1) के अधीन गारण्टीकृत उसके मूल अधिकारों का भी उल्लंघन किया गया है। यह दलील दी गई थी कि संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन पारित आदेश के विधिमान्य हो सकने के पूर्व उसे न केवल उसी अनुच्छेद की अपेक्षाओं, अर्थात् उसे इस शर्त को पूरा करना चाहिए कि आदेश विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार हो, अपितु किसी भी ढंग से उसे अनुच्छेद 19(1) के अधीन गारण्टीकृत मूल अधिकारों का उल्लंघन भी नहीं करना चाहिए। दूसरे शब्दों में यह निवेदन किया गया था कि दैहिक स्वाधीनता का अधिकार न केवल अनुच्छेद 21 अपितु अनुच्छेद 19 की शर्तों को भी पूरा किए बिना छीना नहीं जा सकता है। इसके अलावा धारा 10(3) (ग) के उपबन्धों को भी इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वे विधान-मण्डल की शक्तियों के बाहर हैं तथा किसी भी दशा में वह आदेश इस कारण से दूषित है कि आक्षेपकृत आदेश पारित किये जाने के पूर्व पिटीशनर को सुनवाई का अवसर नहीं दिया गया था। यह दलील दी गई थी कि अनुच्छेद 19(1) के अधीन गारण्टीकृत अधिकार, विशेष रूप से वाक्स्वातंत्र्य का अधिकार और वृत्ति करने का अधिकार भारतीय नागरिकों को न केवल भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर ही अपितु भारत के

1978(1) eILR(PAT) SC 6

राज्य-क्षेत्र के बाहर भी उपलभ्य है और पिटीशनर को विदेश यात्रा करने से रोक कर उसके वाक्स्वातन्त्र्य के अधिकार तथा देश के बाहर वृत्ति करने के अधिकार का भी उल्लंघन किया गया है। यह अभिवचन किया गया कि अनुच्छेद 19 के अधीन गारण्टी-कृत अधिकार न केवल भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर अपितु भारत के राज्य-क्षेत्र के बाहर भी उपलभ्य है।

157. विचारार्थ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या भाग 3 के अधीन प्रदत्त मूल अधिकार और विशेष रूप से अनुच्छेद 19 के अधीन प्रदत्त अधिकार भारत के राज्य-क्षेत्र के बाहर भी उपलभ्य हैं। अनुच्छेद 19(1) (क), (ख), (ग), (च) तथा (छ) के अधीन, —

(क) वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का,

(ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का,

(ग) संस्था या संघ बनाने का,

(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का, तथा

(छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का अधिकार प्रदत्त किया गया है।

अनुच्छेद 19(1) (घ) और (ङ) के अधीन प्रदत्त अधिकारों का प्रवर्तन भारत के राज्य-क्षेत्र तक ही परिसीमित होने के कारण उनके राज्य-क्षेत्रातीत लागू होने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है।

158. इस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए मैं संविधान के विभिन्न उपबन्धों पर विचार करूंगा जो इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हैं। संविधान की प्रस्तावना में यह उपबन्ध किया गया है कि 'भारत के लोगों ने भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सामाजिक धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने का और इसके समस्त नागरिकों को—

'सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने का

तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने का दृढ़ संकल्प किया है।'

इस प्रस्तावना द्वारा भारत को एक लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के रूप में गठित किया गया है और इसके नागरिकों को कुछ अधिकार प्राप्त

1978(1) eILR(PAT) SC 6

कराए गए हैं। जबकि इस प्रस्तावना को देखने से यह उपदर्शित होगा कि अनुच्छेद भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर ही लागू होते हैं, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वे भारत की राज्यक्षेत्रीय सीमाओं के बाहर भी उपलब्ध हैं।

159. संविधान का अनुच्छेद 12 राज्य को इस रूप में परिभाषित करता है कि इसके अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद् तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधान-मण्डल तथा भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी हैं। अनुच्छेद 13 में यह उपबन्ध किया गया है कि वे विधियां जो मूल अधिकारों से असंगत हों या उन्हें न्यून करती हैं उस मात्रा तक शून्य होगी। अनुच्छेद 13(1) में यह उपबन्ध किया गया है कि इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे भाग 3 के उपबन्धों से असन्गत हैं। इस बात पर विचार करना होगा कि वे कौन-सी विधियां हैं जो संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले भारत के राज्य-क्षेत्र में प्रवृत्त थीं जिनके प्रति इस अनुच्छेद में निर्देश किया गया है। इस के पूर्व अनुच्छेद 13 (2) को देखा जा सकता है जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनायेगा जो भाग 3 द्वारा दिये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। "विधि" शब्द को इस अनुच्छेद में इस प्रकार परिभाषित किया गया है —

> "(क) भारत राज्य-क्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि अथवा प्रथा 'विधि' के अन्तर्गत होगी;
>
> (ख) भारत राज्य-क्षेत्र में किसी विधान-मण्डल या अन्य क्षमताशाली प्राधिकारी द्वारा इस संविधान के प्रारम्भ से पूर्व पारित अथवा निर्मित विधि, जो पहिले ही निरसित न हो गई हो, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतया या विशेष क्षेत्रों में प्रवर्तन में न भी हो, "प्रवृत्त विधियों" के अन्तर्गत होगी।"

जबकि रूढ़ि अथवा प्रथा के प्रवर्तन को भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर ही निर्बन्धित किया गया है, विधि का प्रवर्तन राज्यक्षेत्रातीत भी हो सकता है।

160. संघ तथा राज्यों के बीच विधायी शक्तियों का वितरण करते हुए अनुच्छेद 248 में यह उपबन्ध किया गया है कि संसद् सम्पूर्ण भारत या इसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग के लिए विधियां बना सकती है तथा राज्य का विधान-मण्डल सम्पूर्ण राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधियां बना सकता है। अनुच्छेद 245 (2) में यह उपबन्ध किया गया है कि संसद् द्वारा बनाई गई कोई विधि, इस कारण से कि उसका राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन होगा, अमान्य नहीं समझी जाएगी ? यह अनुच्छेद इस बात को स्पष्ट कर देता है कि किसी राज्य की विधि का राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन नहीं हो सकता है जब कि संसद् की विधि का ऐसा प्रवर्तन हो सकता है। निस्सन्देह संसद् को ऐसी विधि अधिनियमित करने की शक्ति प्राप्त है जो राज्य के क्षेत्र के बाहर भी लागू हो। इंग्लैण्ड में स्टेच्यूट आफ वैस्टमिस्टर, 1931 (22 जियों० वी० सी०4) की धारा 3 में यह उपबन्ध किया गया है कि --

> *"एतद्द्वारा यह घोषित और अधिनियमित किया जाता है कि डोमिनियन की पार्लियामेण्ट को राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन वाली विधियां बनाने की पूर्ण शक्ति प्राप्त है।"

किन्तु यह अवधारित करने के लिए कि क्या कान्स्टीट्यूशन या स्टेच्यूट के उपबन्ध राज्य-क्षेत्रातीत लागू होंगे, कुछ सिद्धान्त अधिकथित किए गए हैं। मैक्सवेल ने 'इन्टरप्रिटेशन आफ स्टेच्यूट्स', 12वां संस्करण, के पृष्ठ 169 पर ब्रिटिश विधान के राज्य क्षेत्रीय प्रवर्तन के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस प्रकार कहा है --

> "प्रिवी काउन्सिल की न्यायिक समिति ने यह कहा है : 'आजकल इम्पीरियल पार्लियामेण्ट का कोई ऐक्ट, जब तक कि अन्यथा उपबन्धित न हो, सम्पूर्ण यूनाइटेड किंगडम को लागू होता

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है:—

> "It is hereby declared and enacted that the Parliament of a Dominion has full power to make laws having extra-territorial operation."

है और यूनाइटेड किंगडम से बाहर किसी को लागू नहीं होता है, आधिपत्य के दूरस्थ वैदेशिक उपनिवेश की बात तो दूर चैनल आईलैण्ड्स या आइल ऑफ मैन को भी लागू नहीं होता है।"

लार्ड डेनिंग ने यह कहा है कि सामान्य नियम यह है कि 'पार्लियामेण्ट का कोई ऐक्ट केवल यूनाइटिड किंगडम के भीतर के संव्यवहारों को ही लागू होता है न कि बाहर के संव्यवहारों को।' ये दो उदाहरण **अटर्नी जनरल फॉर एलबर्टा** बनाम **ह्यूग्गार्ड एसेट्स लिमिटेड**[1] और **सी० ई० बी० ड्रैपर एण्ड सन लिमिटेड** बनाम **एडवर्ड टर्नर एण्ड सन लिमिटेड**[2] के दो विनिश्चयों से लिए गए हैं। मैक्सवेल के उपरोक्त अवतरणों की बाबत यह टिप्पण किया है "तथापि संभवतः ये कथन स्थिति को अत्यधिक सरल बना देते हैं।" ऊपर निर्दिष्ट विनिश्चयों के प्रति आगे निर्देश किया जाएगा।

12. क्रेज़ ने स्टेच्यूट ला, (छठां संस्करण) पृष्ठ 447 पर यह कथित किया है कि "............लैजिसलेचर का कोई ऐक्ट इस क्षेत्र के नागरिकों, यदि ऐसा आशय हो तो साम्राज्य के भीतर तथा बाहर दोनों ही स्थानों पर आबद्ध करेगा। किन्तु यह बात कि क्या पार्लियामेण्ट के किसी ऐक्ट विशेष का तात्पर्य विदेशों में ब्रिटिश नागरिकों को आबद्ध करने का है, सदैव ही लैजिसलेचर के आशय पर निर्भर करेगा जिसका अनुमान प्रश्नगत ऐक्ट की भाषा से लगाया जाना होगा। डायसी ने अपने इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ़ दि ला आफ़ दि कान्स्टीट्यूशन (1964 का संस्करण) में पृष्ठ iii पर स्थिति को इस प्रकार कथित किया है:

"पार्लियामेण्ट सामान्यतः विधान के प्रवर्तन को अपने राज्यक्षेत्रों के भीतर ही निर्बन्धित करती है। ब्रिटिश पोत चाहे जहां भी हों, अपने राज्य क्षेत्र की व्याप्ति के भीतर सम्मिलित किए जाते हैं .... तथापि कई अवसरों पर पार्लियामेण्ट अपने ही नागरिकों के कार्यकलापों को जब कि वे विदेशों में हों, नियन्त्रित करने के लिए विधान पारित करती है।" सामण्ड ने 'ज्यूरिसप्रूडेन्स' (12वां संस्करण) में विधि के राज्य-क्षेत्रीय प्रवर्तन और स्वयं विधि की राज्यक्षेत्रीयता के बीच प्रभेद किया है। पृष्ठ 11 पर लेखक ने यह कथित किया है कि "चूंकि राज्यक्षेत्रीयता तर्कसंगत रूप से किसी विधि विचार का अनिवार्य अंग नहीं होती है इस

---

[1] (1953) ए० सी० 420.

[2] (1964) 3 ऑल इंगलैण्ड रिपोर्टस 148.

लिए कोई ऐसी विधि सुगमता से बोधगम्य होती है जिसका प्रवर्तन न केवल राज्य-क्षेत्रीय बातों के सन्दर्भ में परिसीमित और अवधारित किया जाता हो अपितु उन व्यक्तियों की व्यक्तिगत अर्हताओं के संदर्भ में भी अवधारित होता हो जिन पर अधिकारिता का प्रयोग किया जाता है ।" ऊपर निर्दिष्ट पाठ्य पुस्तकों के अनुसार स्थिति यह है कि कोई विधि मामूली तौर पर राज्य-क्षेत्र के भीतर ही लागू होती है किन्तु उसे उसके नागरिकों पर लागू किया जा सकता है, चाहे वे कहीं भी हों । इस बात का अवधारण कि क्या ऐसा राज्य -क्षेत्रातीत प्रवर्तन आशयित है या नहीं विधान से ही किया जाना होगा।

162. अब मैं इस विषय पर न्यायालयों के विनिश्चयों के प्रति निर्देश करूंगा ।

163. **निबॉटयट बनाम निबॉयट**[1] में कोर्ट आफ अपील ने यह कथित किया : "यह सच है कि कानून के शब्द सामान्य होते हैं, किन्तु जहां तक मुझे ज्ञात है, किसी कानून के समामान्य शब्दों का इस प्रकार निर्वचन कभी भी नहीं किया गया है जिससे कि कानून के प्रवर्तन को विधान-मण्डल के राज्य-क्षेत्रीय प्राधिकार के बाहर विस्तारित किया जा सके सब दाण्डिक कानून शाब्दिक रूप से सामान्य होते हैं; किन्तु वे केवल उन अपराधों को ही लागू होते हैं जो कि ब्रिटिश राज्यक्षेत्र के भीतर या ब्रिटिश नागरिकों, द्वारा किये गए हों । जब विधान मण्डल का आशय कानून को देश के मामूली राज्य क्षेत्रीय प्राधिकार से बाहर लागू करने का होता है तब वह कानून में अभिव्यक्त रूप से ऐसा कथित कर देता है, जैसा कि **मरचेंट शिपिंग ऐक्ट्स** और कुछ अन्य नावधिकरण विषयक अधिनियमों में होता है, । **क्वीन** बनाम **जेमसन और अन्य**[2] में मुख्य न्यायाधिपति लार्ड रसेल ने स्थिति को इस प्रकार कथित किया था "सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि जिस क्षेत्र के भीतर किसी कानून को प्रवृत्त होना है और जिन व्यक्तियों के विरुद्ध उसे प्रवर्तित होना है उनका अनुमान कानून विशेष की भाषा और क्षेत्र से लगाया जाना है ।" **कुक** बनाम **चार्ल्स ए० वागेलर कम्पनी**[3] में हाउस आफ लार्ड ने कोर्ट ऑफ बैंकरप्सी की अधिकारिता

---

[1] 48 एल० जे० पी० 1.

[2] (1896) 2 क्यू० बी० डी० 425, 430.

[3] (1901) ए० सी० 102, 107.

के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि "इंगलिश विधान मामूली तौर पर राज्यक्षेत्रीय होता है और यह कहना उस सिद्धान्त से हटना नहीं है कि इस देश में आने वाला और व्यापार करने वाला कोई विदेशी और यहां पर दिवालियापन का कार्य करने वाला विदेशी हमारी विधियों और उन सब प्रसंगतियों के अधीन होता है जो कि ऐसे मामलें में वे विधियां अधिनियमित करें। जब वह यहां पर हों, यहां पर व्यापार कर रहा हो तब वह एक देशी नागरिक की तरह ही दिवालिया हो सकता है; भले ही वह वस्तुतः यहां अधिवसित न हो............। ये शाब्दिक रूप से ही इंगलैण्ड तक ही परिसीमित होती हैं और मेरे विचार में यह धारण करना असम्भव होगा कि यदि विधान मण्डल का आशय इतनी व्यापक अधिकारिता रखना होता जितनी की इस मामले में दलील दी गई है तो उसने उसे अभिव्यक्त अधिनियमिति द्वारा प्रदत्त न कर दिया होता।" **टोमलिन** बनाम **एस० पियर सन एण्ड सन्स लिमिटेड**[1] में कोर्ट आफ अपील ने वर्क मैन्स कम्पेन्सेशन ऐक्ट, 1906 के प्रवर्तन के सम्बन्ध में विचार करते हुए मैक्सवैल कृत इण्टरप्रेशन आफ स्टैच्यूट में पृष्ठ 213 पर दिये गये एक अवतरण को सानुमोदन उद्धृत किया जिसमें इस प्रकार कथित किया गया है: "किसी आशय के अभाव में जो कि स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया हो या जिसका अधिनियमिति की भाषा या उसके उद्देश्य या विषय वस्तु अथवा उसकी पृष्ठ-भूमि से अनुमान लगाया जा सके, उपधारणा यह होती है कि संसद् का आशय अपने कानूनों को यूनाइटेड किंगडम को राज्य-क्षेत्रीय परिसीमाओं से बाहर प्रवृत्त करने का नहीं होता" जो विधि यूनाइटेड किंगडम में लागू होती है उस का उपरोक्त अवतरण में उचित रूप से संक्षेपण किया गया है। उपधारणा यह होती है कि कानून का तब के सिवाय राज्य-क्षेत्रीय परिसीमाओं के बाहर लागू होना आशयित नहीं होता है जब कि तत्प्रतिकूल आशय अभिव्यक्त कर दिया गया हो या उसकी भाषा से उसका अनुमान लगाया जा सकता हो। **अटर्नी जनरल फॉर एलबर्टा** बनाम **ह्यूग्गार्ड एसेसैट्स लिमिटेड**[2] के प्रति मैक्सवैल कृत इण्टरप्रिटेशन आफ स्टैच्यूट से एक उद्धरण के रूप में पहले ही निर्देश किया जा चुका है। उस मामले में प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया था कि "आज कल इम्पीरियल पार्लियामेण्ट का

[1] (1909) 2 के० बी० 61.

[2] (1953) ए० सी० 420.

कोई अधिनियम, जब तक कि उसमें अन्यथा उपबन्धित न हो, सम्पूर्ण युनाइटिड किंगडम को लागू होता है और युनाइटिड किंगडम से बाहर किसी को लागू नहीं होता है; आधिपत्य के दूरस्थ वैदेशिक उपनिवेश की बात तो दूर है, वह चैनल आईलैण्ड्स और आयल आफ मैन को भी लागू नहीं होता है। कोर्ट आफ अपील ने **सी० ई० बी० ड्रपर एण्ड सन लिमिटेड** बनाम **एडवर्ड टर्नर एण्ड सन लिमिटेड**[1] के एक पश्चात्वर्ती विनिश्चय में **अटर्नी जनरल फॉर एलबर्टा** बनाम **ह्यु गार्ड एसेट्स लिमिटेड**[2] वाले मामले में अधिकथित प्रतिपादनों को यह सम्प्रेक्षित करते हुए अनुमोदित कर दिया कि "प्रथमदृष्टया युनाइटिड किंगडम पार्लियामैण्ट का कोई अधिनियम, जब तक कि उसमें अन्यथा उपबन्धित न हो, सम्पूर्ण युनाइटिड किंगडम को ही लागू होता है और युनाइटिड किंगडम से बाहर किसी को लागू नहीं होता है।"

164. फ़ैडरल कोर्ट तथा भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चित मामलों को भी अवलोकित किया जा सकता है। आयकर अधिनियम के उपबन्धों के राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन के सम्बन्ध में विचार करते हुए गवर्नर जनरल **इन-काउन्सिल** बनाम **रेलेह इन्वेस्टमेंट कम्पनी लिमिटेड**[3] में फैडरल कोर्ट ने यह निष्कर्ष निकालने के पश्चात् कि अधिनियम का राज्य-क्षेत्रीय प्रवर्तन नहीं था यह मत व्यक्त किया कि यदि कोई राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन था भी तो वह कांस्टिट्यूशन ऐक्ट द्वारा भारतीय विधानमण्डल को दी गई विधायी शक्तियों के भीतर आता है। इस विषय पर पृष्ठ 61 पर अनुसूची 7 की सूची 1 और 3 के विषयों पर सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत या उसके किसी भाग के लिए विधियां बनाने की बाबत-निर्णयज विधि पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् और यह अभिनिर्धारित करने के पश्चात् कि राज्य-क्षेत्रातीत विधान के लिए परिसंघीय विधानमण्डल की शक्तियां भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 99 की उपधारा (2) के खण्ड (क) से (ङ) तक में विनिर्दिष्ट मामलों तक ही परिसीमित हैं, यह निष्कर्ष निकाला कि यदि आक्षेपकृत उपबन्धों में राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन का विस्तार, यदि कोई हो, देखा गया है तो वह कान्स्टिट्यूशन ऐक्ट द्वारा भारतीय विधानमण्डल को दी गई विधायी

[1] (1964) 3 आॅल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 148.

[2] (1953) ए० सी० 420.

[3] ए० आई० आर० 1944 एफ० सी० 51.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

शक्तियों के भीतर ही है। **वाल्लेस ब्रदर्स एण्ड कम्पनी लिमिटेड** बनाम **आयकर आयुक्त मुम्बई, सिन्ध और बलूचिस्तान**[1] के मामले में फैडरल कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया कि भारतीय आयकर अधिनियम के आक्षेपित उपबन्धों में राज्य-क्षेत्रातीत होने का कोई तत्व नहीं है और यदि वे उपबन्ध किसी तरह से राज्य-क्षेत्रातीत प्रभाव रखते भी हैं तो भी यह उन्हें भारतीय विधानमण्डल के अधिकारातीत अभिनिर्धारित करने के लिए कोई आधार नहीं है। **मोहम्मद मोहियुद्दीन** बनाम **किंग एम्परर**[2] के मामले में फैडरल कोर्ट इण्डियन आर्मी ऐक्ट, 1911 की विधिमान्यता पर विचार कर रहा था। इस मामले में एक ऐसे व्यक्ति पर जो ब्रिटिश नागरिक नहीं था किन्तु जिसने भारतीय सेना में कमीशन स्वीकार कर लिया था, ब्रिटिश भारत के बाहर उसके द्वारा किए गए अभिकथित अपराधों के लिए सेना न्यायालय के समक्ष दोषारोपण किया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि इण्डियन आर्मी ऐक्ट, 1911 की धारा 41 सेना न्यायालय को ब्रिटिश भारत के बाहर गैर-ब्रिटिश नागरिकों द्वारा किये गये अपराधों के लिए अधिकारिता प्रदत्त करती है। अधिनियम की धारा 43 के अर्थान्वयन पर न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सेना न्यायालय को उक्त सेना सेवा में सभी स्थानीय अधिकारियों और सैनिकों पर शक्तियां प्राप्त हैं चाहे वे अधिकारी और सैनिक किसी भी प्रेसीडेंसी के हों या चाहे वह कहीं भी सेवा कर रहे हों। इस दलील का खण्डन करते हुए कि इस बात के विपरीत उपधारणा है कि पार्लियामेण्ट के किसी अधिनियम के सामान्य शब्दों का भी अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाए कि उनका राज्यक्षेत्रातीत प्रभाव रखना आशयित है या वे राज्यक्षेत्रातीत विधान प्राधिकृत करते हैं, न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि "इस सम्बन्ध में मैक्सवैल कृत इन्टरप्रिटेशन आफ़ स्टैट्यूट के जिस अवतरण का अवलम्ब लिया गया है वह उस हद तक विस्तारित नहीं होता है जो कि अपीलार्थी के मामले के लिए आवश्यक है। यह सच है कि प्रत्येक कानून का जहां तक उसकी भाषा अनुज्ञात करे, इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए कि वह राष्ट्रों के सौजन्य या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सुस्थापित नियमों से विसंगत न हों। मामूली नागरिकों की बाबत अन्तर्राष्ट्रीय विधि का चाहे जो भी नियम हो हमारे समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय विधि के किसी ऐसे

---

[1] (1945) एफ० सी० आर० 65.

[2] (1946) एफ० सी० आर० 94.

नियम या राष्ट्रों के सौजन्य के किसी ऐसे सिद्धान्त के प्रति निर्देश नहीं किया गया है जो किसी राज्य द्वारा अपने ही सशस्त्र बलों पर, जबकि वे बल उसकी राज्य-क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर कार्य कर रहे हों। अनुशासनिक नियन्त्रण प्रयुक्त करने से विसंगत हो"। अब न्यायालयों द्वारा अधिकथित विधि का संक्षेपण किया जा सकता है। संसद् सामान्य तौर पर अपने विधानों के प्रवर्तन को अपने राज्य-क्षेत्रों तक ही परिसीमित करती है। संसद् ऐसे विधान पारित कर सकती है जो कि विदेश स्थित नागरिकों के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करते हैं। राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन रखने का आशय अभिव्यक्त होना चाहिए या कानून की भाषा से अनिवार्य रूप से विवक्षित होना चाहिए। कानून का इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए कि वह राष्ट्रों के सौजन्य या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सुस्थापित नियमों से विसंगत न हो।

165. अब संविधान के भाग 3 के विभिन्न अनुच्छेदों को यह ज्ञात करने के लिए देखना आवश्यक है कि क्या किसी अधिकार को राज्य क्षेत्र के बाहर उपलभ्य कराने का कोई आशय अभिव्यक्त किया गया है। अनुच्छेद 14 का प्रवर्तन अभिव्यक्त रूप से भारत के राज्य-क्षेत्र तक ही परिसीमित किया गया है क्योंकि इसमें यह कथित किया गया है कि "भारत राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जाएगा।" अनुच्छेद 15 धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद के प्रतिषेध से सम्बन्धित है और अनुच्छेद 16 राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर समता के बारे में है। इनके स्वरूप के कारण ही ये दोनों अनुच्छेद भारत के राज्य-क्षेत्र तक ही सीमित हैं। इसी प्रकार अनुच्छेद 17 और 18 जो कि अस्पृश्यता समाप्त करने और खिताबों के अन्त के बारे में हैं, राज्यक्षेत्र के भीतर प्रवर्तित होते हैं। अनुच्छेद 19 और 21 के बारे में विचार करने के पूर्व जिनसे, इस मामले में हमारा सरोकार है, अन्य अनुच्छेदों के प्रति संक्षेप में निर्देश किया जा सकता है। अनुच्छेद 20 और 22 का केवल राज्य-क्षेत्रीय प्रवर्तन ही हो सकता है। अनुच्छेद 23 और 24 जो कि शोषण के विरुद्ध अधिकार के सम्बन्ध में है और अनुच्छेद 25 से 28 तक जो कि अन्तःकरण की और धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में हैं, प्रथमदृष्ट्या केवल भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर ही लागू होते हैं। किसी भी दशा

में इन अनुच्छेदों में ऐसा कोई आशय नहीं है जो कि राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन का संकेत देता हो । इसी प्रकार अनुच्छेद 29 और 30 जो कि सांस्कृतिक है और शैक्षणिक अधिकारों के सम्बन्ध में है। केवल भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर ही लागू होते हैं। अनुच्छेद 31 का भी अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से कोई राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन नहीं है। इस पृष्ठभूमि में इस बात की जांच की जानी होगी कि क्या अनुच्छेद 19 और 21 से राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन के किसी आशय का अनुमान लगाया जा सकता है।

166. अनुच्छेद 19(1) (क) वाक्-स्वातन्त्रय और अभिव्यक्ति स्वातन्त्रय का अधिकार घोषित करता है। जबकि यह सम्भव है कि इस अधिकार का राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन हो सकता है, इस बात की सम्भावना नहीं है कि संविधान निर्माताओं का यह आशय था कि शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का अधिकार या संस्था या संघ बनाने का अधिकार या सम्पत्ति के अर्जन, धारण या व्ययन का अधिकार या कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने के अधिकार का राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन होगा क्योंकि राज्य ऐसे अधिकारों को भारत राज्य क्षेत्र के बाहर प्रवृत्त नहीं करा सकता हैं। अनुच्छेद 19 के अधीन प्रदत्त अधिकार मूल अधिकार हैं और अनुच्छेद 32 तथा 226 में यह उपबन्ध किया गया है कि इन अधिकारों की गारण्टी दी गई है और व्यथित व्यक्ति द्वारा उन्हें उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय में समावेदन करके प्रवृत्त कराया जा सकता है। स्वीकृत रूप से अनुच्छेद 19(1) (क), (ख), (ग), (च) और (छ) में प्रगणित अधिकार राज्य द्वारा प्रवृत्त नहीं कराए जा सकते हैं और इन परिस्थितियों में यह उपधारणा है कि संविधान निर्माताओं का यह आशय हो सकता था कि ऐसे किसी भी अधिकार की गारन्टी दी गई है जो राज्य प्रवृत्त नहीं करा सकता है और उन अधिकारों की गारन्टी देते हुए और उन्हें उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय सहायता से सुनिश्चित कराते हुए उपबन्ध बनाया होगा।

167. भारत के राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण करने के अधिकार और भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने के अधिकार पर निर्बन्धन का इस रूप में अत्यधिक अवलम्बन किया गया है कि वह यह उपदर्शित करता है कि ऐसे निर्बन्धनों के अभाव में अन्य अधिकार भारत के राज्य-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हैं। अनुच्छेद

19(1) (घ) और (ङ) के उपबन्ध अर्थात् भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण और भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने के अधिकार का एक ऐतिसाहिक महत्व है। **ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य**[1] के मामले में मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने यह कहा कि "भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण" के अधिकार में जोर अबाध संचरण पर नहीं है अपितु भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण के अधिकार पर है। आशय राज्यों द्वारा भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण पर रुकावट डालते हुए कोई निर्बन्धन लगाने को रोकना था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विभिन्न रियासतों में दुश्मनी थी और एक रियासत से दूसरी रियासत को संचरण पर कुछ रियासतों द्वारा अवरोध लगाए जाने की सम्भावना थी। अनुच्छेद 19(1)(घ) तथा (ङ) में 'भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण करने' तथा "भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने" के अधिकारों में 'भारत राज्य-क्षेत्र' का उल्लेख रियासतों को कोई अवरोध लगाने से निवारित करने के प्रयोजन से किया गया है। इस तथ्य से कि भारत राज्य-क्षेत्र शब्द इन्हीं दो खण्डों में देखे जा सकते हैं यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है कि अन्य स्वतन्त्रताओं का प्रवर्तन भारत के राज्य-क्षेत्र तक ही परिसीमित नहीं है। **वीरेन्द्र बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य**[2] में मुख्य न्यायाधिपति एस० आर० दास ने जिन्होंने कि सांविधानिक न्यायपीठ का निर्णय दिया था, यह मत व्यक्त किया : "यह बात ध्यान में रखी जानी है कि अनुच्छेद 19(1) द्वारा नागरिकों को गारन्टीकृत स्वातन्त्र्य के विभिन्न अधिकारों का प्रयोग उनके द्वारा भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र और उसके सब भागों में किया जाना है।" इस मत पर विचार विमर्श नहीं किया गया है कि अनुच्छेद 19(1) के अधीन के अधिकार भारत के राज्य-क्षेत्र में ही प्रयोक्तव्य है। बजाय इसके कि अनुच्छेद 19 (1) अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन का कोई आशय अभिव्यक्त करता हो, संदर्भ यह उपदर्शित करेगा कि उसका प्रवर्तन केवल राज्य-क्षेत्र के भीतर ही आशयित है। अनुच्छेद 19(ख) और (ग) के अधीन शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन तथा संस्था या संघ बनाने के अधिकार का कोई राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन आशयित नहीं हो सकता था क्योंकि यह

---

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

[2] (1958) एस० सी० आर० 308.

बात अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं होगा। अनुच्छेद 19 (ख) और (ग) के अधीन के अधिकारों को भारत के बाहर प्रवृत्त नहीं कराया जा सकता इसलिए अनुमान यह है कि कोई राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन आशयित नहीं था। इसी प्रकार अनुच्छेद 19(च) और (छ) के अधीन प्रदत्त अधिकारों अर्थात् सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन तथा कोई वृत्ति उपजीविका, व्यापार या कारबार करने के अधिकार का भी भारत के बाहर प्रवर्तन आशयित नहीं होगा।

168. यह निवेदन किया गया है कि जब संविधान बनाया गया था तब संविधान निर्माता यूनाइटेड नेशन्स यूनिवर्सल डिक्लेरेशन् आफ ह्यूमन राइट्स से प्रभावित हुए थे जो कि दिसम्बर, 1948 में घोषित किया गया था और उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में भारतीय नागरिकों को मूलभूत अधिकार उपलब्ध कराना उचित समझा था। मानव अधिकारों की संकल्पना की पृष्ठ भूमि को संक्षेप में देखा जा सकता है। ह्यूमन राइट्स कमीशन का, जोकि संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्थापित किया गया था, मुख्य कार्य इन्टरनेशनल बिल आफ राइट्स तैयार करना था। कमीशन ने इस कार्य को दो दस्तावेजों में विभाजित कर दिया था: सिद्धान्तों की एक संक्षिप्त घोषणा और यथा-साध्य उन सिद्धान्तों को प्रवृत्त कराने के लिए विस्तृत सन्धि या प्रसंविदा। यूनिवर्सल डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइट्स का विधि के रूप में आबद्धकर होना आशयित नहीं था अपितु प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह सरकार में हो या सरकार के बाहर हो, मानवीय अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को उत्तरोत्तर प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने हेतु उन अधिकारों के मुख्य आदर्श प्रस्तुत करना था। कमीशन ने वह डिक्लेरेशन पूरा कर दिया था और वह संयुक्त राष्ट्र सभा द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को प्रख्यापित किया गया था। भारतीय संविधान के प्रारूप के बारे में विचार-विमर्श फरवरी और अक्तूबर, 1948 के बीच हुआ था तथा मूल अधिकारों से सम्बन्धित अनुच्छेदों पर विचार-विमर्श अक्तूबर, 1948 में अर्थात् 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र सभा द्वारा यूनीवर्सल डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइट्स के प्रख्यापित किये जाने के पूर्व ही किया गया था। यह अत्यधिक असंभाव्य है कि डिक्लेरेशन आफ़ ह्यूमन राइट्स के प्रख्यापित किए जाने के पूर्व ही भारतीय संविधान के निर्माताओं ने यह घोषित करने का विनिश्चय किया हो कि नागरिकों को प्रदत्त मूल अधिकार भारत के बाहर भी प्रवृत्त होंगे। यूनिवर्सल डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइट्स विधि

के रूप में आबद्धकर नहीं था अपितु सभी लोगों और सभी राष्ट्रों के लिए एक सामान्य मानक प्राप्त करने की पावन आशा मात्र था। डिक्लेरेशन का आर्टीकल 13 जो कि हमारे विचारार्थ महत्वपूर्ण है इस प्रकार है :—

> *"पैरा 1. प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक राज्य की सीमाओं के भीतर संचरण और निवास की स्वतंत्रता का अधिकार है ।
>
> पैरा 2. प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश सहित कोई देश छोड़ने और अपने देश में वापस लौटने का अधिकार प्राप्त है ।"

पैरा 1 संचरण तथा निवास के अधिकार को विनिर्दिष्ट रूप से देश की सीमाओं के भीतर परिसीमित करता है । दूसरा पैरा अपने देश सहित किसी देश को छोड़ने और अपने देश को वापस लौटने का अधिकार सुनिश्चित करने का लक्ष्य रखता है । उस प्राक्रम पर डिक्लेरेशन का किसी देश के नागरिकों को राज्य की सीमाओं के बाहर संचरण का अधिकार या मूल देश के बाहर वाक-स्वातंत्र्य या सम्मेलन का अधिकार प्रदत्त करने का कोई आशय नहीं था । अमरीकी संविधान में भी इस बारे में कोई उल्लेख नहीं है कि वाक-स्वातंत्र्य या अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का अधिकार अमरीका के बाहर भी उपलभ्य होगा। राज्य की सीमाओं के भीतर संचरण के अधिकार को भी अमरीका के संविधान में गारन्टीकृत स्वतंत्रताओं में से एक के रूप में उल्लिखित नहीं किया गया है अपितु उस देश में प्रत्येक व्यक्ति की ही यह धारणा होती है कि वह संयुक्त राज्य अमरीका में सर्वत्र संचरण कर सकता है ।

169. संयुक्त राज्य अमरीका में किसी नागरिक के देश छोड़ने और अपने देश में वापिस आने के अधिकार को मान्यता दी गई है। जबकि किसी नागरिक के अपने ही देश में वापिस आ जाने पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाया गया है, संयुक्त राज्य की सरकार देश छोड़ने के लिए कुछ निर्बन्धन लगाती है जैसे कि पासपोर्ट आदि अभिप्राप्त करना। संयुक्त राज्य के बाहर यात्रा करने का अधिकार भी अनिर्बन्धित नहीं है। पासपोर्ट

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"Paragraph 1. Everyone has the right to freedom of movement and residence within the borders of each state.

Paragraph 2. Everyone has the right to leave any country including his own, and to return to his country."

उस सरकार द्वारा जो उसे जारी करती है, एक विदेशी सरकार को यह अनुरोध होता है कि पासपोर्ट धारक सुरक्षापूर्वक और अबाध रूप से उस देश से निकल सके। पासपोर्ट कोई देश छोड़ने के लिए अनुज्ञप्ति माना जाता है और परिचय पत्र की अपेक्षा यह देश छोड़ने की अनुज्ञा होता है। अमरीका में भी जब स्टेट विभाग पासपोर्ट जारी करता है तब वह विनिर्दिष्ट कर देता है कि पासपोर्ट उन देशों में यात्रा के लिए विधिमान्य नहीं है जिनमें संयुक्त राज्य का राजनयिक प्रतिनिधित्व नहीं है क्योंकि सरकार की स्थिति यह होती है कि वह उस विदेशी यात्रा को सुकर नहीं बना सकेगी जिनमें कि वह यात्री को कोई संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ हो। अमरीका की जनता, विशेष रूप से समाचार रिपोर्टर यह दावा कर रहे हैं कि उन्हें जहां कहीं वे जाना चाहें यात्रा करने के लिए, यदि जरूरत हो तो सरकार के संरक्षण के आश्वासन के बिना भी, अनुज्ञात किया जाना चाहिए। विदेश यात्रा का अमरीकी नागरिक का अधिकार, जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, यह दर्शित करता है कि देश से बाहर यात्रा करने का अधिकार भी अनियंत्रित नहीं है।

170. यह ज्ञात करने के लिए कि क्या नागरिकों को संयुक्त राज्य के राज्यक्षेत्र के बाहर वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का कोई अधिकार दिया गया है, अमरीकी विधि को देखना व्यर्थ है। प्रथम संशोधन में धर्म स्वातंत्र्य के साथ वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का उपबन्ध किया गया है। वाक् स्वाधीनता और प्रेस की स्वाधीनता लगभग एक जैसी ही हैं। वे मौखिक रूप से कुछ कहने की स्वाधीनता और लिखने, मुद्रित करने तथा उन शब्दों को परिचालित करने की स्वाधीनता है। किन्तु यदि लोगों को आपसी समस्याओं पर विचार विमर्श करने के लिए एकत्रित होने और अपने विचारों तथा अपनी राय को सरकारी अधिकारियों तक पहुंचाने के लिए अनुज्ञात न किया जाए तो यह वाक् स्वातंत्र्य निरर्थक होगा। अतः प्रथम संशोधन में यह उपबन्ध किया गया है कि जनता को शान्तिपूर्वक एकत्रित होने और अपनी व्यथाओं के प्रतितोष के लिए सरकार से निवेदन करने का अधिकार प्राप्त है। प्रतितोष के लिए पिटीशन केवल संयुक्त राज्य अमरीका तक ही सीमित हो सकता है। ह्यूमन राइट्स (मानव अधिकारों) पर हाल ही के एक सम्भाषण में संयुक्त राज्य के डिप्टी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट श्री वारेन क्रिस्टोफर

ने शिकागो में अमरीकी बार एसोसिएशन के समक्ष यह कहा कि मानवीय अधिकारों का उन्नयन कार्टर प्रशासन की विदेश नीति का आधारभूत सिद्धान्त बन गया है। मानवीय अधिकारों की संकल्पना और अमरीका में उसके प्रवर्तन को स्पष्ट करते हुए डिप्टी सेक्रेटरी ने यह कहा कि अत्यधिक मूलभूत और महत्वपूर्ण मानव अधिकारों को प्रदत्त करने के प्रयास किए जाने चाहिएं जिन सब को उस यूनिवर्सल डिक्लेरेशन् ऑफ़ ह्यूमन राइट्स में मान्यता दी गई है जो कि संयुक्त राष्ट्र ने 1948 में अनुमोदित कर दिया था। मानवीय अधिकारों के तीन प्रवर्गों पर अर्थात् (1) इस बात के अधिकार पर कि सरकार किसी व्यक्ति की निष्ठा का अतिक्रमण नहीं करेगी, (2) भोजन, निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण जरूरतों के पूरा किए जाने के अधिकार पर, और (3) सिविल तथा राजनीतिक स्वाधीनताओं का उपभोग करने के अधिकार पर ज़ोर देते हुए उन्होंने यह कथित किया कि विचार की, धर्म की, सम्मेलन की, प्रेस की स्वतंत्रता में, किसी के अपने देश में तथा देश के बाहर संचरण की स्वतंत्रता में, सरकार में भाग लेने की स्वतंत्रता में, जो कि ऐसी स्वाधीनताएं थीं जिनका अमरीकी नागरिक पूर्ण रूप से उपभोग कर रहे थे और जिन्हें वे प्रायः अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे, कई स्थानों पर हस्तक्षेप किया जा रहा है। यह अवलोकनीय है कि जब कि संचरण की स्वाधीनता के बारे में यह कहा गया है कि वह किसी के अपने देश के भीतर और बाहर दोनों ही स्थानों में होनी चाहिए, विचार की, धर्म की, सम्मेलन की, वाक् की, प्रेस की स्वतंत्रता जैसे अधिकारों के बारे में यह कथित नहीं किया गया है कि वे किसी को अपने देश के बाहर भी उपलभ्य होंगे। इस प्रकार यह देखा जाएगा कि किसी के अपने देश से बाहर संचरण के अधिकार के सिवाय अन्य अधिकार अमरीका में भी राज्यक्षेत्र के बाहर उपलभ्य नहीं हैं।

171. संविधान के अनुच्छेद 19(1) के अधीन प्रदत्त मूल अधिकार उन निर्बन्धनों के अधीन हैं जो संविधान के अनुच्छेद 19(2) से (6) तक के अधीन लगाए जा सकते हैं। मूल अधिकार आत्यन्तिक नहीं हैं अपितु स्वयं संविधान में ही उपबन्धित उचित निर्बन्धनों के अध्यधीन हैं। निर्बन्धन किसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन द्वारा या उचित निर्बन्धन लगाते हुए विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी किसी विधि द्वारा लगाए जा सकते हैं। इस प्रकार नागरिकों को मूल अधिकार देते हुए अनुच्छेद की स्कीम यह

देखना है कि ऐसा प्रयोग अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को प्रभावित न करे या सामान्य समुदाय को प्रभावित न करे। अनुच्छेद 19(2) से (6) तक के अधीन बनाई गई विधि वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य, शान्तिपूर्वक निरायुध सम्मेलन के अधिकार, आदि पर निर्बन्धन अधिरोपित करती है। इस प्रकार लगाया गया निर्बन्धन मामूली तौर पर केवल भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर लागू होना चाहिए, जब तक कि विधान अभिव्यक्त रूप से या अनिवार्य विवक्षा द्वारा राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन का उपबन्ध न करे। दण्ड संहिता में धारा 3 और 4 के अधीन अधिनियम को निर्दिष्ट रूप से उन अपराधों को लागू किया गया है जो कि भारत के नागरिकों द्वारा भारत के बाहर किए जाएं। न तो संविधान के अनुच्छेद 19 में और न ही अनुच्छेद 19(2) के अधीन अधिकारों को निर्बन्धित करने वाली किसी अधिनियमिति में अभिव्यक्त रूप से या अनिवार्य विवक्षा द्वारा ऐसा कोई उपबन्ध है जो राज्य-क्षेत्रातीत प्रवर्तन का उपबन्ध करता हो। कोई नागरिक भारत के राज्य-क्षेत्र के बाहर अपने मूल अधिकारों को प्रवृत्त नहीं कर सकता है भले ही यह माना जाए कि ऐसे अधिकार देश के बाहर भी उपलभ्य हैं।

172. इस दृष्टि से कि कोई नागरिक अनुच्छेद 19 के अधीन गारन्टीकृत मूल अधिकारों का भारत राज्य-क्षेत्र की सीमाओं के बाहर हकदार नहीं है, पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है कि भारत के बाहर यात्रा करने के लिए पिटीशनर को पासपोर्ट से वंचित करके वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य, शान्तिपूर्वक सम्मेलन कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने के अधिकार जैसे उसके मूल अधिकारों का अतिलंघन किया गया है। पिटीशनर का पासपोर्ट इस आधार पर जब्त किया गया था कि जांच आयोग के सम्बन्ध में उसकी उपस्थिति आवश्यक हो सकती है और जन हित में ऐसा करना आवश्यक था। आक्षेपित आदेश पिटीशनर पर, जब कि वह भारत से बाहर हो, कोई निर्बन्धन नहीं लगाता है। अतः इस मामले में यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है कि क्या राज्य ऐसा अवरोध लगा सकता है। यह दलील दी गई थी कि पासपोर्ट जब्त करके पिटीशनर के देश के बाहर वाक्-स्वातंत्र्य आदि के मूल अधिकार का अतिलंघन किया गया है इसलिए इस बात पर विचार करना आवश्यक हो गया है कि क्या नागरिक को ऐसा कोई अधिकार प्राप्त है।

173. इस बात का बलपूर्वक तर्क दिया गया था कि विधानमण्डल अनुच्छेद 21 के अधीन की शक्तियों का अवलम्ब लेकर भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर अनुच्छेद 19 के अधीन गारन्टीकृत मूल अधिकारों से किसी भी दशा में वंचित नहीं कर सकता है। अब इस बात पर विचार किया जाएगा कि क्या अनुच्छेद 21 के अधीन पारित अधिनियम को अनुच्छेद 19 की अपेक्षाओं को भी पूरा करना चाहिए।

174. यह निवेदन किया गया था कि अनुच्छेद 19, अनुच्छेद 20, 21 और 22 के अधीन बनाई गई विधियों को लागू होता है और नागरिक अनुच्छेद 21 के अधीन बनाए गए किसी अधिनियम की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती देने का हकदार होता है कि वह अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के अधीन उसे दिये गये अधिकारों को प्रभावित करता है। अनुच्छेद 20(1) में यह उपबन्ध किया गया है कि कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिये सिद्धदोष नहीं ठहराया जायेगा, जब तक कि उसने अपराधारोपित क्रिया करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो, और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता था। अनुच्छेद 22 कुछ अवस्थाओं में बन्दीकरण और निरोध से संरक्षण प्राप्त करने के बारे में अर्थात् निवारक निरोध की बाबत है।

175. गोपालन वाले मामले[1] में इस न्यायालय ने यह विनिश्चय किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन के अपराधों के लिए दाण्डिक निरोध की दशा में, उसे इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि उससे भारत के संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) से (ङ) तक तथा (छ) का उल्लंघन होता है। मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने यह मत व्यक्त किया––

> "यदि किसी नागरिक के वाक्-स्वातंत्र्य अथवा अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य या शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन के अधिकार, आदि को नियंत्रित करने का सीधा प्रयास करने वाला कोई विधान हो तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि क्या उस विधान को अनुच्छेद 19 के सुसंगत व्यावृत्ति खण्ड से व्यावृत्ति हो जाती है या नहीं तथापि, यदि विधान सीधे ही इनमें से किसी एक विषय की बाबत न हो, अपितु किसी अन्य विधान के प्रवर्तन के परिणामस्वरूप ही उदाहरण

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

के लिए दाण्डिक या निवारक निरोध के लिए इन उपखण्डों में से किसी के अधीन उसका अधिकार न्यून हो जाता है तो अनुच्छेद 19 के लागू होने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है।"

यद्यपि न्यायाधिपति फ़ज़ल अली ने दाण्डिक निरोध को अनुच्छेद 19 के लागू होने के बारे में बहुमत के निर्णय से विसम्मति प्रकट की थी, तथापि उन्होंने यह मत व्यक्त किया—

"भारतीय दण्ड संहिता मुख्य रूप से या अनिवार्य रूप से संचरण स्वातंत्र्य पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाती है और यह कहना उचित नहीं है कि यह अबाध संचरण के अधिकार पर निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली विधि है। इसका मुख्य उद्देश्य अपराध के लिए दण्डित करना है न कि संचरण को निर्बन्धित करना है। ....किन्तु यदि इसमें (दण्ड में) कारावास भी शामिल है तो संचरण पर निर्बन्धन लग जाता है। यह अवरोध अबाध संचरण पर निर्बन्धन लगाने वाली विधि के अधीन नहीं लगाया जाता है अपितु अपराध परिभाषित करने और उसे दण्डनीय बनाने वाली विधि के अधीन लगाया जाता है। दण्ड का किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार के अतिक्रमण से सीधा सम्बन्ध होता है न कि स्वयं अपराधी को प्राप्त संचरण के अधिकार से। अतः मेरे विचार में भारतीय दण्ड संहिता 'अबाध संचरण के अधिकार पर निर्बन्धन लगाने वाली विधि' शब्दों की व्याप्ति के अन्तर्गत नहीं आती है।"

विद्वान् न्यायाधीश फ़ज़ल अली ने इस आधार पर निवारक निरोध की बाबत भिन्न मत अपनाया था कि उसमें विचारण के लिए कोई स्थान नहीं था अपितु निरोध का आदेश किसी आशंकित खतरे पर न कि वास्तविक खतरे पर निर्भर करता था दाण्डिक निरोध की बाबत ***हरधन साहा* बनाम *पश्चिमी बंगाल राज्य***[1] में पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने भी ऐसे ही मत व्यक्त किए। मुख्य न्यायाधिपति रे ने यह मत व्यक्त किया—

"यह सोचना संभव नहीं है कि जिस व्यक्ति को निरुद्ध किया जाता है उसे अबाध संचरण के लिए या सम्मेलन के लिए या संस्था या

[1] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

संघ बनाने के लिए स्वतंत्रता होगी या उसे भारत के किसी भी भाग में निवास करने का अधिकार प्राप्त होगा या उसे वाक् या अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का अधिकार प्राप्त होगा। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को छल करने के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाता है और विचारण के बाद उसे अभियोजित किया जाता है तो यह नहीं कहा जा सकता है कि कारावास को इस बात के लिए कि क्या वह युक्तियुक्त है या नहीं, अनुच्छेद 19 के प्रति निर्देश से ही परखा जाना चाहिए। अतः जिस विधि को अनुच्छेद 19 लागू होता है, वह ऐसी होनी चाहिए जिससे कि उसकी युक्तियुक्तता को अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (5) तक के अधीन परखा जा सके।"

176. निवारक निरोध की दशा में अभियुक्त को वे सब प्रतिरक्षा कथन करने की छूट प्राप्त होगी जो कि विधि की दृष्टि से उसे उपलब्ध हैं जैसे कि किसी प्रवृत्त विधि का कोई अतिक्रमण नहीं हुआ था। दाण्डिक निरोध की बाबत **साहा वाले मामले**[1] में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि संविधान में अनुच्छेद 19 के अधीन अधिकार प्रदत्त किए गए हैं और उसमें उन तत्वों की जिनसे राज्य की सुरक्षा, क्षेम और राष्ट्र के कल्याण के लिए खतरा हो सकता है, अधिक बड़ी बुराई को रोकने की दृष्टि से निवारित करने के लिए निवारक निरोध अपनाया गया है, इसलिए यह सोचना संभव नहीं है कि जिस व्यक्ति को निरुद्ध किया जाता है, उसे ऐसा होने पर भी संचरण के लिए या सम्मेलन के लिए या संघ आदि बनाने के लिए स्वतंत्रता होगी।

177. इसी तर्क को लागू करते हुए राज्य की ओर से यह दलील दी गई है कि जब किसी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार उसके प्राण या दैहिक स्वाधीनता से वंचित किया जाता है तब वह अपनी सहायता के लिए संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन गारण्टीकृत अधिकारों में से किसी का अवलम्ब नहीं ले सकता है। इस बात की जांच कि क्या यह दलील स्वीकार की जा सकती है या नहीं, संविधान के उपबन्धों और इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चयों के संदर्भ में की जाएगी।

[1] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

178. अनुच्छेद 19 और 22 तक "स्वातंत्र्य अधिकार" शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं। अनुच्छेद 19 नागरिकों को स्वतंत्रताएं प्रदान करता है जबकि अनुच्छेद 20 से 22 तक केवल नागरिकों तक ही सीमित नहीं है अपितु सब व्यक्तियों को लागू होते हैं। अनुच्छेद 19 प्राण स्वाधीनता के अधिकार के सम्बन्ध में नहीं है जिसके बारे में अनुच्छेद 21 में उपबन्ध किया गया है। जबकि अनच्छेद 19 में उन स्वतंत्रताओं का उपबन्ध किया गया है जिनका कोई नागरिक हकदार होता है, अनुच्छेद 20 से 22 तक राज्य को कतिपय बातें करने से अवरुद्ध करता है। यद्यपि प्राण तथा दैहिक स्वाधीनता का अधिकार अनुच्छेद 19 के अधीन उपबन्धित नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 21 में, भले ही नकारात्मक रूप में, इसका उल्लेख तथापि प्राण और दैहिक स्वाधीनता का अधिकार प्रदत्त किया गया है और राज्य उससे केवल विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित कर सकता है। जबकि अनुच्छेद 19(1) के अधीन गारन्टीकृत अधिकार उन निर्बन्धनों के अध्यधीन हैं जो कि अनुच्छेद 19(2) से (6) तक के द्वारा लगाए जा सकते हैं, प्राण और दैहिक स्वाधीनता से वंचित न किये जाने का अधिकार इस बात के अध्यधीन है कि प्राण और दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जा सकता है। **गोपालन वाले मामले**[1] में न्यायाधिपति मुखर्जी ने "दैहिक स्वाधीनता" शब्दों पर विचार किया था। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था कि "अनुच्छेद 19 में व्यष्टिक स्वतंत्रताओं को सूचीबद्ध किया गया है और उसके विभिन्न खण्डों में वह निर्बन्धन विहित किये गये हैं जो कि विधि द्वारा उन पर लगाए जा सकते हैं जिससे कि उन अधिकारों का जन कल्याण या सामान्य नैतिकता से कोई विरोध न हो। दूसरी ओर अनुच्छेद 20, 21 और 22 मुख्य रूप से शास्तिक अधिनियमितियों या ऐसी अन्य ऐसी विधि के सम्बन्ध में हैं जिसके अधीन समाज के हित में किसी व्यक्ति का दैहिक क्षेम या स्वाधीनता छीनी जाएगी और उसमें वे परिसीमाएं उपवर्णित की गई हैं जिनके भीतर राज्य के नियंत्रण का उपयोग किया जाना चाहिए।........किसी के अपने ही प्राण और अंगों की सुरक्षा का तथा दैहिक स्वाधीनता के उपभोग का अधिकार शारीरिक अवरोध या किसी प्रकार के प्रपीड़न से स्वतंत्रता के अर्थ में किसी व्यक्ति के जन्मसिद्ध अधिकार होते हैं। उन अधिकारों का सार अन्य व्यक्तियों को उनके

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

अधिकारों में हस्तक्षेप करने से अवरुद्ध करना होता है और इसलिए उन्हें कोई विशिष्ट बातें करने की स्वतंत्रता" के रूप में वर्णित नहीं किया जा सकता है। "दैहिक स्वाधीनता" शब्दों का अर्थ "प्राण ...... से वंचित न किया जाएगा" शब्दों से पूरा होता है। इससे देह की स्वाधीनता अर्थात् दैहिक अवरोध से स्वतंत्रता अभिप्रेत है। अनुच्छेद 21, अनुच्छेद 20 और 22 सहित एक ऐसा अनुच्छेद है जो देह पर किसी अवरोध के सम्बन्ध में है। डायसी के अनुसार—

> "दैहिक स्वाधीनता के अधिकार से, जैसा कि इंग्लैण्ड में वह समझा जाता है, सारतः किसी व्यक्ति का यह अधिकार अभिप्रेत है कि उसे किसी भी ऐसी रीति से जो विधि की दृष्टि से न्यायोचित नहीं है कारावास का दण्ड न दिया जाए, गिरफ्तार न किया जाए या उसका कोई अन्य शारीरिक प्रपीड़न न किया जाए।" (डायसी कृत लाज़ आफ कान्सटीट्यूशन, 10वां संस्करण पृष्ठ 207)

179. संविधान के प्रारूपण से सम्बन्धित विचार-विमर्श में अनुच्छेद 15 में 'स्वाधीनता' शब्द प्रयुक्त किया गया था। संविधान के निर्माताओं ने यह सोचा कि स्वाधीनता शब्द के पूर्व दैहिक विशेषक शब्द लगाया जाना चाहिए क्योंकि अन्यथा इसका अर्थान्वयन इतना व्यापक हो जाएगा कि वे स्वतंत्रताएं भी इसके अन्तर्गत आ जाएंगी जिनके बारे में अनुच्छेद 19, 30 में (जो कि संविधान के अनुच्छेद 19 के तत्समानी हैं) उपबन्ध किया गया है। अतः अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' शब्द शारीरिक अवरोध से स्वतंत्रता तक ही सीमित हैं और संविधान के अनुच्छेद 19 में प्रगणित अन्य अधिकारों से भिन्न हैं'।

180. पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई है कि बैंक **राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] और **बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड और कुछ अन्य** बनाम **भारत संघ** वाले[2] मामले के विनिश्चय के पश्चात् उच्चतम न्यायालय द्वारा इससे पूर्व अपनाया गया यह मत कि इस बात का अर्थान्वयन करते समय कि क्या दैहिक स्वाधीनता से वंचित किया जाना विधिमान्य है या नहीं जांच केवल विहित प्रक्रिया की विधिमान्यता तक ही सीमित होनी चाहिए और अनुच्छेद 19(1) के अधीन प्रदत्त

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

अधिकारों के प्रति कोई निर्देश नहीं किया जाना चाहिए, अच्छी विधि नहीं रह गया है। अब इस प्रश्न से सम्बन्धित विनिश्चयों को ऐसा देखा जाएगा।

181. **गोपालन वाले मामले**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अनुच्छेद 19 नागरिकों के अधिकारों से उस दशा में ही सम्बन्धित होता है जबकि वह स्वतंत्र हो और वह ऐसे व्यक्ति को लागू नहीं होता है जो कि स्वतंत्र न रह गया हो और दाण्डिक या निवारक विधान के अध्यधीन हो। यह भी निर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद 19 केवल उन मामलों को ही लागू होता था जिनमें कोई विधान सीधे ही इस अनुच्छेद में प्रगणित अधिकारों को प्रभावित करता हो न कि ऐसे मामले में जहां कि उस अनुच्छेद में उल्लिखित अधिकारों का छीना जाना दाण्डिक या निवारक निरोध से सम्बन्धित विधान के प्रवर्तन के परिणामस्वरूप हो। न्यायाधिपति मुखर्जी ने यह भी कहा है कि दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने वाली ऐसी विधि विधिमान्य होगी जिसे अधिनियमित करने के लिए विधानमण्डल उसे दी गई शक्तियों की सीमाओं के भीतर सक्षम हो और जो संविधान द्वारा अधिकथित किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण न करती हो। विद्वान् न्यायाधीश ने यह स्पष्ट किया कि अनुच्छेद 21 के अधीन आने वाली विधि के औचित्य को अनुच्छेद 19 की किसी भी बात के प्रति निर्देश से प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है, भले ही अनुच्छेद 21 के अधीन बनाई गई विधि को अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 20 की अपेक्षाओं के अनुरूप होना होगा। इस प्रकार **गोपालन वाले मामले**[1] में अभिव्यक्त मत की उच्चतम न्यायालय ने **राम सिंह** बनाम **दिल्ली राज्य**[2] वाले मामले में पुष्टि कर दी थी जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था—

> "यद्यपि दैहिक स्वाधीनता की अन्तर्वस्तु इतनी व्यापक है कि इसके अन्तर्गत अनुच्छेद 19(1) में प्रगणित स्वतंत्राएं आ जाती हैं और उससे वंचित किये जाने के परिणामस्वरूप ये स्वतंत्रताएं निर्वापित हो जाएंगी तथापि संविधान में इन सिविल स्वतंत्रताओं को मूल अधिकारों से भिन्न माना गया है और अनुच्छेद 19, अनुच्छेद 21 और अनुच्छेद 22 में उन परिसीमाओं और शर्तों की

---

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

2 (1951) एस० सी० आर० 451.

बाबत पृथक् उपबन्ध किए गए हैं जिनके अधीन ही उन्हें छीना जा सकता है या न्यून किया जा सकता है।.........इन अनुच्छेदों के निर्वचन और उनके आपसी सम्बन्ध के बारे में **गोपालन वाले मामले** में पूर्ण न्यायपीठ ने विस्तृत रूप से विचार किया है।

गोपालन वाले मामले[1] में इस अनुच्छेद के निर्वचन का अनुमोदन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जो विधि दैहिक स्वाधीनता से वंचित करना प्राधिकृत करती है वह अनुच्छेद 19 के व्यापति क्षेत्र में नहीं आती है और उसकी विधिमान्यता का निर्णय उस अनुच्छेद में उपदर्शित कसौटी के आधार पर नहीं किया जाना है अपितु वह अनुच्छेद 21 और 22 की अपेक्षाओं के अनुपालन पर निर्भर करता है।

182. **बिहार राज्य** बनाम **कामेश्वर सिंह**[2] के मामले में इस मत की पुन: पुष्टि की गई थी जिसमें **गोपालन वाले मामले**[1] में अधिकथित विधि का अनुमोदन करते हुए न्यायाधिपति दास ने यह मत व्यक्त किया था —

> "जैसा कि गोपालन वाले मामले में [(1950) एस० सी० आर० 88] और चिरंजीत लाल वाले मामले में [(1950) एस० सी०आर० 869] मैंने स्पष्ट किया है, हमारा संविधान अनुच्छेद 19(1)(क) से (ङ) तक और (छ) द्वारा नागरिकों की स्वतंत्रता का संरक्षण करता है किन्तु राज्य को, जबकि वे स्वतंत्रताएं विद्यमान हों तब भी राज्य अथवा सार्वजनिक व्यवस्था या सदाचार या साधारण जनता के हित में, जैसा कि खण्ड (2) से (6) तक में उल्लिखित किया गया है, उन पर उचित निर्बन्धन अधिरोपित करने के लिए राज्य को सशक्त करता है। इसके अलावा जब किसी व्यक्ति की यह विनियमित स्वतंत्रता भी समुदाय की स्वतंत्रता से असंगत हो जाती है और उसको खतरा पहुंचाती है तब अनुच्छेद 21 द्वारा राज्य को उस व्यष्टि को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार उसके प्राण और दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने की शक्ति भी दी गई है, यद्यपि यह शक्ति अनुच्छेद 22 के उपबन्धों के अध्यधीन होती है।"

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

2 (1952) एस० सी० आर० 889.

183. **एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] के मामले में यह कसौटी अधिकथित की गई थी कि आक्षेपित अधिनियम में अधिनियमित अध्युपायों का प्रत्यक्ष या अपरिहार्य परिणाम होना चाहिए, और केवल इस कारण से किसी विधान को अभिखण्डित करना सम्भव नहीं होगा कि उसका ऐसा प्रभाव और प्रवर्तन होता है। इस प्रकार कि एक सम्भाव्य घटना अनिवार्य रूप से ऐसा परिणाम नहीं होगी जिसे विधानमण्डल ने सम्बद्ध कर्मकारों के फायदे के लिए इस प्रकार का अध्युपाय अधिनियमित करते समय अनुध्यात किया हो। इस प्रकार लागू की गई कसौटी यह है कि क्या परिणाम "प्रत्यक्ष और अपरिहार्य" थे।

184. **हमदर्द दवाखाना (वक्फ) लाल कुंआ दिल्ली** बनाम **भारत संघ**[2] के मामले में **राम सिंह वाले मामले**[3] और **एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स वाले मामले**[1] को अनुमोदन सहित उद्धृत करते हुए यह मत व्यक्त किया गया था कि—

> "अनुच्छेद 19(1) के अधीन गारण्टीकृत अधिकारों के संदर्भ में किसी कानून की सांविधानिकता का अवधारण उसके प्ररूप या प्रासंगिक उल्लंघन से नहीं होता है अपितु यथार्थता और सार से ही इस बात का अवधारण होता है·····यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) के अन्तर्गत आने वाले वाक्-स्वातंत्र्य के किन्हीं तत्वों या गुणों को विशेषता नहीं दी जाती है।"

इस मामले में न्यायालय ने पूर्ववर्ती विनिश्चयों का अनुमोदन करते हुए तथा इस प्रश्न पर विचार करते समय कि क्या विज्ञापन पर नियंत्रण लगाने से अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रदत्त अधिकारों पर कोई प्रभाव पड़ेगा, यथार्थता तथा सार विषयक कसौटी अधिकथित की थी।

185. **कोचुनी** बनाम **मद्रास राज्य**[4] में न्यायाधिपति सुब्बा राव ने **गोपालन वाले मामले**[5] में अधिकथित मत के औचित्य पर, जिसकी

---

[1] (1959) एस० सी० आर० 12.

[2] (1960) 2 एस० सी० आर० 671.

[3] (1951) एस० सी० आर० 451.

[4] (1960) 3 एस० सी० आर० 887.

[5] (1950) एस० सी० आर० 88.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

राम सिंह वाले मामले[1] में पुष्टि की गई थी, संदेह व्यक्त किया था। विद्वान् न्यायाधीश ने **गोपालन वाले मामले**[2] में न्यायाधिपति फ़ज़ल अली के विसम्मत निर्णय के प्रति निर्देश करने के पश्चात् जिसमें यह मत व्यक्त किया गया था कि अनुच्छेद 21 के अधीन बनाई गई विधि अनुच्छेद 19(1) का उल्लंघन नहीं करेगी, यह सम्प्रेक्षित किया—

"यह प्रश्न न्यायाधिपति फ़ज़ल अली द्वारा अभिव्यक्त विसम्मत निर्णय के कारण अनिर्णीत रहने के कारण हम इस निर्णय द्वाराआबद्ध हैं।"

186. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने **सकाल पेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और अन्य बनाम भारत संघ**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्बन किया था। विद्वान् काउन्सेल ने पृष्ठ 560-ए पर एक अवतरण के प्रति निर्देश किया था जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि ऐसे मामलों में सही दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि यह पता लगाया जाए कि नागरिक को सारतः क्या हानि या क्षति पहुंची है न कि केवल यह पता लगाया जाना चाहिए कि राज्य ने निर्बन्धन लगाने में कौन-सी रीति और पद्धति अपनाई है और इसलिए वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार को किसी नागरिक के कारबारी क्रियाकलापों को छीनने के उद्देश्य से छीना नहीं जा सकता है। पृष्ठ 867 पर एक अन्य अवतरण के प्रति भी निर्देश किया गया था जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्राप्त किये जाने के लिए आशयित परिणाम की वैधता से अनिवार्य रूप से यह विवक्षित नहीं होता है कि उसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साधन अनुज्ञेय है, क्योंकि भले ही लक्ष्य वांछनीय और अनुज्ञेय हों, तो भी प्रयुक्त किये जाने वाले साधनों द्वारा उस दशा में संविधान द्वारा अधिकथित परिसीमाओं का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए जबकि वे संविधान द्वारा गारण्टीकृत मूल अधिकारों में से किसी को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हों, जब किसी अध्युपाय को सांविधानिकता को चुनौती दी जाए तब यह कोई जवाब नहीं होता है कि मूल अधिकार के उल्लंघन के अलावा उपबन्ध अन्यथा वैध है।

187. विद्वान् काउन्सेल ने जिन उपरोक्त संप्रेक्षणों का अवलम्बन किया था वे उस पिटीशन में किये गये थे जिसमें दिल्ली न्यूज पेपर्स (प्राइस

1. (1951) 4 एस० सी० आर० 451.
2. (1950) एस० सी० आर० 88.
3. (1962) 3 एस० सी० आर० 451.

एण्ड पेज़) आर्डर, 1960 की विधिमान्यता को प्रश्नगत किया गया था। उक्त आदेश द्वारा प्रभारित कीमत के अनुसार किसी समाचार पत्र में प्रकाशित किये जाने वाले पृष्ठों की अधिकतम संख्या नियत की गई थी। आदेश को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वह संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) का उल्लंघन करता है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह आदेश शून्य था क्योंकि उससे संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण होता था और अनुच्छेद 19(2) द्वारा उसकी व्यावृत्ति नहीं होती थी। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अधिकार न केवल परिचालन के लिए प्रयुक्त की जाने वाली पद्धति तक विस्तारित होता था अपितु परिचालन की संख्या तक भी विस्तारित होता था और आक्षेपकृत अधिनियम तथा आदेश अधिकार के पश्चात्वर्ती पहलू पर भी अवरोध लगाते थे क्योंकि अधिनियम का उद्देश्य प्रत्येक रूप से परिचालन के विरुद्ध था और इस प्रकार वह वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप करता था। न्यायालय ने पृष्ठ 860 पर यह मत व्यक्त किया—

> "आक्षेपकृत विधि ऐसी होने के बजाय जो कि केवल प्रसंगतः ही वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार में हस्तक्षेप करती हो प्रत्यक्ष रूप से ही ऐसा करती है, यद्यपि वह इस लक्ष्य को समाचार पत्रों के कारबारी पहलू को विनियमित करने का तात्पर्य रखते हुए प्राप्त करना चाहती है। . . . ऐसा ढंग अनुज्ञेय नहीं है और न्यायालयों को ऐसे स्वातंत्र्य के अधिकार की, जो कि शायद हमारे संविधान द्वारा गारण्टीकृत सभी स्वातन्त्र्य अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण है, रक्षा करने के लिए सदैव सतर्क रहना होगा।"

इस विनिश्चय से इस मामले में विवाद्य प्रश्न का हल करने में हमें कोई सहायता नहीं मिलती है क्योंकि उसमें न्यायालय का सम्बन्ध इस प्रश्न से था कि क्या वाक्-स्वातन्त्र्य का अधिकार आक्षेपकृत आदेश द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता था। उस मामले में अनुच्छेद 19(1) के अधीन गारण्टीकृत अधिकारों पर अनुच्छेद 21 के अधीन बनाए गए विधान के प्रभाव के बारे में कोई विवाद नहीं था।

188. जिन दो मामलों का पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने इस रूप में अत्यधिक अवलम्बन किया था कि उनमें **गोपालन वाले मामले**[1]

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

में अपनाए गए मत को, जिसकी राम सिंह वाले मामले[1] में पुष्टि की गई थी, उलट दिया गया है, वे **बैंक राष्ट्रीयकरण**[2] और **बैनेट कोलमन वाले मामले**[3] हैं।

189. **खड़क सिंह वाले मामले**[4] में बहुमत की राय यह थी कि अनुच्छेद 21 में 'स्वाधीनता' शब्द के साथ 'दैहिक' शब्द भी है और उसमें उसका विस्तार अधिक संकुचित है तथा इस विशेषण का प्रयोग वाक-स्वातन्त्र्य या संचरण स्वातन्त्र्य जैसी स्वाधीनता के तत्वों और प्रसंगतियों, जिनके बारे में अनुच्छेद 19(1) में उपबन्ध किया गया है और अनुच्छेद 21 द्वारा गारण्टीकृत स्वाधीनता के बीच विशेष रूप से उन अनुज्ञेय निर्बन्धनों या अवरोधों के जो कि अनुच्छेद 19 (2) से (6) तक के द्वारा लगाए जा सकते हैं और अनुच्छेद 19(1) के विभिन्न उपखण्डों में उपबन्धित कई प्रकार की स्वाधीनताओं के बीच भेद के संदर्भ में अतिव्याप्ति को रोकने के लिए प्रयुक्त किया गया है। न्यायाधिपति सुब्बा राव द्वारा अभिव्यक्त अल्पमत यह है कि यदि अनुच्छेद 21 के अधीन किसी व्यक्ति के मूल अधिकार का उल्लंघन होता है तो राज्य उस कार्रवाई का समर्थन करने के लिए किसी विधि का अवलम्ब ले सकता है; किन्तु यह तब तक एक पूर्ण उत्तर नहीं हो सकता है जब तक कि राज्य की विधियां, जहां तक कि अनुच्छेद 19(1) के अन्तर्गत आने वाली विशेषताओं का सम्बन्ध है, अनुच्छेद 19(2) में अधिकथित कसौटी को पूरा न कर दें। दूसरे शब्दों में राज्य को यह दर्शित करके कि वह विधि केवल संविधान के अनुच्छेद 19(2) के अर्थान्तर्गत उचित निर्बन्धन लगाती है, इस बात का समाधान कराना होगा कि पिटीशनरों के मूल अधिकारों का उल्लंघन नहीं हुआ है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल का निवेदन यह है कि न्यायाधिपति सुब्बा राव द्वारा अभिव्यक्त मत की **बैंक राष्ट्रीयकरण**[2] और **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[3] पश्चात्वर्ती विनिश्चयों में पुष्टि कर दी गई है।

---

[1] (1951) एस० सी० आर० 451

[2] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[3] (1973) 2 एस० सी० आर० 757. =[1973] 1 उम० नि० प० 527.

[4] (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

190. 19 जुलाई, 1969 को कार्यकारी राष्ट्रपति ने 1969 का अध्यादेश संख्या 8 प्रख्यापित किया था जिसके द्वारा अध्यादेश में नामित 14 वाणिज्यिक बैंकों के उपक्रम को तत्समानी नये बैंकों में अन्तरित कर दिया गया था और उनमें निहित कर दिया गया था। तत्पश्चात संसद ने बैंककारी कम्पनी (उपक्रम का अर्जन और अन्तरण) अधिनियम, 1969 अधिनियमित किया था। उस अधिनियम का उद्देश्य राष्ट्रीय नीति और उद्देश्यों के अनुरूप कुछ बैंककारी कम्पनियों के उपक्रमों के अर्जन और अन्तरण के लिए तथा उससे सम्बद्ध और उसके आनुषंगिक विषयों के लिए उपबन्ध करना था। उच्चतम न्यायालय के समक्ष पिटीशनरों ने, जिन्होंने नामित बैंकों में से कुछ में शेयर धारण किये हुए थे या जिनके बैंकों में चालू अथवा आवधिक निक्षेप खाते थे, उक्त अधिनियमिति की विधिमान्यता को चुनौती दी थी। संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन किए गए पिटीशनों में अध्यादेश तथा अधिनियम की विधिमान्यता को कई आधारों पर प्रश्नगत किया गया था। मेरा सम्बन्ध केवल आधार संख्या 3 से है जो कि नीचे दिया गया है।

191. अनुच्छेद 19(1) (च) और अनुच्छेद 31(2) परस्पर रूप से अनन्य नहीं हैं और किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए सम्पत्ति के अर्जन के लिए उपबन्ध करने वाली विधि की विधिमान्यता के परख इस आधार पर की जा सकती है कि वह सम्पत्ति के अधिकार पर ऐसी परिसीमाएं लगाती है जो उचित नहीं है; इस प्रकार परख किए जाने पर अधिनियम के ऐसे उपबन्ध जो उल्लिखित बैंकों के उपक्रमों को अन्तरित करते हैं और बैंककारी कारबार चलाने से व्यावहारिक रूप से प्रतिषेध करते हैं, अनुच्छेद 19(1)(च) और (छ) के अधीन दी गई गारण्टी का अतिक्रमण करते हैं। इस दलील पर विचार करते हुए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31(2) परस्पर रूप से अनन्य नहीं हैं। न्यायालय ने यह सम्प्रेक्षित किया कि **गोपालन वाले मामले**[1] में बहुमत की राय में अन्तर्निहित सिद्धांत सम्पत्ति विषयक स्वतन्त्रता के संरक्षण तक विस्तारित होता है और यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) अपने प्रवर्तन में परस्पर अनन्य हैं तथा सम्पत्ति के अर्जन से सम्बन्धित विधि के

---

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

मुख्य उपबन्धों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि वे सम्पत्ति धारित करने के अधिकार पर अनुचित निर्बन्धन लगाते हैं। प्राधिकार सम्बन्धी दो भिन्न-भिन्न सीमा रेखाएं उल्लिखित करने के पश्चात् न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि "अनुच्छेद 31(1) और (2) के अधीन की गारण्टी, विधि द्वारा राज्य के प्राधिकार पर किसी व्यक्ति की सम्पत्ति ग्रहण कर लेने पर अधिरोपित परिसीमाओं से उत्पन्न होती है। इन दो उपबन्धों की परिसीमा के सही स्वरूप में अन्तर नहीं है। अनुच्छेद 19 का खण्ड (1) और अनुच्छेद 21 के खण्ड (1) तथा (2) एक जैसे अनुच्छेद हैं और अनुच्छेद 19(1) (च) विनिर्दिष्ट उद्देश्य प्रतिपादित करता है तथा अनुच्छेद 19(1) और 31 उस परिसीमा के सम्बन्ध में हैं जो कि विधि द्वारा लगाई जा सकती है और जिसके अधीन रहते हुए अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है। अनुच्छेद 31(2) की शर्तों का प्ररूपिक अनुपालन ही सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी के संरक्षण से इनकार करने के लिए पर्याप्त नहीं है। जो विधि सम्पत्ति से वंचित करना प्राधिकृत करती हो और जो विधि लोक प्रयोजन के लिए सम्पत्ति का अनिवार्य अर्जन प्राधिकृत करती हो उनका निर्णय यही कसौटी लागू करके किया जाना चाहिए। अर्जन विधि के प्राधिकार के अधीन किया जाना चाहिए और विधि पद से ऐसी विधि अभिप्रेत है जो विधानमण्डल की सक्षमता के भीतर हो और जो भाग 3 में अधिकारों की गारण्टी का ह्रास न करती हो।"

192. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि इसी निर्णयाधार पर यह आवश्यक है कि अनुच्छेद 21 के अधीन की अधिनियमिति को भी अनुच्छेद 19 की अपेक्षाओं को पूरा करना होगा और वह ऐसी विधि द्वारा होना चाहिये जिसे बनाने के लिये विधानमण्डल सक्षम हो और उसके द्वारा संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन प्रदत्त अधिकारों सहित भाग 3 में दिये गये अधिकारों की गारण्टी का ह्रास न होता हो। विचारार्थ यह महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] के विनिश्चय में **गोपालन वाले मामले**[2] के विनिश्चय को उलट दिया गया था और क्या वह इस प्रतिपादना के

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

लिए नज़ीर है कि विधानमण्डल की प्राण और दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने से सम्बन्धित कार्रवाई को संविधान के अनुच्छेद 19(1) के अधीन गारण्टीकृत अन्य मूल अधिकारों की शर्तों को भी पूरा करना चाहिये।

193. इस बात को अवधारित करने के लिए कि वह विधि यथार्थतः क्या है जो कि **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] में अधिकथित की गई है उस विनिश्चय को, विशेष रूप से पृष्ठ 570 से 578 तक को, ध्यान-पूर्वक देखना आवश्यक है। यह अभिनिर्धारित करने के पश्चात् कि––

> "किसी व्यक्ति के अधिकार का ह्रास न ही इस संरक्षण का माप है, कोई आक्षेपित कार्यवाही करने के लिए राज्य का उद्देश्य नहीं। अतः राज्य की शक्ति तथा उक्त शक्ति का प्रयोग करने में राज्य की कार्रवाई के उद्देश्य मात्र पर संकेन्द्रित करना संविधान के सही आशय की उपेक्षा करना होगा।"

न्यायालय ने आगे यह सम्प्रेक्षित किया कि "हमारे मतानुसार, यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य की कार्रवाई की विधिमान्यता को व्यक्ति और व्यष्टियों के समूहों के अधिकारों के सभी आयामों पर उसके प्रवर्तन को दृष्टि में रखते हुए अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए" यह अभिनिर्धारित करने के पश्चात् न्यायालय ने आगे यह कथित किया :––

> "किन्तु इस न्यायालय ने कुछ मामलों में, जिन्हें अब अवलोकित किया जाएगा, यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31(2) परस्पर अनन्य हैं।"

इस प्रक्रम पर इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि न्यायालय केवल उन्हीं विनिश्चयों पर विचार कर रहा था जिनमें यह मत अपनाया गया था कि अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) परस्पर अनन्य हैं। पृष्ठ 571 से 573 तक में **ए० के० गोपालन वाले मामले**[2] के कुछ अवतरणों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् पृष्ठ 574 पर न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया ––

> "ए० के० गोपालन के मामले [(1950) एस० सी० आर० 88] में व्यक्त किए गए मत की राम सिंह और अन्य बनाम दिल्ली

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974]3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

राज्य [(1951) एस० सी० आर० 451)] के मामले में पुनः पुष्टि की गई है।"

इस प्रकार **गोपालन वाले मामले**[1] के निर्णय के उद्धरणों पर विचार करने के पश्चात् न्यायालय ने उसके प्रभाव पर विचार किया था और यह मत व्यक्त किया था कि बहुमत के निर्णय में अन्तर्निहित सिद्धांत सम्पत्ति की बाबत स्वतन्त्रता के संरक्षण तक विस्तारित होता था और यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31(2) अपने प्रवर्तन में परस्पर अनन्य हैं। जबकि अनुच्छेद 21 के सम्बन्ध में अनुच्छेद 19(1) के प्रवर्तन की बाबत **गोपालन वाले मामले**[1] में किये गये सम्प्रेक्षणों के प्रति निर्देश नहीं किया गया था, न्यायालय इस बात पर विचार करने के लिए अग्रसर हुआ था कि **गोपालन वाले मामले**[1] के सिद्धांत का औचित्य सम्पत्ति की बाबत स्वतन्त्रता के संरक्षण तक विस्तारित होता था। **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में न्यायाधिपति दास ने यह सुझाया था कि यदि सम्पत्ति के अधिकार का प्रयोग करने की क्षमता उस अधिकार के विषय का विधिपूर्ण अनिवार्य अर्जन करने के कारण नष्ट हो जाती है तो उस अधिकार का स्वामी अशक्तता की अवधि में उक्त अधिकार से विहीन हो जाता है। **चिरंजीत लाल चौधरी के मामले**[2] न्यायाधिपति दास ने पृष्ठ 919 पर यह मत व्यक्त किया था।

"......अनुच्छेद 19(1) (च) में गारण्टीकृत सम्पत्ति का अधिकार......उस समय तक बना रहेगा जब तक कि उस अधिकार का स्वामी अनुच्छेद 31 के अधीन विधि के प्राधिकार से ऐसी सम्पत्ति से वंचित नहीं हो जाता।"

न्यायाधिपति दास ने **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **सुबोध गोपाल**[3] के मामले में इसी मत को दोहराया था जिसमें इस प्रकार सम्प्रेक्षित किया गया था--

"अनुच्छेद 19(5) के साथ पठित अनुच्छेद 19(1)(च) में यह पूर्वानुमान किया गया है कि जिस व्यक्ति के लिए यह

---

1 (1950) एस० सी० आर० 88.

2 (1950) एस० सी० आर० 869.

3 (1954) एस० सी० आर० 587.

मूल अधिकार गारण्टीकृत किया गया है वह अपनी सम्पत्ति धारण किए हुए है जिस पर या जिसकी बाबत केवल उक्त अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।"

इस प्रकार **गोपालन वाले मामले**[1] में बहुमत के निर्णय में अधिकथित सिद्धांत को सम्पत्ति से सम्बन्धित स्वतन्त्रता तक विस्तारित करने विषयक सम्प्रेक्षण को **चिरंजीत लाल चौधरी**[2] और **सुबोध गोपाल वाले मामले**[3] में न्यायाधिपति दास ने दोहराया था। उस सिद्धांत को **मुम्बई राज्य** बनाम **भांजी मुंशी**[4] **वाले** मामले में अधिक ठोस रूप में व्यक्त किया गया है जिसमें कि यह अभिनिर्धारित किया गया था कि "यदि ऐसी कोई भी सम्पत्ति नहीं है, जिसे अर्जित, धारित या व्ययनित किया जा सके, तो उसका अर्जन, धारण या व्ययन करने के अधिकार का प्रयोग करने पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाया जा सकता और चूंकि खण्ड (5) में उन अधिकारों का प्रयोग करने पर युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाना अनुध्यात किया गया है इसलिये इससे यह परिणाम निकलता है कि अनुच्छेद में उस सम्पत्ति के अस्तित्व का पूर्वानुमान किया गया है जिसकी बाबत अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है।" **देबु बड़क्या ठाकुर** बनाम **मुम्बई राज्य**[5] तथा **श्रीमती सीतावती देवी और एक अन्य** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[6] के पश्चात्वर्ती मामलों में इस मत को स्वीकार किया गया था। कुछ अन्य मामलों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् न्यायालय ने आगे यह कहा था —"**कवलप्पारा कोट्टारथिल कोचुनी के मामले**[7] के विनिश्चय के साथ ही प्राधिकार सम्बन्धी दो भिन्न-भिन्न सीमा-रेखाएं उद्भूत हो गईं —(1) अनुच्छेद 31(1) में "विधि का प्राधिकार" की इस आधार पर परीक्षा की जा सकती है कि वह दूसरे मूल अधिकारों का और अनुच्छेद 19(1) (च) में गारण्टीकृत सम्पत्ति धारण करने के अधिकार को सम्मिलित करते हुए अन्य स्वतन्त्रताओं का अतिक्रमण करता है, और (2) अनुच्छेद 31(2) के अन्तर्गत "विधि का प्राधिकार" की इस आधार पर परीक्षा नहीं की

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.
[2] (1950) एस० सी० आर० 869.
[3] (1954) एस० सी० आर० 587.
[4] (1955) 1 एस० सी० आर० 777.
[5] (1961) 1 एस० सी० आर० 128.
[6] (1967) 2 एस० सी० आर० 949.
[7] (1960) 3 एस० सी० आर० 887.

जा सकी कि वह अनुच्छेद 19(1)(च) की, जहां तक वह मुख्य निर्वन्धन अधिरोपित करता है, गारण्टी का ह्रास करता है, हालांकि अन्य गारण्टियों के ह्रास के आधार पर उसकी परीक्षा की जा सकती है। इसके पश्चात् **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **रानोजीराव शिण्दे**[1] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया था कि अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) में विधि की विधिमान्यता को अनुच्छेद 19(1) (च) को दृष्टि में रखते हुए न्यायनिर्णीत किया जा सकता है। किन्तु इस न्यायालय ने उक्त मामले में उन नजीरों की पूर्व श्रृंखला पर कोई विचार नहीं किया जो अनुच्छेद 31(2) और अनुच्छेद 19(1) (च) के बीच परस्पर-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं।

194. अनुच्छेद 31(2) और अनुच्छेद 19(1)(च) के आपसी सम्बन्ध की बाबत निर्दिष्ट विनिश्चयों पर विचार करते हुए न्यायालय ने अपना यह मत व्यक्त किया कि "यह सिद्धांत, कि राज्य की कार्रवाई का उद्देश्य और उसका रूप ही उस संरक्षण के विस्तार को अवधारित करता है जिसका कोई व्यथित पक्षकार दावा कर सकता है, सांविधानिक स्कीम से संगत नहीं है। प्रत्येक स्वतन्त्रता के भिन्न-भिन्न आयाम होते हैं।" यह कथित करने के पश्चात् न्यायालय ने अनुच्छेद 31(2) और अनुच्छेद 19(1)(च) के परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया और यह अभिनिर्धारित किया——

> "इन दोनों उपबन्धों के अधीन निर्बन्धनों का सही स्वरूप भिन्न नहीं है अनुच्छेद 19 का खण्ड (5) और अनुच्छेद 31 के खण्ड (1) और (2) एक ही ढांचे के भाग हैं : अनुच्छेद 19(1) (च) में नागरिकों का सम्पत्ति का आधारभूत अधिकार प्रतिपादित किया गया है और अनुच्छेद 19(5) और अनुच्छेद 31 के खण्ड (1) और (2) में वे निर्बन्धन दिये गये हैं और जो विधि द्वारा लगाए जा सकते हैं और जिनके अधीन रहते हुए इन अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है।"

यह अवलोकनीय है कि इस निष्कर्ष का आधार यह है कि अनुच्छेद 19 और अनुच्छेद 31 के खण्ड (1) तथा (2) एक ही ढांचे के भाग हैं जबकि अनुच्छेद 19(1)(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का

---

[1] (1968) 3 एस० सी० आर० 479=[1968] 2 उम० नि० प० 154.

अधिकार प्रतिपादित करता है; अनुच्छेद 19 का खण्ड (5) इस अधिकार पर निर्बन्धन अधिरोपित करना प्राधिकृत करता है। निर्बन्धन उचित होना चाहिए और अनुच्छेद 31 सम्पत्ति का अधिकार सुनिश्चित करता है तथा राज्य के प्राधिकार के प्रयोग के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है और अनुच्छेद 19 का खण्ड (5) तथा अनुच्छेद 31 के खण्ड (1) और (2) राज्य की कार्रवाई पर वे निर्बन्धन लगाते हैं जिनके अधीन रहते हुए सम्पत्ति के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है। इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती है कि अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन गारण्टीकृत सम्पत्ति का अधिकार अनुच्छेद 19(5) और अनुच्छेद 31 के अधीन के निर्बन्धनों के अध्यधीन है और तद्द्वारा सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित है; क्योंकि वह इस निष्कर्ष का आभार था। संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया––

> "अधिकारों का अभिव्यक्त या विवक्षित निरूपण किस एक से ढांचे का अनुकरण नहीं करता। किन्तु इस सब के बीच एक तारतम्यता पाई जाती है वे विनिर्दिष्ट सीमा के अन्दर उन अधिकारों के अतिलंघन के विरुद्ध व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूह के अधिकारों को संरक्षण देना चाहते हैं। संविधान के भाग 3 में आधारभूत मानवीय अधिकारों के ताने-बाने के आधार पर गारण्टियों का एक ढांचा बुना गया है ये गारण्टियां उन अधिकारों के उनके आबंटित क्षेत्रों के अन्तर्गत संरक्षण को परिसीमित करती हैं, वे सुभिन्न अधिकारों को प्रतिपादित करने का प्रयत्न नहीं करतीं।"

इसके आगे न्यायालय ने यह कहा––

> "अतः हम यह अभिनिर्धारित करने में असमर्थ हैं कि अर्जन के लिए उपबन्ध की विधिमान्यता की चुनौती की परीक्षा अनुच्छेद 31(2) के अननुपालन के आधार पर की जा सकती है। अनुच्छेद 31(2) में यह अपेक्षा की गई है कि सम्पति सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही अर्जित की जानी चाहिए और यह कि वह उक्त अनुच्छेद में दी गई विशेषताओं सहित किसी विधि के अधीन अर्जित की जानी चाहिए। अनुच्छेद 31(2) के अधीन शर्तों

का प्ररुपिक अनुपालन ही सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी के संरक्षण से इनकार करने के लिए पर्याप्त नहीं है ।"

195. अपना निष्कर्ष अभिकथित करने के पश्चात् न्यायालय ने यह कथित किया कि इन दो प्रकार के प्राधिकार के मूल-कारण की परीक्षा करना और यह अवधारित करना आवश्यक प्रतीत हुआ है कि क्या संविधान में कोई ऐसी बात है जो विधि के इस दृश्यमान असंगत विकास को न्यायोचित ठहराती हो । इसके पश्चात् न्यायालय ने यह कथित किया कि उसके मतानुसार **ए० के० गोपालन वाले मामले**[1] में इस धारणा को कि संविधान के कतिपय अनुच्छेद में विनिर्दिष्ट विषयों की बाबत अनन्यतः चर्चा की गई है और यह अवधारण करने के लिए कि क्या किसी व्यक्ति के गारण्टीकृत अधिकारों का अतिलंघन हुआ है, राज्य की कार्रवाई के उद्देश्य और रूप मात्र पर ही विचार किए जाने की आवश्यकता है और साधारणतः व्यक्तियों के मूल अधिकारों पर इन विधियों के प्रभाव की उपेक्षा की जा सकती है, सही नहीं माना जा सकता । इस हद तक न्यायालय ने विनिर्दिष्ट रूप से इस मत को उलट दिया था कि केवल राज्य की कार्रवाई के उद्देश्य और रूप मात्र पर ही विचार किये जाने की आवश्यकता है । उसने यह मत व्यक्त किया कि "हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि ऐसी 'विधि' की विधिमान्यता को, जो सम्पत्ति से वंचित करने को प्राधिकृत करती हो और ऐसी 'विधि' की विधिमान्यता को, जो किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए सम्पति के अनिवार्य अर्जन को प्राधिकृत करती हो, एक ही कसौटी लागू करते हुए न्यायनिर्णीत किया जाना चाहिए ।" इस प्रकार यह देखा जाएगा कि **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[2] में न्यायालय का सम्पूर्ण विचार-विमर्श अनुच्छेद 31(2) और अनुच्छेद 19(1)(च) के बीच आपसी सम्बन्ध के बारे में था । इस प्रश्न पर विचार करते हुए निस्संदेह न्यायालय ने **गोपालन वाले मामले**[1] में से विद्वान् न्यायाधीशों के निर्णयों से अवतरण उद्धृत किये थे किन्तु केवल बहुमत के निर्णय, विशेष रूप से न्यायाधिपति दास के निर्णय में अन्तर्निहित सिद्धान्त को सम्पत्ति की बाबत स्वतंत्रता के संरक्षण तक विस्तारित करने के बारे में ही विचार किया था । यह कथित करने के

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

[2] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

पश्चात् कि **कोचुनी वाले मामले**[1] के विनिश्चय के साथ ही दो भिन्न-भिन्न मत उत्पन्न हो गये थे, न्यायालय ने अपने को केवल प्राधिकार विषयक दो मतों के निर्णयाधार तक ही सीमित रखा। **गोपालन वाले मामले**[2] में अपनाया गया यह मत कि राज्य की कार्रवाई का उद्देश्य और रूप मात्र ही देखा जाना है, उलट दिया गया था और यह अधिकथित किया गया था कि व्यक्ति के अधिकार पर की जाने वाली कार्रवाई और उसके बारे में ही अनुतोष देने की न्यायालय की अधिकारिता लागू होती है। निस्संदेह यह सत्य है कि दैहिक स्वाधीनता की बाबत सरसरी तौर पर ही कुछ सम्प्रेक्षण किये गये थे जैसे कि--

> "हमने उन प्रमुख न्यायाधिपतियों के ठोस निर्णयों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है जिन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि इन महत्वपूर्ण गारण्टियों के जैसे दैहिक स्वाधीनता और सम्पति का अधिकार के संरक्षण का विस्तार राज्य की कार्रवाई के रूप और उद्देश्य पर निर्भर होता है, व्यक्ति की स्वतंत्रता पर उसके प्रत्यक्ष प्रवर्तन के प्रभाव पर नहीं।"

196. यद्यपि उस मामले में दैहिक स्वाधीनता का प्रसंगवश उल्लेख किया गया था, तथापि उस विनिश्चय पर उसके पश्चात् उसमें कोई अधिक विचार-विमर्श नहीं किया गया है। निस्सन्देह रूप से जबकि **बंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[3] यह विधि स्थापित कर देता है कि अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31(2) परस्पर अनन्य हैं, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई औचित्य नहीं है कि वह मामला इस प्रतिपादना के लिए नजीर है कि अनुच्छेद 21 के अधीन किसी विधान को अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन गारण्टीकृत सब मूल अधिकारों की शर्तों को भी पूरा करना चाहिए। जैसा कि पहले कथित किया गया है, अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31(2) एक ही ढांचे के भाग हैं और सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन मूल अधिकार अनुच्छेद 19(5) या अनुच्छेद 31(2) के अधीन निर्बन्धित है और चूंकि ये अनुच्छेद सम्पत्ति के अधिकार के प्रति निर्देश

---

1 (1960) 3 एस० सी० आर० 887.

2 (1950) एस० सी० आर० 88.

3 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

करते हैं इसलिए उनका आपस में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि उन्हें परस्पर अनन्य अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है। किन्तु अनुच्छेद 21 प्राण और दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने के सम्बन्ध में है और यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह अनुच्छेद 19(1) में प्रगणित अधिकारों में से एक नहीं है और केवल उन्हीं दैहिक अधिकारों के प्रति निर्देश करता है जो कि अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत नहीं आते हैं।

197. **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] का विनिश्चय, जहां तक कि वह अनुछेद 19(1) और 21 के सम्बन्ध में है, इतरोक्ती के स्वरूप का है। यद्यपि वह 11 न्यायाधीशों की न्यायपीठ का विनिश्चय है और उसके प्रति अत्यधिक सम्मान दर्शित किया जाना चाहिए, तथापि न्यायालय ने इस विनिर्दिष्ट प्रश्न के बारे में भली-भांति विचार नहीं किया था और उसका विनिश्चय नहीं किया था और चूंकि एक ऐसे प्रश्न पर जिसमें उसके विनिश्चय की अपेक्षा नहीं की गई थी, सामान्य रूप से और सरसरी तौर पर सम्प्रेक्षण किया गया है जिस पर स्पष्ट रूप से उसके समक्ष कोई बहस नहीं की गई थी इसलिए उस मामले को प्रश्नगत प्रतिपादना के लिए नज़ीर के रूप में नहीं माना जा सकता है। न्यायालय के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उसने इस विषय में विधि घोषित कर दी थी, जबकि इस प्रश्न पर विचार करने और उसका विनिश्चय करने का न्यायालय के समक्ष कोई अवसर उत्पन्न नहीं हुआ था।

198. यह भी अवलोकनीय है कि न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि आक्षेपित अधिनियम आवश्यक सिद्धान्त अधिकथित न करने के कारण अनुच्छेद 31(2) का अतिक्रमण करता है, इसलिए पिटीशनरों को अनुतोष देने के प्रयोजन से अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) के बीच परस्पर सम्बन्ध विषयक विनिश्चय वस्तुतः आवश्यक नहीं था। इसी मामले में हमारा सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि क्या **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] का विनिश्चय, जहां तक कि उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद 19(1) और 31(2) परस्पर सम्बन्धित हैं, इतरोक्ती के स्वरूप का है। किन्तु यह कथित करना आवश्यक है कि वह विनिश्चय कुछ गलत धारणाओं के आधार पर अग्रसर हुआ था। **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] में पृष्ठ 572 पर यह माना गया था कि

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

"न्यायालय ने बहुमत से (मु० न्या० कानिया और न्या० पातंजलि शास्त्री, महाजन, मुखर्जी और दास) यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 22 निवारक निरोध के सम्बन्ध में एक पूर्ण संहिता होने के कारण निरोध के आदेश की विधिमान्यता यथार्थतः उक्त अनुच्छेद की सीमाओं के अन्दर और उसके शब्दों के अनुसार ही अवधारित की जानी चाहिए।" इस कथन का **गोपालन वाले मामले**[2] के निर्णय से समर्थन नहीं होता है। **गोपालन वाले मामले**[2] में पृष्ठ 115 पर मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने यह कथित किया था "विद्वान् अटर्नी जनरल ने यह दलील दी थी कि निवारक निरोध का विषय अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत कदापि नहीं आता है और यह पूर्णतः अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत आता है। उनके अनुसार अनुच्छेद 22 एक पूर्ण संहिता है। मैं उस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हूं।" उक्त निर्णय के पृष्ठ 207 पर न्या० पातंजलि शास्त्री ने यह कहा था "महा न्यायवादी ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद 22 खण्ड (4) से (7) तक निवारक निरोध की बाबत सांविधानिक रक्षोपायों की एक पूर्ण संहिता बनाते हैं और यदि केवल उन्हीं उपबन्धों का पालन किया जाए तो निवारक निरोध से सम्बन्धित किसी विधि की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। मैं इस बात से सहमत होने में असमर्थ हूं।" न्यायाधिपति दास ने महा न्यायवादी के तर्क के प्रति निर्देश करते हुए पृष्ठ 324 पर यह कथित किया—"अनुच्छेद 21 का निवारक निरोध से बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं है और निवारक निरोध पूर्णतः अनुच्छेद 22(4) से (7) तक के अन्तर्गत आता है जो कि स्वयं ही एक पूर्ण संहिता है। मैं इस मत से भी सहमत होने में असमर्थ हूं।" उस निर्णय के पृष्ठ 229 पर न्यायाधिपति मुखर्जी ने यह मत व्यक्त किया कि "विद्वान् महान्यायवादी द्वारा उठाए गए इस प्रश्न पर भी बहस करना अनावश्यक है क्या निवारक निरोध की विधि की बाबत अनुच्छेद 22(1) स्वयं पूर्ण संविदा हैं और क्या उसके द्वारा अधिकथित प्रक्रिया व्यापक है या नहीं।" पृष्ठ 226 पर न्यायाधिपति महाजन ने यह अभिनिर्धारित किया कि "संविधान की सम्पूर्ण स्कीम का पुनर्विलोकन करने के पश्चात् मेरा यह समाधान हो गया है कि अनुच्छेद 22 को निवारक निरोध विषयक विधियों की बाबत स्वयं पूर्ण संविदा बनाने का आशय था।" इस प्रकार यह देखा

---

1 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

2 (1950) एस० सी० आर० 88.

जाएगा कि बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले[1] में यह धारणा कि गोपालन वाले मामले[2] में बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 22 पूर्ण संहिता है, गलत है और इस विनिश्चय का आधार ही कमजोर पड़ गया है। यदि किसी गलत धारणा पर आधारित इतरोक्ति को विधि की सही स्थिति माना जाना है तो उससे विलक्षण परिणाम निकल सकते हैं। यदि अनुच्छेद 21 के अधीन दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने वाले मामले को अनुच्छेद 19(1)(क) से (ङ) तक और (छ) लागू किए जाते हैं तो भारतीय दण्ड संहिता के अधीन किये गये अपराध, जैसे कि चोरी, छल या हमले के लिए दाण्डिक निरोध भी अवैध होगा, जैसा कि गोपालन वाले मामले[2] में मुख्य न्यायाधिपति कानिया और न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री ने कहा है, क्योंकि ऊपर उल्लिखित अपराध लोक हित में लगाए गए उचित निर्बन्धन के अन्तर्गत नहीं आएंगे। जैसा कि गोपालन वाले ममाले[2] और साहा वाले मामले[3] में कथित किया गया है दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन दाण्डिक निरोध और निवारक निरोध के बीच कोई प्रभेद नहीं हो सकता है। जैसा कि पहले कहा गया है, भले ही न्यायाधिपति फज़ल अली ने गोपालन वाले मामले[2] में विसम्मति प्रकट की थी, तो भी जहां तक निवारक निरोध का सम्बन्ध है माननीय न्यायाधीश ने यही मत अभिव्यक्त किया था। उन्होंने यह कहा था कि "भारतीय दण्ड संहिता मुख्य रूप से या अनिवार्य रूप से संचरण की स्वतंत्रता पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाती है और यह कहना ठीक नहीं है कि वह अबाध रूप से संचरण के अधिकार पर निर्बन्धन लगाने वाली विधि है।" यह निष्कर्ष कि अनुच्छेद 19(1) और 21 परस्पर अनन्य थे अनुच्छेद 19(5) के साथ पठित अनुच्छेद 19(1) (घ) की भाषा के निर्वचन के सम्बन्ध में निकाला गया था न कि इस आधार पर कि अनुच्छेद 19(1) और 21 परस्पर अनन्य है और अनुच्छेद 21 एक पूर्ण संहिता है। अनुच्छेद 15 (अब अनुच्छेद 21) पर प्रारूप समिति की रिपोर्ट पर "दैहिक स्वाधीनता" शब्दों में, इस विचार से 'स्वाधीनता' के पूर्व 'दैहिक' शब्द जोड़ दिया गया था कि अन्यथा उसका अर्थान्वयन

---

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

[3] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

इतना व्यापक हो जाएगा कि वे स्वतंत्रताएं भी उसके अन्तर्गत आ जाएंगी जिनके सम्बन्ध में अनुच्छेद 13 (अब अनुच्छेद 19) में उपबन्ध किया जा चुका है। **गोपालन वाले मामले**[1] में न्यायाधीशों ने यह भी कहा था कि अनुच्छेद 19(1) और 21 उसी क्षेत्र में प्रवृत नहीं होते हैं जिसमें कि अनुच्छेद 19(1) और 31(2) प्रवृत्त होते हैं। अनुच्छेद 21 के अधीन का अधिकार भिन्न है और इसके अन्तर्गत वे अधिकार नहीं आते हैं जो कि अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत आते हैं। अनुच्छेद 19(1) खण्ड (क) से (छ) तक के खण्डों में उल्लिखित मुख्य अधिकार केवल नागरिकों को प्रदत्त करता है और इसके अन्तर्गत अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत आने वाला दैहिक स्वाधीनता का अधिकार नहीं आता है। ऊपर कथित कारणों से **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[2] में की गई यह इतरोक्ति कि अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत आने वाले विधान को अनुच्छेद 19(1) की अपेक्षाओं को भी पूरा करना चाहिए सही विधि नहीं मानी जा सकती है। न्यायालय ने **गोपालन वाले मामले**[1] के निर्णयाधार पर विचार नहीं किया था और उसे उलट दिया था।

199. बैंक **राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[2] का अनुसरण करते हुए **बैनेट कोलमैन के मामले**[3] में अधिकथित की गई किसी विधान की विधिमान्यता की कसौटी पर विचार करने के पूर्व उन विनिश्चयों के प्रति संक्षेप में निर्देश किया जा सकता है जिनमें इस गलत आधार पर कि **गोपालन के मामले**[1] में बहुमत ने अनुच्छेद 22 को स्वयंपूर्ण संविदा माना था, **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[2] का अनुसरण किया था। **एस० एन० सरकार** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[4] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि **गोपालन वाले मामले**[1] में न्यायालय के बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 22 एक स्वयं पूर्ण संहिता है और इसलिए निवारक निरोध की विधि को अनुच्छेद 19, 14 और 20 की अपेक्षाओं को पूरा करने की जरूरत नहीं है। **बैंक**

---

[1] (1950) एस० सी० आर० 88.

[2] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[3] (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

[4] (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411.

राष्ट्रीयकरण वाले मामले[1] में **गोपालन वाले मामले**[2] **के** पूर्वोक्त आधार का अननुमोदन कर दिया गया था इसलिए वह अब अस्तित्वशील नहीं रहा है । यद्यपि **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] में अनुच्छेद 19 और 31 के सम्बन्ध में विचार किया गया था, तथापि संविधान के विभिन्न उपबन्धों के अधीन गारन्टीकृत मूल अधिकारों पर विचार करते हुए उस मामले में अपनाए गए आधारभूत मत में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि **गोपालन वाले मामले**[2] में बहुमत के निर्णय का मुख्याधार भ्रान्तिपूर्ण था । इस मामले में अपनाए गए मत में भी वे ही त्रुटियां हैं जिन का **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] में उल्लेख किया गया है । इसके पश्चात् **खुदीराम** बनाम **पश्चिमी बंगाल**[3] के मामले में चार न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ ने पुनः यह गलत अभिनिर्धारित किया कि **गोपालन वाले मामले**[2] में यह मत अपनाया गया था कि अनुच्छेद 22 एक पूर्ण संहिता है । **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] और **शम्भूनाथ सरकार वाले मामले**[4] तथा **एच० साहा** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[5] के मामले के प्रति निर्देश करने के पश्चात् न्यायालय ने यह माना की इस प्रश्न का विनिश्चय हो चुका है और यह संविवाद समाप्त हो चुका है तथा यह अभिनिर्धारित किया कि इस विनिश्चय की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति यह दलील नहीं दे सकता है कि अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत आने वाले निवारक निरोध विधि को अनुच्छेद 14 या अनुच्छेद 19 की अपेक्षा को पूरा नहीं करना होता है ।

200. **अपर जिला मजिस्ट्रेट** बनाम **एस० एस० शुक्ला**[6] के मामले में उस समय, जबकि तारीख 27 जून, 1975 वाला राष्ट्रपति का आदेश प्रवृत्त था, भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन बन्दी प्रत्यक्षीकरण की रिट चलाने के अधिकार पर विचार किया जाना

---

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974]3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1950) एस० सी० आर० 88.

[3] (1975) 2 एस० सी० सी० 81=[1975] 3 उम० नि० प० 337.

[4] (1973) 1 एस० सी० सी० 856=[1973]3 उम० नि० प० 411.

[5] (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

[6] (1976) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 172=[1976] 3 उम०नि० प० 1.

था। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन निरोध के आदेश की वैधता को चुनौती देने के लिए रिट पिटीशन के तौर पर उपचार किसी निरुद्ध व्यक्ति को आपात् स्थिति के दौरान प्राप्त नहीं होता है, **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] में संविधान के अनुच्छेद 21 के लागू होने की बाबत बहुमत द्वारा किए गये सम्प्रेक्षणों पर विचार किया था। पृष्ठ 230 पर यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "अनुच्छेद 21, प्राण तथा स्वाधीनता के संदर्भ में, हमारा विधि शासन है। किसी भी अन्य विधि शासन का किसी विशिष्ट अधिकार के रूप में पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता। भाग 3 में सम्मिलित मूल अधिकार की नकारात्मक भाषा द्वारा, राज्य की शक्ति पर बन्धन आरोपित किया गया और वह यह घोषित करती है कि उस मूल अधिकार की बाबत व्यक्ति की तत्स्थानी गारन्टी क्या होगी। बन्धन और गारन्टी एक दूसरे के पूरक हैं। नकारात्मक भाषा में अभिव्यक्त किसी मूल अधिकार में समाविष्ट राज्य के कार्यकलाप सम्बन्धी पाबन्दी यह बताती है कि व्यक्ति का संरक्षण कितना अधिक है।"

खड़क सिंह वाले मामले[2] में अभिनिर्धारित किये गये इस मत को अनुमोदन सहित उद्धृत करने के पश्चात कि अनुच्छेद 21 में दहिक स्वाधीनता के अन्तर्गत अनुच्छेद 19(1) में उल्लिखित अधिकारों से भिन्न वे सब अधिकार आते हैं जो दैहिक स्वाधीनता गठित करते हैं, विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] में विधि के क्षेत्र में युक्तियुक्त निर्बन्धन की संकल्पना का उल्लेख मात्र है न्यायाधिपति बेग ने (जैसे कि वे उस समय थे) पृष्ठ 322 पर इस पहलू पर कुछ अधिक विस्तृत रूप से विचार किया था। **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] के कुछ विद्वानों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया था—

> "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ऊपर वाले मामले में गोपालन वाला मामला तर्क की उस श्रृंखला को दर्शाने मात्र

---

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

के लिए उद्धृत किया गया था जो अनुच्छेद 31 के उपबन्धों के प्रति निर्देश करते हुए केवल सम्पति के अर्जन के लिए 'विधि' की विधिमान्यता अवधारित करने के लिए गलत अभिनिर्धारित किया गया था । उस मामले में विचाराधीन प्रश्न यह था कि क्या अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) आपस में अनन्य हैं ।"

विद्वान् न्यायाधीश ने **कूपर वाले मामले**[1] को इस रूप में नहीं समझा था कि उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद 21 के परे अधिकारों के वंचन के प्रभाव पर भी विचार किया जाना होगा । न्यायाधिपति चन्द्रचूड़ ने **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] के विनिश्चय को इस रूप में समझा था कि उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद 21 और अनुच्छेद 19 को परस्पर अनन्य नहीं माना जा सकता है । न्यायाधिपति भगवती ने उस निर्णय के पृष्ठ 433 पर यह मत अपनाया कि **कूपर वाले मामले**[1] में दिए गए इस न्यायालय के विनिश्चय को देखते हुए **खड़क सिंह वाले मामले**[3] में अल्पमत की इस राय का अनुमोदन किया गया था कि अनुच्छेद 21 के अधीन की विधि को अनुच्छेद 19(1) में अधिकथित कसौटी पर, जहां तक कि अनुच्छेद 19(1) के अन्तर्गत आने वाली विशेषताओं का सम्बन्ध है, खरा उतरना होगा । यह अवलोकनीय है कि **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] में अपनाया गया यह मत कि प्राण और दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने से सम्बन्धित विधि को, जो कि अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत आती है, अनुच्छेद 19 की अपेक्षाओं को पूरा करना होगा, इस आधार पर कार्यवाही सम्बन्धी भूल के कारण था कि **गोपालन वाले मामले**[4] में बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 22 एक स्वयं पूर्ण संहिता है । जिन विनिश्चयों में **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1]; का अनुसरण किया गया था अर्थात् **शम्भू नाथ सरकार** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[5] और **खुदीराम** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[5] तथा **एच० साहा** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[6] में भी वही त्रुटि है ।

---

1 (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

2 (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

3 (1950) एस० सी० आर० 88.

4 (1973) 1 एस० सी० आर० 856=[1973] 3 उम० नि० प० 411.

5 (1975) 2 एस० सी० आर० 832=[1975] 2 उम० नि० प० 337.

6 (1975) 1 एस० सी० आर० 778=[1975] 1 उम० नि० प० 306.

आदर सहित मैं **शुक्ला वाले मामले**[1] में मुख्य न्यायाधिपति रे और न्यायाधिपति बेग (जैसे कि वे तब थे) के मत से सहमत हूं।

201. **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[2] के पश्चात् **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[3] का पिटीशनरों ने इस प्रतिपादना के लिए अवलम्बन किया था कि मूल अधिकारों पर विधान का प्रत्यक्ष प्रभाव ही कसौटी है।

202. उस मामले में पिटीशनरों ने नई अखबारी कागज विषयक नीति पर कई आधारों पर आक्षेप किया था। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि अनुच्छेद 19(1)(क) में प्रेस की स्वतन्त्रता का कोई उल्लेख नहीं है तथापि न्यायालय का यह निश्चित मत है कि अभिव्यक्ति और वाक् स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत प्रेस तथा परिचालन की स्वतन्त्रता भी होती है। यह अभिनिर्धारित करते हुए कि अखबारों के परिचालन या विकास की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने अथवा घटाने के लिए आयात नियन्त्रण पद्धति का प्रयोग नहीं किया जा सकता, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अखबारी कागज नियन्त्रण नीति आयात नियन्त्रण अधिनियम और आयात नियन्त्रण आदेश के शक्तिबाह्य है। न्यायालय ने **बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[2] में अधिकथित दो कसौटियों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया "अधिकारों पर अधिनियम का प्रत्यक्ष प्रभाव वास्तविक कसौटी है।" उस मामले में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि क्या आक्षेपकृत अखबारी कागज विषयक नीति सारतः अखबारों पर नियंत्रण है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अखबारी कागज नियन्त्रण नीति अखबारी कागज के लिए आयात नियन्त्रण नीति बनाने के आवरण में अखबार नियन्त्रण आदेश ही है। अधिनियम का प्रत्यक्ष प्रभाव वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को न्यून करना था इसलिए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उस मामले में सार और मर्म का सिद्धान्त उत्पन्न नहीं होता है। उस मामले के तथ्यों के आधार पर सार और मर्म के सिद्धात को लागू करने की कोई जरूरत नहीं थी।

---

[1] (1976) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 172=[1976] 3 उम० नि० प० 1.

[2] (1970) 3 एस० सी० आर० 530=[1974] 3 उम० नि० प० 1045.

[3] (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

203. यह अवलोकनीय है कि **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[1] में यह प्रश्न उत्पन्न नहीं हुआ था कि क्या अनुच्छेद 21 और 19 परस्पर अनन्य हैं और उस मामले को इस मामले में विचाराधीन प्रश्न के लिए नजीर नहीं माना जा सकता है। **बैनेट कोलमैन**[1], **एक्सप्रैस न्यूज पेपर्स**[2] और **सकाल पेपर्स**[3] वाले सब मामले प्रैस की स्वतन्त्रता अधिकार से सम्बन्धित थे जिसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का भाग है।

204. इस बारे में कि क्या मूल अधिकारों के उल्लंघन के प्रश्न पर विचार करते समय सार और मर्म का सिद्धान्त सुसंगत होता है, न्यायालय ने **बैनेट कोलमैन वाले मामले**[1] में पृष्ठ 780 पर यह मत व्यक्त किया था "श्री पालखीवाला ने यह कहा कि विषयवस्तु तथा विधान के प्रत्यक्ष आनुषंगिक प्रभाव से सम्बन्धित सार कसौटियां विधायी सक्षमता के प्रश्न से सुसंगत होती है किन्तु वे मूल अधिकारों के अतिक्रमण के प्रश्न से विसंगत हैं। हमारे मतानुसार विधायी उपायों तथा मूल अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य की कार्यवाही का निर्वचन करने के लिए यह सुआधारित और सही रास्ता है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विषयवस्तु के सार तथा विधान के प्रत्यक्ष और आनुषंगिक प्रभाव की कसौटी मूल अधिकारों के अतिलंघन के प्रश्न पर विचार करते समय सुसंगत होती है।

205. न्यायालय ने पृष्ठ 781 पर यह कहा कि "प्रत्यक्ष प्रवर्तन से अधिकारों पर अधिनियम का प्रत्यक्ष परिणाम या प्रभाव अभिप्रेत है" और न्यायालय ने **कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया** बनाम **बैंक ऑफ न्यू साउथ वेलस**[4] में प्रिवी कौंसिल द्वारा अधिकथित कसौटी को अनुमोदन सहित उद्धृत किया था।

206. अतः इस प्रश्न पर विचार करते समय कि क्या अधिनियम द्वारा किन्हीं अधिकारों का मूल अधिकारों पर प्रत्यक्ष प्रवर्तन होता है,

---

[1] (1973) 2 एस० सी० आर० 757=[1973] 1 उम० नि० प० 527.

[2] (1959) एस० सी० आर० 12.

[3] (1962) 3 एस० सी० आर० 842.

[4] (1950) ए० सी० 235.

ये दो कसौटियां सुसंगत हैं और लागू होती हैं । इन कसौटियों को बैंक **राष्ट्रीयकरण वाले मामले**[1] के विनिश्चयों के पूर्व कई मामलों में लागू किया गया था । **एक्सप्रैस न्यूजपेपर्स (प्राइवेट) लिमिटेड और एक अन्य** बनाम भारत संघ[2] के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया है जिसमें यह कसौटी अधिकथित की गई थी कि विधान का कोई प्रत्यक्ष और अपरिहार्य परिणाम होना चाहिए । **हमदर्द दवाखाना** बनाम **भारत संघ**[3] के मामले में इस न्यायालय ने **एक्सप्रैस न्यूजपेपर्स वाले मामले**[2] में अधिकथित कसौटी का अनुसरण किया था । न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि किसी कानून के स्वरूप या प्रासंगिक अतिलंघन से ही उसकी सांविधानिकता का अवधारण नहीं होता है अपितु यथार्थतः और सार से ही इस बात का अवधारण होता है । **सकाल पेपर्स प्राइवेट लिमिटेड** बनाम **भारत संघ**[4] में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि "ऐसे मामलों में सही रास्ता इस बात की जांच करना होना चाहिए कि नागरिक को सारतः क्या हानि या क्षति पहुंची है न कि केवल इस बात की जांच की जानी चाहिए कि राज्य ने निर्बन्धन लगाने में कौन सी रीति और पद्धति अपनाई है ।" कुछ मामलों में उच्चतम न्यायालय ने इस बात पर विचार किया था कि क्या विधान के प्रवर्तन का प्रभाव प्रत्यक्ष और आसान्न है या नहीं । यदि यह दूरस्थ, प्रासंगिक या परोक्ष है तो अधिनियमति की विधिमान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा । **कूपर वाले मामले**[1] में दिये गये विनिश्चय में उपरोक्त कसौटी को अस्वीकार नहीं किया गया है । **कूपर वाले मामले**[5] में अधिकथित कसौटी व्यक्ति के अधिकारों पर प्रत्यक्ष प्रवर्तन है ।

207. उक्त कसौटी को **बैनट कोलमैन वाले मामले**[5] में, जैसा कि ऊपर उपदर्शित किया गया है, अपनाया गया था और स्पष्ट किया गया था ।

---

[1] (1970) 3 एस० सी० आर० 530 = (1974) 3 उम० नि० प० 1045.

[2] (1959) 1 एस० सी० आर० 12.

[3] (1960) 2 एस० सी० आर० 671.

[4] (1962) 3 एस० सी० आर० 842.

[5] (1973) 2 एस० सी० आर० 757 = [1973] 1 उम० नि० प० 527.

208. यह मत कि मर्म और सार का सिद्धान्त केवल विधायी शक्तियों के बीच विरोधों को सुलझाने तक ही सीमित नहीं है सुब्रामणियन् चेट्टियार वाले मामले[1] में फैडरल कोर्ट के विनिश्चय में स्पष्ट किया गया था जिसमें न्यायाधिपति वरदाचारियर ने गेल्लाघेर बनाम लिन्न[2] के मामले के विनिश्चय के प्रति संक्षेप में निर्देश करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया था कि "यह बात कि यह जरूरी नहीं है कि वे किसी परिसंघीय संविधान की विशेष पद्धतियों तक ही सीमित हों इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि गेल्लाघेर बनाम लिन्न[2] वाले मामले में लार्ड एटकिन ने गवर्नमेंट ऑफ आयरलैण्ड ऐक्ट के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले एक प्रश्न पर विचार करते समय, जिसमें कि कोई परिसंघीय पद्धति कदापि समाविष्ट नहीं थी, सार और मर्म के सिद्धान्त को लागू किया था।

209. पासपोर्ट अधिनियम में भारत के नागरिकों तथा अन्य व्यक्तियों के भारत से प्रस्थान करने का विनियमन करने के लिए पासपोर्ट और यात्रा दस्तावेज जारी करने का उपबन्ध किया गया है। यदि उपबन्ध अनुच्छेद 21 की अपेक्षाओं का अनुपालन करें अर्थात् यदि वे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का अनुपालन करें तो अधिनियम की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। यदि प्रासंगिक रूप से अधिनियम अनुच्छेद 19(1) के अधीन नागरिकों के अधिकारों का अतिलंघन करता हो तो अधिनियम को अविधिमान्य नहीं माना जा सकता है। गर्भ और सार वाला नियम लागू किया जाना होगा और यदि अधिकारों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव न पड़ता हो तो चुनौती विफल हो जाएगी। यदि इससे यह अभिप्रेत हो कि वह ऐसे प्रत्येक मामले में लागू होगी चाहे वह कितना दूरस्थ ही क्यों न हों, जिसमें नागरिकों के अनुच्छेद 19(1) के अन्तर्गत आने वाले अधिकार प्रभावित हुए हों तो दाण्डिक निरोध विधिमान्य नहीं होगा।

210. अतः इस विचार-विमर्श का परिणाम यह है कि पासपोर्ट अधिनियम की विधिमान्यता को इस आधार पर भी परखा जाना होगा कि क्या वह पिटीशनर के किसी मूल अधिकार का प्रत्यक्ष रूप से और आसन्न रूप से अतिलंघन करता है। यदि पासपोर्ट देने से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार इन्कार किया जाता है तो उस दशा में यह अभिवाक् नहीं किया जा सकता कि उसे अन्य मूल अधिकारों से भी

[1] (1940) एफ० सी० आर० 188.

[2] (1937) ए० सी० 863.

वंचित किया गया है जबकि उनका प्रत्यक्ष रूप से अतिलंघन न किया गया हो।

211. उच्चतम न्यायालय के वे विनिश्चय देखे जा सकते हैं जिनमें कि विदेश यात्रा के किसी व्यक्ति के अधिकार के सम्बन्ध में विचार किया गया है। **सतवन्त सिंह** बनाम **सहायक पासपोर्ट अधिकारी नई दिल्ली**[1] के मामले में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि देश छोड़ने के लिए पासपोर्ट अपेक्षित नहीं था तथापि व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए कोई भी व्यक्ति पासपोर्ट के बिना न तो भारत से बाहर जा सकता है और न भारत में आ सकता है। अतः भारत से बाहर जाने और भारत में आने के लिए पासपोर्ट अनिवार्य है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यात्रा करने का अधिकार दैहिक स्वाधीनता का भाग है और किसी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिवाय उससे वंचित नहीं किया जा सकता है। बहुमत की राय यह थी कि अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद संविधान के अनुच्छेद 19 में उल्लिखित स्वाधीनता के संघटक को अपवर्जित करता है और 'दैहिक स्वाधीनता' पद के अन्तर्गत विदेश यात्रा का अधिकार भी होगा। विदेश यात्रा का यह अधिकार आत्यन्तिक नहीं है और विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार निर्बन्धित किया जा सकता है। इस विनिश्चय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि 'दैहिक स्वाधीनता' अनुच्छेद 19 के अधीन दिये गये अधिकारों में से एक नहीं है और इसलिए विधानमण्डल उसे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार निर्बन्धित कर सकता है। अमरीकी नागरिक के यात्रा के अधिकार को मान्यता दी गई है। **कैण्ट** बनाम **डल्लस**[2] में न्यायालय ने यह सम्प्रेक्षित किया कि यात्रा का अधिकार स्वाधीनता का भाग है और पांचवें संशोधन के अधीन किसी नागरिक को विधि की सम्यक् प्रक्रिया के बिना इससे वंचित नहीं किया जा सकता है। "किसी भी और सीमाओं से परे और सीमाओं के भीतर संचरण स्वातन्त्र्य हमारी परम्परा का भाग है। देश के भीतर यात्रा की तरह ही देश के बाहर यात्रा किसी व्यक्ति के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण हो सकती है जितना कि इस बारे में उसका विकल्प कि वह क्या खाता है या क्या पहनता है या क्या पढ़ता है। मूल्यों की हमारी स्कीम में संचरण स्वातन्त्र्य आधारभूत

---

[1] (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

[2] 357 यू० एस० 116, 127.

है ।" एक पश्चात्वर्ती विनिश्चय **जेमेल** बनाम **रस्क**[1] में न्यायालय ने सम्यक् प्रक्रिया खण्ड के विरुद्ध क्यूबा को यात्रा के लिए पासपोर्ट जारी करने से सरकार की इन्कारी का समर्थन किया था क्योंकि वह इन्कारी सभी नागरिकों को प्रभावित करने वाली विदेश नीति विषयक बातों पर आधारित थी । "समयक प्रक्रिया की अपेक्षाएं न केवल सरकार द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन की सीमा विषयक कृत्य हैं अपितु निर्बन्धन के लिए आवश्यकता की सीमा विषयक कृत्य भी हैं ।" (दी कान्स्टीट्यूशन आफ दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका एनालिसिस एण्ड इन्टरप्रिटेशन—पृष्ठ 1171)

212. **हर्बर्ट अपथेकर** बनाम **सेक्रेटरी ऑफ स्टेट**[2] में न्यायालय ने कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय यात्रा के प्रतिषेध को अभिखण्डित कर दिया था । एक पश्चात्वर्ती विनिश्चय में न्यायालय ने क्यूबा को यात्रा के लिए पासपोर्ट जारी करने सरकार की इन्कारी की पुष्टि कर दी थी क्योंकि वह इन्कारी सभी नागरिकों को प्रभावित करने वाली विदेश नीति विषयक बातों के आधार पर थी । (देखिए **जेमेल** बनाम **रस्क**[1] इस प्रकार अमरीका के किसी नागरिक का विदेश यात्रा का अधिकार भी कतिपय दशायों में निर्बन्धित किया जा सकता है । हमारा संविधान विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा ही अधिकारों को निर्बन्धित करने का उपबन्ध करता है । इस बात पर विचार करना आवश्यक होगा कि क्या आक्षेपकृत पासपोर्ट अधिनियम विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया की अपेक्षाओं को पूरा करता है ।

213. विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया से कोई विलक्षण और अपकारी या मनमानी प्रक्रिया अभिप्रेत नहीं है जो वस्तुतः कोई प्रक्रिया ही नहीं होगी (**ए० के० गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य**[3] में न्यायाधिपति महाजन के विचार देखिए) । कोई प्रक्रिया अवश्य होनी चाहिए और उसे कम से कम विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुरूप ही होना चाहिए । विधि से मामूली और सुस्थापित दण्ड प्रक्रिया अर्थात् दण्ड प्रक्रिया संहिता द्वारा, जोकि हमारे देश में दण्ड प्रक्रिया की सामान्य विधि है

---

[1] 381 यू० एस० 1, 14.

[2] 378 यू०एस० 500.

[3] (1950) एस० सी० आर० 88.

1978(1) eILR(PAT) SC 6

स्वीकार की गई प्रक्रिया सुस्थापित प्रथाएं और प्रक्रिया विषयक सामान्य ढंग समझे जाने होंगे। किन्तु चूंकि यह स्वीकृत है कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया किसी कानूनी विधि के प्रति ही निर्देश करती है और चूंकि विधान-मण्डल प्रक्रिया—दण्ड प्रक्रिया संहिता में यथा अनुध्यात प्रक्रिया में परिवर्तन करने के लिए सक्षम है इसलिए इस बात पर जोर नहीं दिया जा सकता कि विधानमण्डल प्रक्रिया को उपान्तरित कर सकता है। **खड़क सिंह वाले मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यू० पी० पुलिस रेगूलेशन का विनियम 236, खण्ड (ख), जो कि उस दशा में निवासीय दौरे प्राधिकृत करता है जबकि ऐसे विनियमन के बारे में कोई विधि न हो, अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करता है।

214. अब मैं यह अवधारित करने के लिए कि क्या अधिनियम के उपबन्ध विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार हैं, पासपोर्ट अधिनियम, 1967 (1967 का 15) के उपबन्धों पर विचार करूंगा।

215. उद्देशिका में यह कथित किया गया है कि अधिनियम भारत के नागरिकों तथा अन्य व्यक्तियों के भारत से प्रस्थान करने का विनियमन करने के लिए पासपोर्ट और यात्रा-दस्तावेज जारी करने का और उनसे आनुषंगिक या सम्बद्ध विषयों का उपबन्ध करने के लिए है। यह स्मरणीय है कि यह अधिनियम उच्चतम न्यायालय द्वारा **सतवन्त सिंह बनाम भारत संघ**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित करने के पश्चात् पारित किया गया था कि विदेश जाने का अधिकार किसी व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता का भाग है और संविधान के अनुच्छेद 21 के अनुसार उसे उस अधिकार से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अधीन ही वंचित किया जा सकता है अन्यथा नहीं। विधानमण्डल ने भारत के नागरिकों और अन्य व्यक्तियों के भारत से बाहर जाने को विनियमित करने के लिए पासपोर्ट जारी करने के लिए प्रक्रिया विहित करते हुए ही यह अधिनियम पारित किया था।

216. अधिनियम की धारा 5 में पासपोर्टों या यात्रा-दस्तावेजों आदि के लिए आवेदन करने और उनके बारे में आदेश पारित करने के लिए प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है। उपधारा (2) के अधीन

---

1 (1964) 1 एस० सी० आर० 332.

2 (1967) 3 एस० सी० आर० 525.

आवेदन की प्राप्ति पर पासपोर्ट प्राधिकारी आवेदन में विनिर्दिष्ट बिदेशों की बाबत पृष्ठांकन सहित पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज जारी कर सकेगा या कुछ विदेशों की बाबत पृष्ठांकन सहित पासपोर्ट या यात्रा-दस्ताबेज जारी कर सकेगा और कुछ देशों की बाबत पृष्ठांकन करने से इनकार कर सकेगा या पासपोर्ट अथवा यात्रा-दस्तावेज जारी करने से या पासपोर्ट अथवा यात्रा-दस्तावेज पर कोई पृष्ठांकन करने से इनकार कर सकेगा। जहां पासपोर्ट प्राधिकारी किसी व्यक्ति के आवेदन पर पृष्ठांकन करने से इनकार कर दे या पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज जारी करने से इनकार कर दे या पृष्ठांकन करने से इनकार कर दे वहां उससे यह अपेक्षा की गई है कि वह अपने कारणों का संक्षिप्त कथन लेखबद्ध करे और मांग किए जाने पर उस व्यक्ति को उसकी एक प्रति तब के सिवाय दे जब कि उपधारा (3) में विनिर्दिष्ट कारणों से प्राधिकारी प्रति देने से इनकार कर दे। धारा 6 में यह उपबन्ध किया गया है कि पृष्ठांकन करने से इनकार उपधारा (2) से (6) तक में उल्लिखित आधारों में से किसी एक पर ही किया जाएगा। धारा 8 में यह उपबन्ध किया गया है कि प्रत्येक पासपोर्ट का, तब के सिवाय जब पासपोर्ट प्राधिकारी ऐसे कारणों से जिन्हें लेखबद्ध किया जाएगा, किसी मामले में अन्यथा अवधारित करे उसी कालावधि के लिए नवीकरण किया जा सकेगा जिसके लिए वह पासपोर्ट मूलतः जारी किया गया था।

217. धारा 10 अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि पिटीशनर के पासपोर्ट को अधिनियम की धारा 10(3)(ग) के अधीन जब्त करने का आदेश दिया गया था। धारा 10(1) पासपोर्ट प्राधिकारी को पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज में किए गए पृष्ठांकन में फेरफार करने या उन्हें रद्द करने या केन्द्रीय सरकार के पूर्व अनुमोदन से उन शर्तों में जिनके अध्यधीन पासपोर्ट या यात्रा दस्तावेज जारी की गई हो फेरफार करने या रद्द करने में समर्थ बनाती है और पासपोर्ट धारक से ऐसी कालावधि के भीतर जो सूचना में विनिर्दिष्ट कीजाए लिखित सूचना द्वारा वह पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज देने की अपेक्षा करती है। उपधारा (2) पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज धारक को पासपोर्ट की शर्तों में फेरफार करने या उन्हें रद्द करने में समर्थ बनाती है।

218. धारा 10(3), जिससे हमारा सरोकार है, इस प्रकार है—

"10(3) पासपोर्ट प्राधिकारी, पासपोर्ट या यात्रा दस्तावेज

दस्तावेज को परिबद्ध कर सकेगा या परिबद्ध करा सकेगा या प्रतिसंहृत कर सकेगा---

(क) यदि पासपोर्ट प्राधिकारी का समाधान हो जाए कि पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज का धारक उसे सदोष कब्जे में रखे हुए हैं;

(ख) यदि पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज तात्विक जानकारी को दबाकर अथवा पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज के धारक द्वारा अथवा उसकी ओर से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दी गई गलत जानकारी के आधार पर अभिप्राप्त किया गया था;

(ग) यदि पासपोर्ट प्राधिकारी ऐसा करना भारत की प्रभुता, और अखण्डता भारत की सुरक्षा या किसी विदेश के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में या जन-साधारण के हित में आवश्यक समझे ;

(घ) यदि पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज जारी करने के पश्चात् किसी भी समय पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज का धारक भारत में के किसी न्यायालय द्वारा नैतिक अधमता अन्तर्वलित करने वाले किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया हो और उसके बाबत दो वर्ष से अन्यून के कारावास से दण्डादिष्ट किया गया हो;

(ङ) यदि किसी अपराध की बाबत, जिसका पासपोर्ट या यात्रा दस्तावेज के धारक द्वारा किया जाना अभिकथित हो, कार्यवाहियां भारत में किसी दण्ड न्यायालय के समक्ष लम्बित हों;

(च) यदि पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज की शर्तों में से किसी का उल्लंघन किया गया हो;

(छ) यदि पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज का धारक उपधारा (1) के अधीन की उस सूचना का अनुपालन करने में असफल रहा हो जिसमें उससे वह पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज समर्पित करने की अपेक्षा की गई हो;

(ज) यदि पासपोर्ट प्राधिकारी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया हो कि पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज के धारक की हाजिरी के लिए कोई वारण्ट या समन, या उसकी गिरफ्तारी के लिए कोई वारण्ट, किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन किसी न्यायालय द्वारा जारी किया गया है या यदि पासपोर्ट या अन्य यात्रा दस्तावेज के धारक का भारत से प्रस्थान प्रतिषिद्ध करने का कोई आदेश ऐसे किसी न्यायालय द्वारा दिया गया हो और पासपोर्ट प्राधिकारी का समाधान हो गया हो कि वारण्ट या समन इस प्रकार जारी किया गया है या कोई आदेश इस प्रकार किया गया है।"

धारा 10(3)(ग) पासपोर्ट प्राधिकारी को उस दशा में पासपोर्ट जब्त करने या प्रतिसंहृत करने में समर्थ बनाती है जब कि पासपोर्ट प्राधिकारी ऐसा करना भारत की प्रभुता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा या किसी विदेश के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में या जनसाधारण के हित में आवश्यक समझे।

219. धारा 10(5) पासपोर्ट प्राधिकारी से यह अपेक्षा करती है कि वह उपधारा (1) या (3) के अधीन आदेश करने के अपने कारणों का एक संक्षिप्त कथन लेखबद्ध करे और मांगे जाने पर पासपोर्ट या यात्रा-दस्तावेज के धारक को उसकी एक प्रति तब के सिवाय दे जब किसी मामले में पासपोर्ट प्राधिकारी की यह राय हो कि ऐसी प्रति देना भारत की प्रभुता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा या किसी विदेश के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में या जनसाधारण के हित में न हो। धारा 11 में यह उपबन्ध किया गया है कि व्यथित व्यक्ति उस धारा की उपधारा (1) में उल्लिखित विभिन्न खण्डों के अधीन पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा पारित किसी आदेश के विरुद्ध अपील कर सकेगा। यह उपबन्ध भी किया गया है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा किए गए किसी भी आदेश के विरुद्ध कोई अपील न होगी। धारा 11(5) में यह उपबन्ध किया गया है कि किसी अपील का निपटारा करने में अपील प्राधिकारी ऐसी प्रक्रिया का अनुसरण करेगा जो विहित की जाए और किसी अपील का तब तक निपटारा नहीं किया जाएगा जब तक

अपीलार्थी को अपने मामले का अभ्यावेदन करने का युक्तियुक्त अवसर न दे दिया गया हो।

220. संक्षेप में धारा 10(3)(ग) के अधीन यदि पासपोर्ट प्राधिकारी उस उपधारा में कथित कारणों से ऐसा करना आवश्यक समझे तो वह पासपोर्ट जब्त कर सकता है। उससे ऐसा आदेश करने के कारणों का संक्षिप्त कथन लेखबद्ध करने की और मांग किए जाने पर तब के सिवाए उस आदेश की एक प्रति देने की अपेक्षा की गई है, जब कि उपधारा (5) में उल्लिखित कारणों में से किसी एक के कारण वह यह समझता हो कि प्रति नहीं दी जानी चाहिए। केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित किसी आदेश के सिवाय व्यथित व्यक्ति को अन्य आदेशों के विरुद्ध अपील का अधिकार प्राप्त है। अपील प्राधिकारी से यह अपेक्षा की गई है कि वह व्यथित व्यक्ति को अपने मामले का अभ्यावेदन करने का उचित अवसर दे।

221. पिटीशनर की ओर से यह निवेदन किया गया था कि धारा 10(3) के उपबन्धों से नैसर्गिक न्याय के नियमों का पालन अर्थात् सुने जाने का अधिकार विवक्षित है और चूंकि सरकार ने पिटीशनर को अपने मामले को स्पष्ट करने का कोई अवसर नहीं दिया था इसलिए वह आदेश अनुचित है। अनुकल्पतः यह निवेदन किया गया था कि यदि धारा 10(3)(ग) का अर्थान्वयन इस रूप में किया जाता है कि वह पिटीशनर को सुने जाने के अवसर से वंचित करता है तथा धारा 11 के उपबन्धों द्वारा केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित आदेश के विरुद्ध अपील के अधिकार से वंचित किया गया है तो वे उपबन्ध अनुच्छेद 21 के अधीन विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया नहीं होंगे और सुसंगत धाराओं को विधान मण्डल की शक्तियों के बाहर माना जाना चाहिए। यह दलील दी गई थी कि जन-साधारण के हित में पासपोर्ट जब्त करने के लिए प्राधिकारी को प्रदत्त शक्ति अति अस्पष्ट है और उचित मार्गदर्शन के अभाव में किसी स्पष्टीकरण के बिना जन-साधारण के हित में पासपोर्ट को जब्त करने का प्राधिकारी का आदेश विधिमान्य नहीं होता है। अन्तिम आधार पर सुगमता से निपटारा किया जा सकता है। निःसन्देह 'जन-साधारण के हित' में शब्दों का अभिप्राय व्यापक है किन्तु मामले के तथ्यों का अर्थान्वयन करते समय प्राधिकारी को इस बात का अवधारण

करना चाहिए कि क्या जन-साधारण के हित में पासपोर्ट जब्त किया जाना होगा। यह बात कि क्या दिए गए कारणों का जन-साधारण के हित से सम्बन्ध है प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करेगी। यह अभिवाक् कि आदेश में 'जन साधारण के हित में' शब्दों का अस्पष्टता के कारण आदेश स्वयं ही अनुचित है, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

222. इस निवेदन पर कि इस संदर्भ में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत् अर्थात् सुने जाने के अधिकार का अभिव्यक्त रूप से या अनिवार्य विवक्षा द्वारा अधिक्रमण नहीं किया गया है ध्यानपूर्वक विचार किया जाना है। धारा 10(3) के अधीन पासपोर्ट प्राधिकारी उपधारा (3) के खण्ड (ग) से (ज) तक में विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी पर पासपोर्ट जब्त करने या प्रतिसंहृत करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। उपधारा (3)(क) प्राधिकारी को उस दशा में पासपोर्ट जब्त करने में समर्थ बनाती है जबकि पासपोर्ट का धारक उसे सदोष कब्जे में रखे हुए हो। उपधारा (3)(ख) के अधीन प्राधिकारी पासपोर्ट को उस दशा में जब्त कर सकता है जबकि वह पासपोर्ट तात्विक जानकारी को दबाकर अथवा पासपोर्ट के धारक द्वारा दी गई गलत जानकारी के आधार पर अभिप्राप्त किया गया हो। खण्ड (घ) के अधीन यदि पासपोर्ट का धारक भारत में के किसी न्यायालय द्वारा नैतिक अधमता अन्तर्वलित करने वाले किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया हो और उसकी बाबत दो वर्ष से न्यून के कारावास से दण्डादिष्ट किया गया हो तो पासपोर्ट जब्त किया जा सकता है। खण्ड (ङ) के अधीन उस दशा में पासपोर्ट जब्त किया जा सकता है जबकि किसी ऐसे अपराध की बाबत जिसका पासपोर्ट धारक द्वारा किया जाना अभिकथित हो कार्यवाहियां भारत में किसी दण्ड न्यायालय के समक्ष लम्बित हों। खण्ड (च) प्राधिकारी को उस दशा में पासपोर्ट जब्त करने में समर्थ बनाता है जबकि पासपोर्ट की शर्तों में से किसी का उल्लंघन किया गया हो। खण्ड (छ) के अधीन यदि पासपोर्ट का धारक उपधारा (1) के अधीन की उस सूचना का अनुपालन करने में असफल रहा जिसमें उससे वह पासपोर्ट समर्पित करने की अपेक्षा की गई हो तो पासपोर्ट प्राधिकारी कार्यवाही कर सकता है। उपखण्ड (ज) के अधीन यदि पासपोर्ट प्राधिकारी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया हो कि पासपोर्ट के धारक की हाजिरी के लिए कोई

1978(1) eILR(PAT) SC 6

वारन्ट या समन या उसकी गिरफ्तारी के लिए कोई वारन्ट किसी न्यायालय द्वारा जारी किया गया है या पासपोर्ट के धारक का भारत से प्रस्थान प्रतिषेध करने का कोई आदेश किसी न्यायालय द्वारा दिया गया हो तो पासपोर्ट जब्त किया जा सकता है। यह अवलोकनीय है कि जब उपखण्ड (क), (ख), (घ), (ङ), (च) और (ज) के अधीन कोई कार्रवाई अनुध्यात हो तब यह उपधारणा की जाती है कि प्राधिकारी सूचना देगा क्योंकि इसके बिना पासपोर्ट प्राधिकारी का उपखण्ड (क) के अधीन इस बारे में समाधान कि पासपोर्ट धारक उसे सदोष कब्जे में रखे हुए है या खण्ड (ख) के अधीन इस बारे में समाधान कि उसने पासपोर्ट कोई तात्विक जानकारी दबाकर प्राप्त किया है, नहीं हो सकता है। इसी प्रकार खण्ड (घ) के अधीन यह बात कि क्या व्यक्ति को नैतिक अधमता अन्तर्वलित करने वाले किसी अपराध के लिए भारत के किसी न्यायालय द्वारा सिद्धदोष ठहराया गया है और उसकी बाबत दो वर्ष से न्यून के कारावास से दण्डादिष्ट किया गया है---केवल पासपोर्ट के धारक की सुनवाई के पश्चात् ही अभिनिश्चित की जा सकती है। खण्ड (ङ) के अधीन यह तथ्य कि क्या किसी ऐसे अपराध की बाबत जिसका पासपोर्ट के धारक द्वारा किया जाना अभिकथित हो कार्यवाहियां भारत में किसी दण्ड न्यायालय के समक्ष लम्बित हैं केवल कोई सूचना देकर यह अवधारण किया जा सकता है। इसी प्रकार यह बात कि क्या उपखण्ड (च) के अधीन पासपोर्ट की किसी शर्त का उल्लंघन किया गया है या क्या उपधारा (1) के अधीन पासपोर्ट का धारक सूचना का अनुपालन करने में असफल रहा है, पासपोर्ट धारक की सुनवाई के पश्चात् ही अभिनिश्चित की जा सकती है। खण्ड (ज) के अधीन भी पासपोर्ट के धारक की सुनवाई की उपधारणा की गई है। अन्य उपखण्डों के साथ साथ उपखण्ड (ङ) को देख कर इस बात का अवधारण किया जाना होगा कि क्या विधानमण्डल का आशय पासपोर्ट के जब्त या प्रतिसंहृत किए जाने के पूर्व पासपोर्ट के धारक को सुनवाई के अधिकार से वंचित करना था। इस सम्बन्ध में इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता है कि विधानमण्डल कोई अभिव्यक्त उपबन्ध करके किसी व्यक्ति को सुने जाने के अधिकार से वंचित कर सकता है। नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों को मूल अधिकारों के तुल्य नहीं माना जा सकता है। जैसा कि

भारत संघ बनाम **जे० एन० सिन्हा**[1] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया था " नैसर्गिक न्याय के नियम पुस्तकाकार नियम नहीं हैं और न ही उन्हें मूल अधिकारों की स्थिति तक उठाया जा सकता है।······उनका उद्देश्य न्याय सुनिश्चित करना या न्याय की विफलता को रोकना है। ये नियम न्याय केवल ऐसे क्षेत्रों में प्रवर्तित हो सकते हैं जो विधिमान्य रूप से बनाई गई किसी विधि के भीतर नहीं आते। ये विधि का स्थान नहीं लेते बल्कि उसके अनुपूरक हैं। यदि किसी कानूनी उपबन्ध को नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों से सुसंगत रूप में पढा जा सकता है तो न्यायालयों को ऐसा करना चाहिए। किन्तु यदि कोई कानूनी उपबन्ध या तो विनिर्दिष्ट रूप से या अनिवार्य विवक्षा द्वारा नैसर्गिक न्याय के किन्हीं सिद्धांतों के लागू होने को अपवर्जित करता है तो न्यायालय विधानमण्डल या कानूनी प्राधिकारी की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकता और सम्बद्ध उपबन्ध में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों को प्रतिस्थापित नहीं कर सकता है। इसी प्रकार सुने जाने के अधिकार की उस दशा में उपधारणा नहीं की जा सकती है जबकि मामले की परिस्थितियों में गोपनीयता की परम आवश्यकता हो या आपात् स्थिति में कोई विनिश्चय लिया जाना या तुरन्त कार्रवाई किया जाना अपेक्षित हो क्योंकि अन्यथा अवलम्ब के कारण उसका प्रयोजन ही विफल हो जाएगा या जहां यह प्रत्याशा हो कि प्रभावित व्यक्ति कोई बाधा डालेगा। कुछ हद तक कोई पासपोर्ट बिना जानकारी के प्रतिसंहृत करना या जब्त करना उस स्थिति में आवश्यक हो सकता है जबकि इस बात की वास्तविक आशंका हो कि यदि पासपोर्ट का धारक पासपोर्ट प्राधिकारी अथवा सरकार के पासपोर्ट प्रतिसंहृत करने या जब्त करने का आशय जान ले तो वह देश से बाहर जा सकता है। किन्तु यह बात स्वयं ही पासपोर्ट के धारक को अन्तिम आदेश पारित किये जाने के पूर्व अपना पक्षकथन करने के अवसर से वंचित करने को न्यायोचित नहीं ठहराएगी। इस बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता है कि विधानमण्डल ने अभिव्यक्त उपबन्ध द्वारा सुने जाने के अधिकार को अपवर्जित नहीं किया है। जब पासपोर्ट अधिकारी धारा 10(5) के अधीन कार्यवाही करता है तब उससे कारणों का संक्षिप्त कथन लेखबद्ध करने और मांग किये जाने पर पासपोर्ट के धारक को एक प्रति तब के सिवाय देने की अपेक्षा

1 (1971) 1 एस० सी० आर० 791=[1975] 4 उम० नि० प० 1406.

की गई है जबकि पर्याप्त कारणों से वह प्रति देना वांछनीय न समझता हो। इस प्रकार पारित आदेश से अपील की जा सकती है जिसमें कि अपील प्राधिकारी से पासपोर्ट के धारक को अपने पक्षकथन करने का उचित अवसर देने की अपेक्षा की गई है। जब व्यथित व्यक्ति को अवसर देने के पश्चात् किसी अपील का निपटारा किया जाना हो तब वह व्यथित व्यक्ति की सुनवाई के बिना ऐसा नहीं कर सकता है। इसके अलावा जब कोई पासपोर्ट किसी विनिर्दिष्ट कालावधि के लिए दिया गया हो तब उस कालावधि के दौरान जिसमें पासपोर्ट विधिमान्य हो प्रतिसंहरण या जब्ती किसी वैध कारण से ही की जा सकती है। किसी प्राधिकारी द्वारा किसी व्यक्ति के पक्ष में पहले ही पारित किसी आदेश के प्रतिसंहृत किये जाने या उपान्तरित किये जाने तथा आरम्भिक रूप से कोई अनुज्ञप्ति देने से इन्कार किए जाने में कुछ अन्तर है। **परताबपुर कम्पनी लिमिटेड** बनाम **गन्ना आयुक्त, बिहार और कुछ अन्य**[1] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि "किसी अनुज्ञप्ति को प्रतिसंहृत या उपान्तरित करने वाले आदेश को अनुज्ञप्ति न देने के विनिश्चय के समतुल्य मानना उचित नहीं होगा।" **स्मिदृत** बनाम **सेक्रेट्री ऑफ स्टेट फॉर होम अफेयर्स**[2] के मामले में न्यायाधिपति डेनिंग ने यह मत व्यक्त किया कि "यदि उसका (विदेशी) अनुज्ञापत्र समय परिसीमा के समाप्त होने के पूर्व ही प्रतिसंहृत कर दिया जाता है तो मेरे विचार में उसे अभ्यावेदन करने का अवसर दिया जाना चाहिए क्योंकि अनुज्ञात कालावधि के लिए ठहरने के लिए अनुज्ञात किये जाने की उसकी विधिसम्मत प्रत्याशा होगी।" न्यायाधिपति डेनिंग ने ऐसे विदेशी की दशा में भी 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले सिद्धांत को लागू किया था, जिसे कि देश में प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं था। जब कोई अनुज्ञापत्र अनुदत्त कर दिया जाता है और तत्पश्चात् उसे प्रतिसंहृत किया जाना होता है तो उसे प्रथम बार अनुज्ञा देने से इन्कार करने से भिन्न माना जाना चाहिए। इस मामले में जो पासपोर्ट दिया गया था वह जब्त किया जाना है इसलिए प्रसामान्य उपधारणा यह है कि पासपोर्ट के धारक को अवसर दिये बिना कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी। धारा 10(3) में वह आधार प्रगणित करते समय

1 (1969) 3 एस० सी० आर० 807=[1969] 2 उम० नि० प० 842.
2 (1969) 2 चांसरी डिवीजन 149.

जिन पर पासपोर्ट प्राधिकारी पासपोर्ट को जब्त कर सकता है, 'यदि प्राधिकारी का समाधान हो जाए, 'यदि प्राधिकारी ऐसा करना आवश्यक समझे' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। **दुरयप्पाह** बनाम **फर्नेन्डो** ([1]) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल ने **सुगाथादास** बनाम **जयसिंह**[2] वाले मामले के एक पूर्वतर विनिश्चय के प्रति निर्देश करते हुए यह अभिनिर्धारित करते हुए विनिश्चय से असहमति प्रकट की थी कि "सामान्य नियम के आधार पर 'जहां ·················को प्रतीत हो' या 'यदि ········के समाधानप्रद रूप में ऐसा प्रतीत हो' या 'यदि ·············ऐसा करना समुचित समझें' या ·····················,का समाधान हो गया हो कि ···················'जैसे शब्द निर्बन्धित करने वाले किन्हीं अन्य शब्दों या परिस्थितियों के बिना स्वयं ही न्यायिक रूप से कार्य करने के अधिकार को अपवर्जित कर देते हैं।" इस दृष्टिकोण से असहमत होते हुए प्रिवी कौंसिल ने यह मत व्यक्त किया कि वे विभिन्न सूत्र विचारित किए जाने वाले मामले की भूमिका होते हैं और उनमें 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाले प्रश्न के बारे में अधिक मार्गदर्शन नहीं किया गया होता है। इस प्रश्न पर कानून स्वयं ही उपबन्ध स्पष्ट कर सकता है और यदि वह ऐसा कर देता है तो और विचार-विमर्श के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो **कूपर** बनाम **वैण्डसवर्थ बोर्ड ऑफ वर्क्स**[3] के मामले में अधिकथित सिद्धांत, जिसमें न्यायाधिपति वाइल्स ने कथित किया था कि' **डाक्टर बन्टले वाले मामले**[4] से प्रारम्भ होकर और कुछ हाल ही के विनिश्चयों तक समाप्त होने वाले विनिश्चयों की लम्बी श्रृंखला यह सिद्ध कर देती है कि यद्यपि कानून में इस बात की अपेक्षा करने वाले कोई निश्चित शब्द न हो कि पक्षकार की सुनवाई की जानी होगी, तथापि कॉमन ला का न्याय विधानमन्डल की इस कमी को पूरा कर देगा,' लागू हो जाएगा। इन परिस्थितियों में यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई सामग्री नहीं है कि सुने जाने का अधिकार अभिव्यक्त रूप से या कानून की अनिवार्य विवक्षा द्वारा छीना गया है।

---

[1] (1967) 2 ए० सी० 337.

[2] (1958) 59 एन०एल० आर० 457.

[3] (1863) 14 सी० बी० (एन० एस०) 180.

[4] (1723) 1 स्ट्रा 557; मोड० रिप० 148.

223. इस प्रक्रम पर मैं इस प्रश्न पर विद्वान् महान्यायवादी द्वारा किए गए पक्षकथन के प्रति निर्देश करूंगा। उनके अनुसार सही अर्थान्वयन के आधार पर 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला सिद्धान्त साधारण मामलों में अपवर्जित नहीं होता है और इस बारे में सही स्थिति मुम्बई उच्च न्यायालय ने **मीनू मानक्शा बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में अधिकथित की है। न्यायाधिपति तुलजापुरकर का मत यह है कि अधिनियम की धारा 10 (3) (ग) के अधीन कोई आदेश करते समय 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला सिद्धान्त अपवर्जित नहीं होता है। किन्तु महान्यायवादी ने यह दलील देते समय निवेदन किया था कि यह सिद्धान्त उस दशा में लागू नहीं होगा जब कि विशेष परिस्थितियां उदाहरणार्थ स्थिति की अभ्यावश्यकता के कारण तुरन्त कार्रवाई करने की जरूरत, विद्यमान हों या जहां वह अवसर देने से वह उद्देश्य ही विफल हो जाएगा जिसके लिए जब्त करने की कार्रवाई की जानी है। इस स्थिति का समर्थन डी **वरटियूइल** बनाम **नेग्गर्ज**[2] के मामले में प्रिवी कौन्सिल के विनिश्चय से हो जाता है जिसमें यह कथित किया गया था कि "तथापि यह बात ध्यान में रखी जानी होगी कि ऐसी विशेष परिस्थितियां हो सकती है जो सद्भावपूर्वक कार्य करते हुए गर्वनर का यह समाधान करा दें कि उसे कार्रवाई करनी चाहिए, भले ही उसने प्रभावित व्यक्ति को कोई सुसंगत कथन करने या उस पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए किए गए किसी सुसंगत कथन को परिशुद्ध करने या उसका खण्डन करने का अवसर न दिया हो।" पासपोर्ट प्राधिकारी यह असाधारण कदम उस दशा में पासपोर्ट जब्त करने या प्रतिसंहृत करने के लिए उठा सकता है जब कि उसे यह आशंका हो कि पासपोर्टधारक देश से बाहर जा सकता है और इस प्रकार तुरन्त कार्रवाई अनिवार्य है। ये सम्प्रेक्षण प्राधिकारियों द्वारा सूचना के बिना पासपोर्ट जब्त करने को न्यायोचित ठहराएंगे किन्तु कोई अन्तिम आदेश पारित किए जाने के पूर्व 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' वाला सिद्धान्त लागू किया जाना होगा तथा पासपोर्ट धारक की सुनवाई की जानी होगी। मेरा यह समाधान हो गया है कि पिटीशनर का यह दावा कि धारा 10 (3) (ग) के अधीन अन्तिम आदेश पारित किए जाने के पूर्व उसे

---

[1] 76 बी० एल० आर० (1974) 788.

[2] (1918) ए० सी० 557.

सुने जाने का अधिकार प्राप्त था, सिद्ध हो जाता है । इस दृष्टि से यह प्रश्न कि क्या धारा 10 (3) (ग) अधिकारातीत है या नहीं, उत्पन्न नहीं होता है ।

224. राज्य की ओर से यह निवेदन किया गया था कि धारा 10 (3) (ग) के अधीन किया गया कोई आदेश पासपोर्ट प्राधिकारी के व्यक्तिनिष्ठ समाधान पर आधारित होता है और चूंकि इस विनिश्चय का स्वरूप पूर्णतया प्रशासनिक होता है इसलिए उसे बहुत सीमित अधिकारों पर ही न्यायालय में प्रश्नगत किया जा सकता है अन्यथा नहीं । यद्यपि न्यायालय ने यह मत अपनाया था कि प्रशासनिक आदेशों को नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त लागू नहीं होता है, तथापि तत्पश्चात् न्यायिक मत में परिवर्तन हो गया था । एक ओर न्यायिक या न्यायिकल्प अवधारण और दूसरी ओर कार्यपालिक या प्रशासनिक अवधारण के बीच सीमारेखा अस्पष्ट हो गई है । यह कठोर मत कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त केवल न्यायिक या न्यायिकल्प कार्रवाईयों को ही लागू होते हैं न कि प्रशासनिक कार्यों को अब मान्य नहीं रहा है । इस विषय पर न्यायालय द्वारा अपनाया गए मत स्थिर नहीं हैं । जब कि पूर्वतर विनिश्चय नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों की अवहेलना कर के भी प्रशासनिक सुविधा और दक्षता के पक्ष में थे वर्तमान मत इस चेतावनी के साथ नैसर्गिक न्याय को ऐसे मामलों में भी लागू करने तथा निष्पक्ष रूप से कार्य करने का कर्त्तव्य अधिरोपित करने के पक्ष में हैं कि यह सिद्धान्त इतनी चर्म सीमा तक भी विस्तरित नहीं किया जाना चाहिए कि इससे प्रशासनिक दक्षता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े । इस सम्बन्ध में रसले बनाम ड्यूक ऑफ़ नॉर्फोक वाले[1] मामले में न्यायाधिपति टक्कर के प्रायः दोहराए गए इन सम्प्रेक्षणों को उद्धृत करना लाभप्रद होगा—"नैसर्गिक न्याय की अपेक्षाएं मामले की परिस्थितियों, जांच के स्वरूप, उन नियमों पर जिनके अधीन अधिकरण कार्य कर रहा हो, उस विषयवस्तु पर जिसके सम्बन्ध में कार्यवाही की जा रही है, आदि-आदि पर निर्भर करेंगी ······ किन्तु जो भी स्तर अपनाया जाए एक अनिवार्य बात यह है कि सम्बद्ध व्यक्ति को अपना पक्षकथन प्रस्तुत करने का उचित अवसर दिया जाना चाहिए ।" **सम्राज्ञी** बनाम **गैंगिंग बोर्ड एक्स पार्टी बेनायाम**[2] के मामले में न्यायाधिपति डेनिंग ने यह अभिनिर्धारित

---

1 (1949) 1 ऑल इंगलैण्ड रिपोर्टस् 109.

2 (1970) 2 क्यू० बी० 417.

किया था कि यह मत कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त केवल न्यायिक कार्यवाहियों को ही लागू होते हैं, न कि प्रशासनिक कार्यवाहियों को **रिज बनाम बाल्डविन**[1] में उलट दिया गया है। गेंगिग बोर्ड को यह निदेश दिया गया था कि उन्हें अप्रवासियों की दशा में अधिकथित सिद्धान्तों का, अर्थात् इस बात का कि उन्हें देश में आने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है किन्तु सुने जाने का अधिकार प्राप्त है। अनुसरण करना चाहिए। न्यायालय ने 'बोर्ड केवल विनिर्दिष्ट मामले को ही ध्यान में रखेगा' शब्दों का अर्थान्वियन करते समय यह अभिनिर्धारित किया कि बोर्ड का यह कर्तव्य होता है कि वह निष्पक्ष रूप से कार्य करे और उसे आवेदक को उस धारा में विनिर्दिष्ट विषय की बाबत उनका समाधान कराने का अवसर देना होगा। उसके लिए यह जरूरी है कि वह आवेदक को यह ज्ञात करा दें कि उसकी धारणाएं क्या हैं जिससे कि वह उनकी भ्रान्ति को दूर कर सके। अप्रवासियों विषयक मामले के प्रति निर्देश करते समय **एच० के० (एक शिशु) के मामले**[2] में न्यायाधिपति पारकर के विनिश्चयों का उल्लेख किया गया था। अप्रवासियों के मामले में यद्यपि उन्हें देश में आने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है किन्तु यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उन्हें सुनवाई का अधिकार प्राप्त है। ये सम्प्रेषण इस मामले को भी लागू होते हैं और पिटीशनर का यह अभिवचन सुदृढ़ है कि प्राधिकारी को निष्पक्ष रूप से कार्य करना चाहिए और उन्हें पिटीशनर को अपनी धारणाओं के बारे में, यदि सम्भव हो तो, ज्ञात कराना चाहिए जिससे कि वह उनकी भ्रान्ति को दूर कर सके।

225. अमरीका की विधि में भी न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र विषयक विनिश्चय एकरूप नहीं हैं। जहां तक सांविधानिक अधिकारों का सम्बन्ध है, विधि की सम्यक् प्रक्रिया से प्रशासनिक या कार्यपालिका अधिकारियों की कार्रवाई का न्यायिक पुनर्विलोकन अभिप्रेत है। जहां तक विधि विषयक प्रश्नों का सम्बन्ध है, इस प्रस्थापना के बारे में कोई विवाद नहीं है किन्तु यह बात अत्यधिक संविवाद्य रही है कि न्यायालय को तथ्यों का अवधारण करते समय मामले का पुनर्विलोकन करते हुए किस हद तक आगे जाना चाहिए और किस हद तक जाएगा (कांस्टिट्यूशन ऑफ़ युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, पृष्ठ 52, 1973 संस्करण)।

---

1 (1964) ए० सी० 40.

2 (1967) 2 क्यू० बी० 617, 630

226. विभिन्न नज़ीरों पर विचार करने पर यह स्पष्ट है कि जहां किसी प्राधिकारी के विनिश्चय से सिविल परिणाम अवश्य निकलते हों और पिटीशनर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो वह उसे सुनवाई और अपना पक्षकथन करने का अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए । **बेरियम मिकलस लिमिटेड** बनाम **कम्पनी लॉ बोर्ड**[1] के मामले में और **रोहतास इण्डस्ट्रीज लिमिटेड** बनाम **एस० डी० अग्रवाल**[2] के मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि न्यायालय तर्कसंगत और युक्तियुक्त सम्बन्ध के प्रश्न पर आक्षेपित विनिश्चय की परिसीमित न्यायिक संवीक्षा कर सकता है । **वैस्टर्न यू० पी० इलैक्ट्रिक पॉवर एण्ड सप्लाई कम्पनी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य तथा एक अन्य**[3] के मामले में यह अधिकथित किया गया है कि व्यक्ति निष्ठ समाधान के आधार पर किसी प्राधिकारी द्वारा पारित किसी आदेश की एक परिसीमित हद तक न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है उस मामले में 1961 के उत्तर प्रदेश अधिनियम 30 द्वारा यथा संशोधित भारतीय विद्युत अधिनियम 1910 (1910 का 9) की धारा 3 (2) (ङ) के उपबन्धों का जिनमें प्रयुक्त भाषा पासपोर्ट अधिनियम की धारा 10 (3) (ग) की तरह ही है, अर्थान्वयन करते समय इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जब सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग इस आधार पर करती है कि वह जन साधारण के हित में ऐसा प्रदाय करना आवश्यक समझती है तो 'यदि आक्षेप किया जाए तो सरकार को यह दर्शाना होगा कि लोक हित में शक्ति का प्रयोग आवश्यक था । तद्द्वारा यह आशयित नहीं है कि सरकार के समाधान की बाबत न्यायालय अपील की सुनवाई करे । यदि कोई प्रथम दृष्टया साक्ष्य है जिस पर युक्तियुक्त व्यक्तियों का निकाय यह निर्धारित कर दे कि उपभोक्ताओं को ऊर्जा सीधे प्रदाय करना लोक हित में है तो कानून की अपेक्षाएं पूरी हो जाती हैं। ·······हमारे मतानुसार सरकार के इस समाधान का कि प्रदाय लोक हित में आवश्यक है समुचित मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन किया जाना अपवर्जित नहीं है ।' ऊपर उद्धृत विनिश्चय इस प्रतिपादना के लिए स्पष्ट नज़ीर हैं कि धारा 10 (3) (ग) के अधीन पारित आदेश की सीमित न्यायिक संवीक्षा की जा सकती

---

[1] (1966) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 311.

[2] (1969) 3 एस० सी० आर० 108 = (1969) 3 उम० नि० प० 462.

[3] (1969) 3 एस० सी० आर० 865 = (1970) 1 उम० नि० प० 595.

है। भले ही धारा 10 (3) (ग) के अधीन पारित आदेश को प्राधिकारी के व्यक्तिनिष्ठ समाधान के आधार पर पारित प्रशासनिक आदेश माना जाए तथापि वह न्यायिक संवीक्षा से बच नहीं सकता है। महा-न्यायवादी ने यह ठीक ही स्वीकार किया था कि धारा 10 (3) (ग) के अधीन किसी आदेश की न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है और न्यायालय इस बारे में अपना समाधान कराने की सीमित हद तक कि क्या पारित आदेश का जन साधारण के हितों से कोई तर्क संगत या युक्तियुक्त सम्बन्ध है, उस पर विचार कर सकते है।

227. इसके पश्चात् पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई थी कि अधिनियम की धारा 10 (5) के उपबन्धों का जो कि पासपोर्ट-प्राधिकारी या सरकार को पासपोर्ट के धारक को उस दिशा में आदेश करने के कारणों का संक्षिप्त कथन देने से इन्कार करने में समर्थ बनाते हैं जबकि किसी प्राधिकारी की राय यह हो कि ऐसा करना भारत की प्रभुता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा या किसी विदेश के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में या जन साधारण के हित में नहीं है, विधि की दृष्टि से समर्थन नहीं किया जा सकता। यह निवेदन किया गया था कि सरकार द्वारा किये गए आदेश की प्रति देने से इन्कार करने के अधिकार के साथ केन्द्रीय सरकार द्वारा किये गये आदेश के विरुद्ध अपील के अधिकार से भी वंचित किया गया है इसलिए इन उपबन्धों को प्रक्रिया का पूर्ण खण्डन और मनमाना माना जाना चाहिए। उस अर्थान्वियन की दृष्टि से जो कि धारा 10 (3) (ग) का किया गया है, अर्थात् इस दृष्टि से कि पासपोर्ट का धारक पासपोर्ट प्राधिकारी द्वारा पासपोर्ट को जब्त करना आवश्यक समझे जाने के पूर्व सुने जाने का हकदार है, यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रक्रिया का पूर्ण रूप से खण्डन किया गया है। धारा 10 (5) के अधीन प्राधिकारी आदेश करने के कारणों का संक्षिप्त कथन करने के लिए और मांग किये जाने पर पासपोर्ट या यात्रा दस्तावेज के धारक को उसकी एक प्रति देने के लिए तब के सिवाय आबद्ध है जब कि पासपोर्ट प्राधिकारी की यह राय हो कि ऐसी प्रति देना भारत की प्रभुता और अखण्डता, भारत की सुरक्षा, किसी विदेश के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के हित में या जन साधारण के हित में नहीं होगा। जिन आधारों पर प्राधिकारी कारण देने से इन्कार कर सकता है वे वैसे ही हैं जैसे कि धारा 10 (3) (ग) में पासपोर्ट जब्त करने के लिए दिए गए हैं, किन्तु

इन दोनों शक्तियों का प्रयोग पूर्णतः भिन्न-भिन्न संदर्भों में किया जाना है। धारा 10 (3) के अधीन किस प्रश्न पर विचार किया जाना है कि क्या पासपोर्ट को भारत की प्रभुता और अखण्डता आदि के हित में या जनसाधारण के हित में जब्त किया जाना है। धारा 10 (5) के अधीन आदेश पारित करते समय इस बात पर विचार किया जाना है कि क्या भारत की प्रभुता और अखण्डता आदि के हित में या जन साधारण के हित में आदेश के कारणों की प्रति देने से इन्कार किया जाना चाहिए। यद्यपि पासपोर्ट जब्त करने के लिए भी वे ही कारण उल्लिखित किये गये हैं जो कि आदेश करने के कारणों की प्रति देने से इन्कार करने के लिए हैं, तथापि इससे यह अभिप्रेत नहीं होगा कि जब धारा 10 (3) (ग) के अधीन आदेश पारित किया गया हो तब स्वतः ही वह धारा 10 (5) को लागू हो जाएगा और इसी कारण से प्राधिकारी आदेश के कारणों की प्रति देने से इन्कार कर सकता है। धारा 10 (5) में यह कथित किया गया है कि प्राधिकारी पासपोर्ट के धारक को मांग किये जाने पर एक प्रति तब के सिवाय देगा जबकि प्राधिकारी की यह राय हो कि आदेश के लिए कारण देना भारत को प्रभुता और अखण्डता आदि के हित में नहीं होगा। 'तब के सिवाय देगा जबकि' पद यह उपदर्शित करेगा कि प्रत्येक मामले में ही प्राधिकारी आदेश के कारण देने से इन्कार नहीं कर सकता है कुछ ऐसे मामले हो सकते हैं और मेरे विचार में बहुत कम मामलों में ही ऐसे आदेश का कारण अन्तर्विष्ट करने वाली प्रति देने से इनकार किया जा सकता है। यद्यपि कुछ ऐसे मामले हो सकते हैं जिनमें प्राधिकारी के लिए ऐसे आदेश करने के कारणों की एक प्रति देने से इन्कार करना समीचीन होगा। किन्तु यह एक अपवाद ही होगा जो कि इस तथ्य से उपदर्शित होता है कि व्यथित व्यक्ति को धारा 11 के अधीन अपील का अधिकार प्राप्त है जिसका विनिश्चय उसे अपने पक्ष का अभ्यावेदन करने का उचित अवसर देने के पश्चात ही किया जाएगा। मामूली तौर पर उचित अवसर उस व्यक्ति को आदेश के कारण प्रकट किये बिना नहीं दिया जा सकता है। ऐसे कुछ मामलों में जिनमें कि पासपोर्ट प्राधिकारी ने आदेश के कारणों की प्रति देने से इन्कार कर दिया हो और अपील की सुनवाई के दौरान भी वह पेश न की गई हो, न्यायालयों के लिए आदेश के कारणों को ध्यानपूर्वक देखना और इस बारे में अपना समाधान करना कि क्या वह उचित रूप से किया गया था पूर्णतः न्यायोचित

1978(1) eILR(PAT) SC 6

होगा । किन्तु मैं यह कहने में असमर्थ हूं कि जो उपबन्ध किसी प्राधिकारी को आदेश करने के कारण देने से इन्कार करने में सशक्त बनाता हो वह विधानमण्डल की सक्षमता के भीतर नहीं होगा । पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल ने यह निवेदन किया है जो कि कुछ हद तक न्यायोचित है कि यदि सरकार द्वारा कोई कारण नहीं दिये जाते हैं और सरकार के आदेश के विरुद्ध किसी अपील का उपबन्ध नहीं किया जाता है तो वह वस्तुतः भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन यथा अनुध्यात विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के खण्डन की कोटि में आएगा। यद्यपि इस निवेदन में भी बल है तथापि मैं दो कारणों से इस अभिवाक् को स्वीकार करने में असमर्थ हूं । प्रथमतः सरकार पासपोर्ट को अन्तिम रूप से प्रतिसंहृत करने या उसे ज़ब्त करने के पूर्व पासपोर्ट के धारक को अवसर देने के लिए आबद्ध है । मैं यह प्रत्याशा करता हूं कि ऐसे मामले बहुत कम होंगे जिन में प्राधिकारी आदेश करने के कारण देने से इन्कार करे । ऐसे मामलों में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि जब सरकार स्वयं ही कोई आदेश पारित करती है तब यह उपधारणा की जानी चाहिए कि उसने सावधानीपूर्वक की गई संवीक्षा के पश्चात् ही ऐसा आदेश किया होगा । यदि पासपोर्ट अधिकारी कोई आदेश पारित कर दे तो उसके विरुद्ध अपील का उपबन्ध किया गया है । यदि सरकार आदेश पारित कर दे तो यद्यपि किसी अपील का उपबन्ध नहीं किया गया है तथापि चूंकि यह शक्ति सर्वोच्च प्राधिकारी में निहित की गई है इसलिए यह धारा असांविधानिक नहीं है (**चिन्तालिंगम् और अन्य** बनाम **भारत सरकार और अन्य**[1] का मामला देखिए) क्योंकि उस आदेश की उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय द्वारा न्यायिक संवीक्षा की जा सकेगी । मेरे विचार में इन परिस्थितियों में यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई औचित्य नहीं है कि अधिनियम की धारा 10(5) विधानमण्डल की शक्तियों के बाहर है । हमने इस तथ्य को अवेक्षित किया है कि इस मामले में पिटीशनर को पासपोर्ट ज़ब्त करने के कारणों का कथन देने से इन्कार करने के लिए कोई कारण नहीं है किन्तु प्राधिकारी की यह भूल धारा 10(5) को विधानमण्डल की शक्तियों के बाहर नहीं कर देगी ।

'228. इसके आगे यह दलील दी गई थी कि इस मामले में अधिनियम की धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट इस आधार पर जब्त

---

[1] (1971) 2 एस० सी० आर० 871=[1971] 1 उम० नि० प० 413.

किया गया था कि--(क) यह लोक हित में है कि श्रीमती मेनका गांधी को जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने में समर्थ होना चाहिए, और (ख) श्रीमती मेनका गांधी को जांच आयोग के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर मिलना चाहिए और प्राप्त की गई एक रिपोर्ट के अनुसार इस बात की सम्भावना है कि श्रीमती मेनका गांधी भारत से बाहर चली जाएंगी। यह निवेदन किया गया था कि उपरोक्त आधार पर पासपोर्ट का जब्त किया जाना अन्यायोचित है। धारा 10(3) (ज) में यह उपवन्ध किया गया है कि यदि पासपोर्ट प्राधिकारी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया जाए कि पासपोर्ट या यात्रा दस्तावेज के धारक की हाज़िरी के लिए कोई वारन्ट या समन या उसकी गिरफ्तारी के लिए कोई वारन्ट या समन किस तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन किसी न्यायालय द्वारा जारी किया गया है या यदि पासपोर्ट या अन्य यात्रा दस्तावेज के धारक का भारत से प्रस्थान प्रतिषिद्ध करने का कोई आदेश ऐसे न्यायालय द्वारा किया गया हो और पासपोर्ट प्राधिकारी का समाधान हो गया हो कि वारन्ट या समन इस प्रकार जारी किया गया है या कोई आदेश इस प्रकार किया गया है तो वह पासपोर्ट जब्त कर सकेगा। इस खण्ड के लागू होने के लिए यह जरूरी है कि किसी न्यायालय द्वारा कोई वारन्ट या समन जारी किया गया हो या भारत से प्रस्थान प्रतिषिद्ध करते हुए किसी न्यायालय द्वारा कोई आदेश दिया गया हो। यह निवेदन किया गया था कि यह निश्चित नहीं है कि क्या आयोग को पिटीशनर की हाजिरी की आवश्यकता पड़ेगी भी या नहीं और यदि आवश्यकता पड़े भी तो उसकी हाज़िरी कब आवश्यक होगी। जांच आयोग से ऐसे कोई समन या ऐसी कोई अध्यपेक्षा नहीं है जिसमें पिटीशनर से हाज़िर होने की अपेक्षा की गई हो और इन परिस्थितियों में यह निवेदन किया गया था कि यह आदेश बिना किसी औचित्य के है। पासपोर्ट अधिनियम की धारा 22(क) के अधीन 14-4-76 को विदेश मंत्रालय द्वारा जारी की गई एक अधिसूचना के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट कराया गया था। उस अधिसूचना द्वारा केन्द्रीय सरकार ने भारत के उन नागरिकों को जिनके बिरुद्ध उनके द्वारा किये गये अभिकथित किसी अपराध की बाबत कोई कार्यवाही भारत के किसी दाण्डिक न्यायालय के समक्ष लम्बित हो, यदि वे सम्बद्ध न्यायालय से उन्हें भारत छोड़ने के लिए अनुज्ञात करते हुए किये गये आदेश पेश कर दें तो, अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (2) के खण्ड (च) के

1978(1) eILR

उपबन्धों के प्रर्वतन से इस शर्त के अधीन रहते हुए छूट प्रदान करना लोक हित में आवश्यक समझा था कि पासपोर्ट ऐसे नागरिक को केवल उस न्यायालय के आदेश में विनिर्दिष्ट कालावधि के लिए ही जारी किया जाएगा और यदि कोई कालावधि विनिर्दिष्ट नहीं की गई है तो पासपोर्ट 6 मास की कालावधि के लिए जारी किया जाएगा और यदि न्यायालय का आदेश रद्द या उपान्तरित नहीं हो जाता है तो 6 मास की और कालावधि के लिए नवीकृत किया जा सकेगा। नागरिक से पासपोर्ट प्राधिकारी को यह परिवचन देने की अपेक्षा भी की गई है कि यदि सम्बन्धित न्यायालय ऐसी अपेक्षा करे तो वह उसके समक्ष इस प्रकार जारी किये गये पासपोर्ट के प्रवृत्त बने रहने के दौरान किसी भी समय उसके समक्ष हाजिर हो जाएगा। यह निवेदन किया गया था कि जब किसी ऐसे व्यक्ति को भी यह सुविधा दी गई है जिसका किसी दाण्डिक न्यायालय में किसी अपराध के लिए विचारण किया जा रहा हो तब कम से कम ऐसे व्यक्ति को तो यह सुविधा अवश्य ही दी जानी चाहिए जिससे जांच आयोग के समक्ष साक्ष्य देने की अपेक्षा की जा सकती है। मेरे लिए इस प्रश्न पर विचार करना अनावश्यक है कि क्या इन परिस्थितियों में पासपोर्ट का ज़ब्त किया जाना न्यायोचित है या नहीं क्योंकि विद्वान् महान्यायवादी ने यह निवेदन किया है कि पासपोर्ट पिटीशनर को देश से बाहर जाने से रोकने के प्रयोजन से जब्त किया गया था और इस बारे में अंतिम विनिश्चय बाद में लिया जाएगा कि क्या उस पासपोर्ट को जब्त किया जाना है और यदि किया जाना है तो कितनी कालावधि के लिए। सरकार की ओर से एक कथन फाइल किया गया था जो कि इस प्रकार है:—

"1. सरकार पिटीशनर द्वारा उसके पासपोर्ट के ज़ब्त किये जाने की बाबत किये गये किसी अभ्यावेदन पर विचार करने और उस विषय में उसे सुनवाई का अवसर देने के लिए सहमत है। अवसर अभ्यावेदन की प्राप्ति से दो सप्ताह के भीतर दिया जाएगा। यह स्पष्ट किया जाता है कि इस मामले में पासपोर्ट ज़ब्त करने के आधार वे ही हैं जो कि प्रत्युत्तर में श्री घोष के तारीख 18 अगस्त, 1977 वाले शपथ पत्र में उल्लिखित हैं, सिवाय उनके जो कि पैरा 2(xi) में उल्लिखित हैं।

2. पिटीशनर के अभ्यावेदन पर विधि के अनुसार शीघ्रता से कार्यवाही की जाएगी।

3. पासपोर्ट ज़ब्त करने के विनिश्चय की पुष्टि कर दिये जाने की दशा में यह स्पष्ट किया जाता है कि ज़ब्ती की अवधि उस विनिश्चय की तारीख से जो कि पिटीशनर के अभ्यावेदन पर किया जाए 6 मास की कालावधि से अधिक नहीं होगी।

4. पिटीशनर के अभ्यावेदन पर विचार करने और उस पर भारत सरकार का विनिश्चय होने तक पिटीशनर का पासपोर्ट इस माननीय न्यायालय की अभिरक्षा में रहेगा।

5. यह बात भारत सरकार की ऐसी कोई कार्रवाई करने की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगी। जिसकी पिटीशनर के पासपोर्ट की बाबत पासपोर्ट अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार सलाह दी जाए।"

इस कथन की दृष्टि से कि पिटीशनर पासपोर्ट के ज़ब्त किये जाने की बाबत अभ्यावेदन कर सकती है और उस अभ्यावेदन पर शीघ्रता से कार्यवाही की जाएगी और यदि पासपोर्ट के ज़ब्त किये जाने की पुष्टि कर दी जाती है तो भी उसकी अवधि उस विनिश्चय की तारीख से 6 मास की कालावधि से अधिक की नहीं होगी जो कि पिटीशनर के अभ्यावेदन पर किया जाए, मेरे लिए इस मामले के गुणागुण के आधार पर और अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है। महान्यायवादी ने हमें यह आश्वासन दिया है कि हमारे समक्ष पिटीशनर द्वारा दिए गए सब आधारों पर और उन आधारों पर जो कि प्राधिकारी के समक्ष दिए जाएं प्राधिकारी उचित रूप से विचार करेगा और समुचित आदेश पारित किये जाएंगे।

229. परिणामस्वरूप मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि पिटीशनर संविधान के अनुच्छेद 19 में प्रगणित मूल अधिकारों में से किसी की हकदार नहीं है और पासपोर्ट अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 21 की अपेक्षाओं को पूरा कर देता है और विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार है। मैं धारा 10(3)(ग) का इस रूप में अर्थान्वयन करता हूं कि उसमें पासपोर्ट के धारक को पासपोर्ट प्राधिकारी के समक्ष सुनवाई का अधिकार दिया गया है और धारा 10(3) के अधीन पारित किसी भी आदेश की उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय द्वारा परिसीमित न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है।

1978(1) eILR(PAT) SC 6

230. विद्वान् महान्यायवादी द्वारा किए गए कथन की दृष्टि से, जिसके प्रति निर्णय में पहले ही निर्देश किया जा चुका है, मैं आक्षेपकृत आदेश में औपचारिक रूप से हस्तक्षेप करना आवश्यक नहीं समझता हूं। तदनुसार मैं कोई औपचारिक आदेश दिये बिना इस रिट पिटीशन का निपटारा करता हूं। खर्चों की बाबत कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

आदेश

231. बहुमत को ध्यान में रखते हुए और विद्वान् महान्यायवादी द्वारा किए गए इस कथन की दृष्टि से जिसके प्रति निर्णय में पहले ही निर्देश किया जा चुका है, हमारा यह विचार है कि हमें आक्षेपित आदेश में औपचारिक रूप से हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। तदनुसार हम कोई औपचारिक आदेश पारित किए बिना रिट पिटीशन का निपटारा करते हैं। आगे आदेश होने तक पासपोर्ट इस न्यायालय के रजिस्ट्रार की अभिरक्षा में रहेगा। खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

ज०/